"[illegible]नास्वादमथमानसद्वयोः ।
[illegible]नानुगयोर्नार्गं नमामि शिवयोर्यथा ॥"

तत्त्वों में होनी चाहिए। रीतिनिरूपण के प्रसंग में कुन्तक ने यह स्पष्ट बतलाया है कि औचित्य नामक गुण की उपस्थिति काव्य के प्रत्येक मार्ग (रीति) के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। औचित्य का समावेश उन्होंने काव्य के सामान्य गुणों के भीतर कराकर प्रत्येक प्रकार की काव्यात्मक अभिव्यक्ति में इसकी उपस्थिति आवश्यक ही नहीं अनिवार्य बतलाई है। कुन्तक के अलंकार-निरूपण के समय यह बात कही जा चुकी है कि वे किस प्रकार अलंकारों के प्रयोग में औचित्य का योग चाहते हैं। कुन्तक के काव्य सम्बन्धी सामान्य गुणों के विवेचन के समय यह बताया जा चुका है कि वे किस प्रकार काव्य में वर्णनीय के धर्म का अतिशय कथन चाहते हैं, उसके अधर्म का नहीं। यदि वे काव्य में औचित्य की रक्षा न चाहते तो वर्णनीय के धर्म पर इतना अधिक आग्रह न करते और वे काव्य में विच्छित्ति के सर्जनार्थ वर्णनीय-अवर्णनीय—सभी के धर्म-अधर्म दोनों का अतिशय कथन करवाते। कुन्तक का काव्य-प्रयोजन—नवीनौचित्य की प्राप्ति भी यही सिद्ध करता है कि उनकी वक्रोक्ति का औचित्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। कुन्तक भी आनन्दवर्धन के समान ही सर्वत्र औचित्य का मानदण्ड ग्रहण करते हैं। रीतिसम्प्रदाय के विवेचन के अन्तर्गत यह बताया जा चुका है कि रीति और गुण से वक्रोक्ति का सम्बन्ध किस प्रकार है, अतः उसे दुहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

कुन्तक की वक्रोक्ति का विस्तार जानने के लिए उसके भेदों का ज्ञान भी आवश्यक है। जैसे ध्वनि के भेदों की कोई परिमित संख्या निश्चित नहीं की जा सकती तद्वत् वक्रोक्ति की भी। तथापि आचार्य कुन्तक ने काव्य-वक्रता के स्वरूप-बोध में सुगमता लाने के लिए वक्रोक्ति के मुख्य छः भेद माने हैं:—(१) वर्णविन्यास वक्रता (२) पद पूर्वार्ध वक्रता (३) पद परार्ध वक्रता (४) वाक्य वक्रता (५) प्रकरण वक्रता (६) प्रबन्ध वक्रता। वक्रोक्ति के इन भेदों से विदित होता है कि वक्रोक्तिजीवितकार की वक्रोक्ति का विस्तार वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक है और उनके भीतर काव्य की भाषा, प्रकृतिवर्णन, चरित्रचित्रण, कथा-संविधान, ऐतिहासिक

दो शब्द

भारतीय साहित्य के समीक्षा-सिद्धान्तों का व्यवस्थित विवेचन कुछ ही समय पूर्व आरंभ हुआ है। अब तक विवेचकों ने परंपरा-प्राप्त पद्धति को ही अपना कर विविध सम्प्रदायों का विवरण दिया था। उनके सामने उन सिद्धान्तों के ऐतिहासिक क्रमविकास का कोई सुस्पष्ट स्वरूप नहीं था और न वे किसी सिद्धान्त-विशेष के विशिष्ट दृष्टिकोण को विकास की पृष्ठभूमि पर उपस्थित कर पाए थे। पाश्चात्य विद्वानों ने इस क्षेत्र में अंशतः नया कार्य अवश्य किया परन्तु वे भारतीय परंपरा और इतिहास से पूरी तरह परिचित न थे। साथ ही उनके साथ आत्मवैशिष्ट्य की एक कृत्रिम भावना भी बँधी हुई थी। अतएव वे भी भारतीय समीक्षा के साथ न्याय न कर सके। इधर कुछ समय से पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र संबंधी वैज्ञानिक विवेचनों और अनुशीलन की नवीनतम पद्धतियों का अध्ययन और अभ्यास आरंभ हुआ है। साथ ही हमारे रचनात्मक साहित्य में भी जो नई व्यापकता और स्फूर्ति दिखाई दे रही है उसने भी हमारी समीक्षा-दृष्टि को बहुत कुछ विस्तार और गहराई दी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अब हम अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि की क्रमागत परिभाषाओं और उनके विविध भेदों से ही संतोष न कर, उनके वास्तवित स्वरूप और उनकी काव्यगत प्रयोजनीयता की भी मीमांसा करने लगे हैं। दूसरे शब्दों में हम साहित्य-सिद्धान्तों के मौलिक रूपों, भेदों और संबंधों को पहचानने की स्थिति में आ गए हैं और हमारा विवेचन अब साहित्य-समीक्षा की वैज्ञानिक कोटि में आने लगा है। अब भी हमने अपने सैद्धान्तिक विवेचन को कतिपय ऐसे मूलवर्ती आधारों पर रख कर देखना और परखना आरंभ नहीं किया है जैसे, सृजन-प्रक्रिया, कल्पना-व्यापार, सौन्दर्य, आह्लाद, मूल्य आदि। परन्तु इन स्पष्ट और मूलभूत इकाइयों पर पहुँचने और समस्त साहित्य-विवेचन को इन पृथक् पृथक् पहलुओं पर सँजोकर स्थापित करने में अभी कुछ समय लगेगा।

दीर्घ समासवाली संघटना अनुचित होगी, क्योंकि वह सब प्रकार के मनुष्यों के लिए लिखा या खेला जाता है। सर्व साधारण को सामासिक संघटना बोधगम्य नहीं हो सकती।

प्रबन्धौचित्य—आनन्द की प्रबन्ध ध्वनि ही क्षेमेन्द्र में प्रबन्धौचित्य का रूप धारण कर लेती है।

प्रबन्धौचित्य के कुछ नियामक तत्त्व नीचे दिए जाते हैं—

(१) प्रबन्धकाव्य में प्रख्यात और कल्पित वृत्त के अनुपात में औचित्य रहना चाहिए।

(२) वर्ण्य वस्तु को प्रस्तुत रस के विपरीत नहीं होना चाहिए।

(३) काव्य के मुख्य ध्येय या रस में बाधक प्रख्यात घटनाओं को परिवर्तित कर देना चाहिए।

(४) प्रासंगिक या गौण घटनाओं का विस्तार उतनी ही मात्रा में हो जितनी मात्रा में रहने से काव्य के अङ्गीभूत रस की पुष्टि होती हो।

५—किसी प्रकार के वर्णन विषयान्तरित न होने पावें; मुख्य विषय से दूर न हटने पावें।

६—अङ्ग (गौण) घटना कभी अङ्गी (आधिकारिक) घटना का स्थान न ग्रहण करे।

७—अङ्ग (प्रासंगिक) घटना का विस्तार से वर्णन न हो।

८—प्रबन्धकाव्य में वे ही घटनाएँ आएँ जो रसाभिव्यक्ति के लिए आवश्यक हों।

९—प्रधान पात्र (नायक या नायिका) पर से कवि की दृष्टि कभी न हटे। सदा रसोपकारक वस्तु का ही वर्णन हो।

११—प्रकृति व्यत्यय न हो। अर्थात् नाटक या महाकाव्य में वर्णित घटना, नायक के स्वभाव, देश, काल आदि के अनुकूल हो तात्पर्य यह कि उसमें लोक-प्रकृति की यथार्थता की रक्षा हो। इसी प्रकार वस्तु वर्णन तथा पात्रों के शील-निरूपण में भी लोक-प्रकृति की यथार्थता की रक्षा होनी चाहिए। इसी को प्रकृत्यौचित्य कहते हैं।

"परस्परसमास्वादप्रथमानसत्त्वयोः ।
कविताबुधयोर्युग्मं नमामि शिवयोर्यथा ॥"

प्रकाशक—इंडियन प्रेस, (पब्लिकेशंस) लिमिटेड, प्रयाग ।
मुद्रक—अमलकुमार वसु, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, बनारस शाखा ।

पल्लव (औचित्य) की सत्ता ही कहाँ संभव है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि रसोत्पत्ति की आवश्यकतानुसार उचित शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार, वस्तु, पात्र, वर्णन, प्रबन्ध आदि काव्य के विभिन्न तत्त्वों की व्यवस्था करना ही औचित्य है। जिस प्रकार काव्य में रस का सम्बन्ध काव्य के अन्य अंगों, तत्त्वों, तथा उपादानों से है उसी प्रकार औचित्य का भी सम्बन्ध काव्य के उन सभी अंगों, तत्त्वों एवं उपादानों से है। औचित्य का काम काव्य के सम्बन्धों की उचित व्यवस्था करना है। औचित्य द्वारा काव्य के विभिन्न सम्बन्धों की व्यवस्था होने से काव्य के प्राणतत्त्व रस में जीवन (स्थायित्व) आ जाता है, आस्वादन में चारुता आ जाती है; प्रयोजन-रूप में अन्तश्चमत्कार की सिद्धि होती है, काव्य में राष्ट्रीयता, युगतत्त्व, संस्कृतितत्त्व, मानवता आदि की रक्षा हो जाती है; काव्य का आदर्श बहुत ही भव्य एवं उदात्त हो जाता है। आनन्दवर्द्धन के शब्दों में रस का रहस्य औचित्ययुक्त काव्य-बन्ध का निर्माण करना है। आचार्य क्षेमेन्द्र की दृष्टि से औचित्य का रहस्य काव्य के सब प्रकार के तत्त्वों में औचित्य की रक्षा करना है। क्षेमेन्द्र के औचित्य का, रस तथा साहित्य के अन्य अंगों से कैसा सम्बन्ध है वह उनकी निम्नाङ्कित कारिकाओं से भलीभाँति स्पष्ट हो रहा है :—

औचितस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥
काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलङ्कृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।

काव्यगत चमत्कार तथा चारुता एवं औचित्य में कार्य-कार सम्बन्ध है। औचित्य कारण है, तो चमत्कार तथा चारुता कार

दो शब्द

भारतीय साहित्य के (समीक्षा-सिद्धान्तों का व्यवस्थित विवेचन कुछ ही समय पूर्व आरंभ हुआ है। अब तक विवेचकों ने परंपरा-प्राप्त पद्धति को ही अपना कर विविध सम्प्रदायों का विवरण दिया था। उनके सामने उन सिद्धान्तों के ऐतिहासिक क्रमविकास का कोई सुस्पष्ट स्वरूप नहीं था और न वे किसी सिद्धान्त-विशेष के विशिष्ट दृष्टिकोण को विकास की पृष्ठभूमि पर उपस्थित कर पाए थे। पाश्चात्य विद्वानों ने इस क्षेत्र में अंशतः नया कार्य अवश्य किया परन्तु वे भारतीय परंपरा और इतिहास से पूरी तरह परिचित न थे। साथ ही उनके साथ आत्मवैशिष्ट्य की एक कृत्रिम भावना भी बँधी हुई थी। अतएव वे भी भारतीय समीक्षा के साथ न्याय न कर सके। इधर कुछ समय से पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र संबंधी वैज्ञानिक विवेचनों और अनुशीलन की नवीनतम पद्धतियों का अध्ययन और अभ्यास आरंभ हुआ है। साथ ही हमारे रचनात्मक साहित्य में भी जो नई व्यापकता और स्फूर्ति दिखाई दे रही है उसने भी हमारी समीक्षा-दृष्टि को बहुत कुछ विस्तार और गहराई दी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अब हम अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि की क्रमागत परिभाषाओं और उनके विविध भेदों से ही संतोष न कर, उनके वास्तवित स्वरूप और उनकी काव्यगत प्रयोजनीयता की भी मीमांसा करने लगे हैं। दूसरे शब्दों में हम साहित्य-सिद्धान्तों के मौलिक रूपों, भेदों और संबंधों को पहचानने की स्थिति में आ गए हैं और हमारा विवेचन अब साहित्य-समीक्षा की वैज्ञानिक कोटि में आने लगा है। अब भी हमने अपने सैद्धान्तिक विवेचन को कतिपय ऐसे मूलवर्ती आधारों पर रख कर देखना और परखना आरंभ नहीं किया है जैसे, सृजन-प्रक्रिया, कल्पना-व्यापार, सौन्दर्य, आह्लाद, मूल्य आदि। परन्तु इन स्पष्ट और मूलभूत इकाइयों पर पहुँचने और समस्त साहित्य-विवेचन को इन पृथक् पृथक् पहलुओं पर सँजोकर स्थापित करने में अभी कुछ समय लगेगा।

भरत की दृष्टि में नाटक की सहकारी वस्तुओं तथा आंगिक, वाचिक एवं आहार्य अभिनयों को सात्विक अभिनय अर्थात् रसोत्पत्ति में सहायक होना चाहिए। यही रस नाटक का मुख्यतम तत्व है। इनकी दृष्टि में सामाजिक पर भावात्मक प्रभाव डालना कविता या साहित्य का अन्तिम ध्येय है। कोई भी कविता या साहित्यिक कृति भावात्मक प्रभाव के बिना अपनी वास्तविक सत्ता से च्युत हो जाती है। भरत का प्रसिद्ध सूत्र रस-प्रक्रिया को संक्षेप में उपस्थित करता है। भरत की रस-प्रक्रिया में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संश्लेषण की प्रक्रिया निहित है। इसी संश्लेषण से रस उत्पन्न होता है। किन्तु इस संश्लेषण-प्रक्रिया का कोई स्पष्ट विवेचन भरत मुनि के सूत्र में नहीं मिलता। यद्यपि भरत मुनि के समय तक भारतवर्ष में आधुनिक मनोविज्ञान का आविष्कार नहीं हुआ था फिर भी उन्होंने अपने अन्तर्निरीक्षण द्वारा रस-प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक आधार तथा स्वरूप एवं कारण सूत्र रूप में उपस्थित किया है। भरत निरूपित रस-सूत्र एवं सिद्धान्त ही आगे चल कर रस-सम्प्रदाय के आचार्यों के विश्लेषण का मुख्य आधार बना। विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस की मानसिक स्थिति क्यों उत्पन्न होती है इसका कोई स्पष्ट विवेचन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। विभाव, अनुभव तथा संचारी कैसे रस उत्पन्न करते हैं? इसका अस्पष्ट उत्तर संयोग एवं निष्पत्ति शब्द से मिलता है। सूत्रगत इसी अस्पष्टता के कारण रस के परवर्ती आचार्यों द्वारा इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई।

भामह अलंकारमत के प्रतिनिधि आचार्य हैं। इनकी दृष्टि से काव्य में सबसे अधिक आवश्यकता तथा महत्ता अलंकार की है। इनके अलंकारों का मूल आधार वक्रोक्ति है। काव्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों बहुत आवश्यक हैं। काव्य में अलंकार को सर्वाधिक प्रधानता देने पर भी इन्होंने अपने विवेचन में रस की सर्वथा उपेक्षा नहीं की है। महाकाव्य के लक्षणों का उल्लेख करते समय उन्होंने इसमें सब रसों का रहना आवश्यक बतलाया है। भामह ने प्रेयस्, रसवत्,

सागर विश्वविद्यालय के हमारे सहकारी अध्यापक श्री रामलाल सिंह का प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में किया गया नया प्रयास है। समीक्षा-दर्शन के प्रथम भाग में इन्होंने अपनी समीक्षा दृष्टि का विवेचन प्रारम्भिक अध्यायों में करके उसी की कसौटी पर अलंकार, रीति तथा ध्वनि सम्प्रदायों को परखने का प्रयत्न किया है। इस द्वितीय भाग में उन्होंने वक्रोक्ति, औचित्य तथा रस सम्प्रदायों का आलोचनात्मक विवेचन तथा मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया है। लेखक की दोनों पुस्तकों में भारतीय साहित्य के समीक्षा-सिद्धान्तों का व्यवस्थित विवेचन ऐतिहासिक क्रम विकास के साथ दिखाई पड़ता है। द्वितीय भाग का उपसंहार बहुत ही व्यवस्थित तथा सारगर्भित कोटि का है। उनके इस परिशीलन से भारतीय समीक्षा के अनेक तथ्यों पर नवीन प्रकाश पड़त है तथा साथ ही लेखक के परम्परामुक्त समन्वित दृष्टिकोण की सूचना भी मिलती है। भारतीय साहित्य शास्त्र के नव निर्माण-कार्य में इस पुस्तक द्वारा जो उल्लेखनीय सहायता मिलती है वह स्वागतयोग्य है। आशा है हिन्दी-संसार द्वारा इसका समादर किया जायगा।

सागर
२५-१२-५३
क्रिसमस दिवस

नन्ददुलारे वाजपेयी
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग,
सागर विश्वविद्यालय

औचित्य पूर्ण स्थिति से ही संभव है[१]। अब कुछ विशिष्ट स्थायीभावों तथा संचारियों को उदाहरण रूप में लेकर उपर्युक्त तथ्यों को सिद्ध करना चाहिए। संसार के छोटे बड़े, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, वैयक्तिक, सामाजिक—सभी कार्यों के सम्पादन में जो तत्परतापूर्ण उमङ्गयुक्त आनन्द देखा जाता है वह उत्साह का ही व्यापक रूप है।

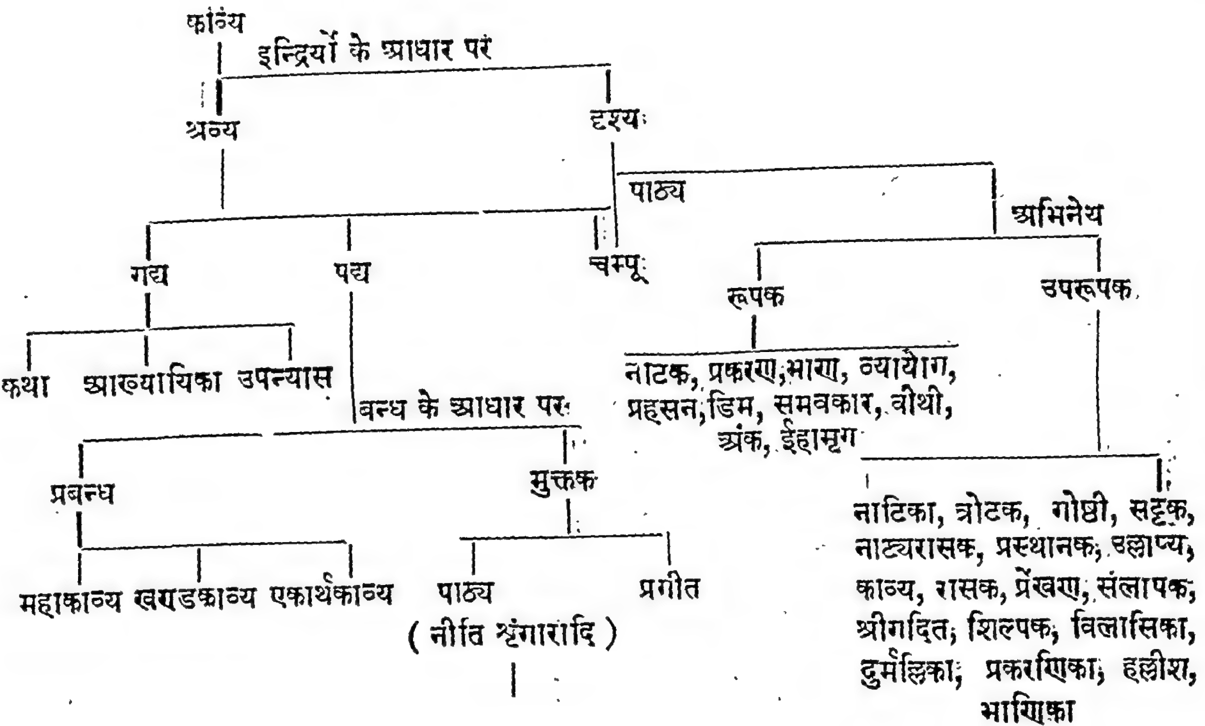
उत्साह रहित मनुष्य किसी काम की खाना पूर्ति भर कर सकता है वह किसी काम में रुचि नहीं ले सकता; किसी से मिलने जुलने में भी दिलचस्पी नहीं दिखा सकता, थोड़ा परिश्रम करके बहुत अधिक फल लेना चाहता है। ऐसा ही मनुष्य घूसखोरी, भद्दी चापलूसी, काले बाजारी (Black marketing) आदि भद्दी आदतों में फँसता है। कर्म-भावना प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह माना जाता है। कर्म-भावना प्रधान वाले उत्साही का ध्यान आदि से अन्त तक पूर्ण कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता तक फैला रहता है। उत्साही मनुष्य किसी सामाजिक या राजनीतिक विषमता के कारण यदि कभी अन्तिम फल न प्राप्तकर सके तो भी उसकी दशा कर्म न करने वाले उत्साह-रहित मनुष्यों की अपेक्षा अच्छी होगी। उत्साह पूर्वक काम में लगे रहने के कारण उसका उतना जीवन संतोष तथा आनन्द से बीतेगा।

भक्ति को अन्तश्चेतनावादी समीक्षक समाज से दूर हटाने वाला भाव मानते हैं; किन्तु यह उनका भ्रम है। भक्ति से भक्त अपने आराध्य के महत्त्व की ओर अग्रसर होता है। सभी धर्मों में ईश्वर, धर्म के परम-भावों का प्रतीक माना गया है। इन परम-भावों की अभिव्यक्ति समाज के सम्पर्क में आने पर होती है। संसार से दूर किसी निर्जन स्थान में नहीं। प्रेम, करुणा, क्षमा, दम, उत्साह आदि की अभिव्यक्ति

१—आचार्य शुक्ल (चिन्तामणि)

प्राक्कथन

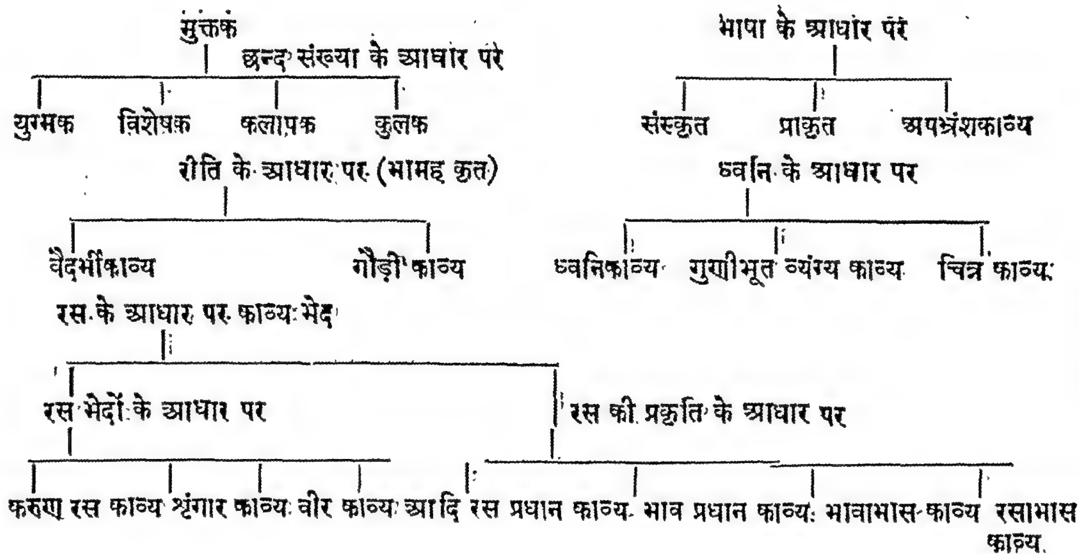
समीक्षा-दर्शन, द्वितीय भागमें वक्रोक्ति सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय तथा रस सम्प्रदाय का ऐतिहासिक विकास, आलोचनात्मक विवेचन, तुलनात्मक अध्ययन एवं मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक अध्याय में सम्प्रदाय विशेष के साहित्य-सिद्धान्तों के मौलिक रूपों, भेदों एवं सम्बन्धों का समीक्षात्मक विश्लेषण उपस्थित किया गया है तथा साथ ही प्रत्येक सम्प्रदाय की मौलिक देन एवं तत्सम्बन्धी आचार्यों की नवीन उद्भावनाओं पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में संस्कृत साहित्य में प्राप्त व्यावहारिक समीक्षा तथा उपसंहार रूप में भारतीय समीक्षा के विकास एवं सामान्य धारणा तथा उसके मूल्याङ्कन पर विचार किया गया है। समीक्षा दर्शन के प्रथम भाग के प्रारंभ में निरूपित अपनी समीक्षा दृष्टि के आधार पर मैंने भारतीय समीक्षा के प्रत्येक सम्प्रदाय को परखने का प्रयत्न किया है। मैंने अपनी समीक्षा दृष्टि साहित्य के मूलवर्ती सिद्धान्तों, मूल्यों, प्रयोजनों एवं व्यापारों के आधार पर बनाने की चेष्टा की है, किसी परम्परागत पद्धति या पूर्वग्रह के आधार पर नहीं। निष्कर्ष रूप में आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के लिए मैंने प्राचीन रसवादी समीक्षा के व्यवस्थित, परिमार्जित एवं विशद रूप को उपयोगी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। समुच्चय रूप में भारतीय समीक्षा से प्राप्त सिद्धान्तों से पुनर्निर्मित भारतीय समीक्षा को मैंने एक स्वस्थ एवं साहित्यिक समीक्षा बतलाने की चेष्टा की है। हो सकता है कि समीक्षा के अन्य आचार्य इससे सहमत न हों। किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में स्वतंत्र विचार रखने का प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। इसी अधिकार का प्रयोग कर मैंने यह सोचने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक देश की संस्कृति, सभ्यता एवं दर्शन के मूल तत्त्व उस देश की जलवायु, प्राकृतिक दशा उपज आदि भौतिक परिस्थितियों के अनुसार निर्मित होते हैं और इन सबका संकलित प्रभाव वहाँ के साहित्यिकों एवं समीक्षकों पर पड़ता है। इस प्रकार किसी देश के साहित्य


काव्य
इन्द्रियों के आधार पर
श्रव्य
दृश्य
पाठ्य
अभिनेय
गद्य
पद्य
चम्पू
रूपक
उपरूपक
कथा
आख्यायिका
उपन्यास
नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग,
प्रहसन, डिम, समवकार, वीथी,
अंक, ईहामृग
बन्ध के आधार पर
प्रबन्ध
मुक्तक
नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक,
नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य,
काव्य, रासक, प्रेंखण, संलापक,
श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका,
दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश,
भाणिका
महाकाव्य
खण्डकाव्य
एकार्थकाव्य
पाठ्य
प्रगीत
(नीति शृंगारादि)

की समीक्षा-दृष्टि मूलतः उस देश के बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार की विशेषताओं से उत्पन्न होती है। विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों से उत्पन्न देश को बाह्य तथा आभ्यन्तर परिवर्तन तथा विश्व जीवन से स्थापित सम्बन्ध एवं तज्जनित प्रभावों से उत्पन्न जीवनगत विशेषताओं के रहते हुए भी हमारी समीक्षा दृष्टि आमूल रूप से परिवर्तित नहीं हो सकती। किन्तु मेरे कहने का यह भी तात्पर्य नहीं कि उसमें देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन ही न हों। मेरा तात्पर्य इतना ही है कि समीक्षा का अन्तिम साध्य साहित्य नहीं, जीवन है; उसकी प्रगति, विकास, स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य के लिए हमें समीक्षा-दृष्टि बनानी है। रसवादी समीक्षा में मुझे ऐसे तत्त्व, मूल्य एवं सिद्धान्त दिखाई पड़े कि जिनके आधार पर आधुनिक जीवन तथा साहित्य की प्रगति के पथ-प्रदर्शन के लिए नवीन समीक्षा-दर्शन तैयार किया जा सकता है। इसीलिए मैंने उसके परिमार्जन एवं पुनरुत्थान का समर्थन किया है, किसी पूर्व ग्रह से ग्रहीत होने के कारण नहीं।

समीक्षा-दर्शन की रचना का प्रयत्न मैंने एक प्रकार का ज्ञान-यज्ञ समझकर किया है। किसी भी यज्ञ सम्बन्धी कार्य में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं। अतः मेरे भी कार्य में अनेक प्रकार की वैयक्तिक, पारिवारिक, व्यावसायिक कठिनाइयाँ एवं समस्यायें आईं। अनेक अवसरों पर निराशा, चिन्ता एवं अवसाद के बादल उमड़े। उनकी गर्जन-तर्जन ने अनेक बार मुझे निश्चेष्ट करने का भी प्रयत्न किया। इसी कारण इस द्वितीय भाग को प्रकाशित होने में आशा से भी अधिक विलम्ब हुआ। इसके लिए मैं अपने उत्सुक पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ। इस पुस्तक के विषय में दो शब्द लिखकर गुरुदेव वाजपेयी जी ने जो मेरा उत्साह बढ़ाया है उसके लिए मैं उनको धन्यवाद देना उचित न समझकर अपने मौन से ही उनके प्रति सच्ची कृतज्ञता का अनुभव करता हूँ।

समीक्षा-दर्शन, द्वितीय भाग का प्रूफ संशोधन हमारे प्रिय बन्धु प्रोफेसर विजयशंकर मल्लजी ने करके पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित कराने में जो परिश्रम किया है उसके लिए सच्चे हृदय से मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ। इसके


मुक्तक
छन्द संख्या के आधार पर
युग्मक
विशेषक
कलापक
कुलक
भाषा के आधार पर
संस्कृत
प्राकृत
अपभ्रंशकाव्य
रीति के आधार पर (भामह कृत)
वैदर्भीकाव्य
गौड़ी काव्य
ध्वनि के आधार पर
ध्वनिकाव्य
गुणीभूत व्यंग्य काव्य
चित्र काव्य
रस के आधार पर काव्य भेद
रस भेदों के आधार पर
करुण रस काव्य
शृंगार काव्य
वीर काव्य
आदि
रस की प्रकृति के आधार पर
रस प्रधान काव्य
भाव प्रधान काव्य
भावाभास काव्य
रसाभास काव्य

अतिरिक्त जिन जिन ग्रन्थकारों तथा विद्वानों से प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार की जो सहायता मिली है उसके लिए उनके प्रति सच्चे हृदय से कृतज्ञता प्रगट करता हूँ। अन्त में इस पुस्तक में मुझसे जो भूलें हो गई हैं उनकी क्षमायाचना करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

सागर, विश्वविद्यालय
हिन्दी, विभाग
मकरसंक्रान्ति २०१०
१४-१-१९५४

रामलाल सिंह

विषय-सूची

यद्यपि वक्रोक्ति सम्प्रदाय के एक मात्र आचार्य कुन्तक ही हैं किन्तु वक्रोक्ति-तत्त्व का आनुषंगिक उल्लेख प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में कई आचार्यों तथा कवियों ने किया है। अतएव वक्रोक्ति-सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति-तत्त्व पर विचार करते समय उनके मत को जान लेना अप्रासंगिक न होगा। संस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति का स्पष्ट रूप में सर्वप्रथम उल्लेख इस समय आचार्य भामह के काव्यालंकार में ही मिलता है किन्तु वक्रोक्ति की उत्पत्ति तथा उसका प्रयोग भामह के पहले ही हो चुका था, कदाचित उसका लक्षण तथा स्वरूप-निर्धारण भी किसी न किसी रूप में पहले ही किया जा चुका था। इसीलिए भामह ने इसके लक्षण-कथन की आवश्यकता नहीं समझी और उसे एक विशिष्ट अर्थ में ग्रहण कर लिया। भामह की दृष्टि में अतिशयोक्ति[१] और वक्रोक्ति पर्यायवाची हैं। अर्थात् इनके मत में भी वक्रोक्ति में अतिशयता का रहना अनिवार्य है। भामह की वक्रोक्ति सर्वालंकाररूपा है। यह सभी अलंकारों के मूल में बसती है[२]। इसी से अर्थ विभावन योग्य बनता है[३] अर्थात् वक्रोक्ति ही काव्यत्व का सम्पादन करती है। यही सर्वालंकाररूपा वक्रोक्ति काव्य में समस्त सौन्दर्य की विधातृ है। इस प्रकार भामह भी एक प्रकार से वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। भामह की स्वभावोक्ति में वक्रोक्ति के लिए स्थान है। कवि की कल्पना का प्रयोग स्वभावोक्ति के वर्ण्य में वक्रोक्ति का समावेश कर देता है। भामह अतिशयोक्ति

१. भामह की अतिशयोक्ति, अतिशयोक्ति अलंकार से भिन्न है। यह अतिशयोक्ति सभी अलंकारों के मूल में रहती है जिससे कथन का ढंग तथा वर्ण्य का धर्म अतिरंजित या अलौकिक हो जाता है।

२. यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना। (भामह)

३. सैषा (अतिशयोक्ति) सर्वत्र वक्रोक्तिऽनयाऽर्थो विभाव्यते। (वही)

और वक्रोक्ति को एक मानते हैं[1]। उनकी अतिशयोक्ति का लक्षण है—निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्। अतः उनकी वक्रोक्ति में भी 'लोकातिक्रान्तगोचरम्‌वचनं' का रहना अनिवार्य है। इस प्रकार लोकोत्तरता भामह के वक्रोक्ति की मुख्य विशेषता है। भामह की वक्रोक्ति सम्बन्धी उपर्युक्त सभी धारणाओं को आचार्य कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिवाद की स्थापना के लिए अपनाया। भामह के पश्चात् बाण तथा अमरु कवि ने वक्रोक्ति का प्रयोग परिहासजल्पित अथवा क्रीड़ालाप के अर्थ में किया[2], किन्तु इस अर्थ का कोई प्रभाव कुन्तक पर नहीं पड़ा। कुन्तक ने जो वक्रोक्ति-धारणा भामह से अपनाई उसकी पुष्टि उन्हें अलंकारवादी दण्डी की वक्रोक्ति धारणा से भी मिली। दण्डी भी अपने काव्यादर्श में सालंकार वचन को वक्रोक्ति मानते हैं। यद्यपि वे अपने शास्त्रीय ग्रन्थ में सम्पूर्ण वाङ्मय को स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति दो भागों में बाँटते हुए दिखाई पड़ते हैं[3]। किन्तु वहाँ पर भी उनकी स्वाभावोक्ति आद्य अलंकार के रूप में ही वर्णित है। इनकी दृष्टि में अलंकार की कल्पना स्वभावोक्ति से आरंभ होती है। इनकी स्वभावोक्ति में वस्तु-स्वरूपों का स्वाभाविक संश्लिष्ट चित्र कवि की कल्पना द्वारा उपस्थित किया जाता है। वर्ण्य में कवि-कल्पना द्वारा लाई हुई स्वाभाविक संश्लिष्टता ही चमत्कार उत्पन्न कर देती है। आगे चलकर यह

---

१. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना। (भामह)

२. (क) एषापि बुध्यत एवैतावतीवक्रोक्तिः, इयमपि जानात्येव परिहास जल्पितानि। अभूमिरेषाभुजङ्गभङ्गिभाषितानाम्। (बाण)
(ख) सा पत्युः प्रथमेपराधसख्योपदेशं विना नो। जानाति सविभ्रमाङ्गवलना वक्रोक्ति संसूचनम्। (अमरुक शतक)

३. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
द्विधा भिन्नं स्वभावोक्ति वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।

बात कुन्तक के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट की जायगी कि किस प्रकार उन्होंने भामह तथा दण्डी की प्रेरणा एवं प्रभाव से स्वभावोक्ति में वक्रोक्ति-तत्त्व का दर्शन किया और अपनी वक्रोक्ति का क्षेत्र वर्ण्य तक भी विस्तृत कर दिया। दण्डी समग्र अर्थालंकारों का ही नहीं वरन् रसवत् अलंकार का भी समावेश वक्रोक्ति के भीतर मानते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हुई कि वक्रोक्ति के भीतर रस-तत्त्व को समाहित करने का विचार भी कुन्तक को भामह, दण्डी आदि आलंकारिकों से ही प्राप्त हुआ। दण्डी[१] की दृष्टि में काव्य की शोभा करने वाले सभी धर्म अलंकार हैं अर्थात् काव्य की सम्पूर्ण शोभा अलंकार के आश्रित है। दण्डी के प्रायः सभी अलंकार वक्रोक्ति के भीतर आ जाते हैं। अतः दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि दण्डी के अनुसार भी काव्य की सम्पूर्ण शोभा वक्रोक्ति के आश्रित है। इधर आचार्य कुन्तक भी काव्य की समग्र शोभा को वक्रोक्ति-जन्य मानते हैं। इससे यह विदित होता है कि सम्पूर्ण काव्य-व्यापी वक्रोक्ति के प्रभाव, महत्त्व एवं चमत्कार को कुन्तक ने अलंकार-वाद से ही ग्रहण किया। दण्डी के मतानुसार काव्य के तत्त्व—रीति, गुण, रस आदि का चमत्कार ही नहीं वरन् संधि, संध्यंग, वृत्ति, वृत्त्यंग, लक्षण आदि का चमत्कार भी अलंकार के अन्तर्गत अर्थात् दूसरे शब्दों में वक्रोक्ति के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार दण्डी ने अलंकार या वक्रोक्ति की व्याप्ति बहुत अधिक बढ़ा दी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कुन्तक को काव्य के समस्त स्वरूपों तथा तत्त्वों को स्पर्श करने वाली वक्रोक्ति की व्याप्ति की प्रेरणा दण्डी से ही मिली।

कुन्तक की वक्रोक्ति-परिभाषा—

---

१. काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलंकरान् प्रचक्षते। दण्डी

२. यच्च सन्ध्यङ्ग—वृत्त्यङ्ग लक्षणाद्यगमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टं अलंकारतयैव नः। (वही)

३. उभौ एतौ अलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते।

दण्डी-रचित अवन्तिसुन्दरीकथा की उक्ति—'विदग्धभणितिभङ्गिनिषेधं वस्तुनोरूपं न नियतस्वभावमिति' पर आधारित जान पड़ती है। भवभूति ने मालतीमाधव में वैदग्ध या वक्रोक्ति का प्रयोग श्लिष्ट पदावली के लिए किया है। किन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति का प्रयोग उससे बहुत व्यापक है। अतः वे भवभूति की वक्रोक्ति से प्रभावित नहीं माने जा सकते। वामन वक्रोक्ति को एक विशिष्ट अर्थालंकार के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं जो सादृश्य के आधार पर खड़ा होता है[1]। निश्चय ही, वामन की वक्रोक्ति-धारणा बहुत ही संकीर्ण है और वह आलंकारिकों की प्राचीन परम्परा के मेल में नहीं है। निस्संदेह इसका कोई प्रभाव कुन्तक के ऊपर नहीं पड़ा। रुद्रट वक्रोक्ति का प्रयोग शब्दालंकार के रूप में करते हैं और इसके दो भेद मानते हैं :—काकु वक्रोक्ति तथा श्लेष वक्रोक्ति। कहने की आवश्यकता नहीं कि रुद्रट की इस वक्रोक्ति-धारणा का प्रभाव उनके कतिपय परवर्ती आचार्यों—जैसे, मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र, साहित्यदर्पणकार आदि पर पड़ा[2]। किन्तु कुन्तक पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। अन्यथा वे वक्रोक्ति की व्याप्ति को इतना विस्तृत रूप देने में समर्थ न होते। आनन्दवर्धन काव्य में वक्रोक्ति का समर्थन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इनकी दृष्टि में ध्वनि काव्य की आत्मा है। ध्वनि से काव्य के कला एवं भाव दोनों पक्षों में वक्रता आ जाती है। इनकी सम्मति में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति में काव्य-सौन्दर्य का विशद रूप समाया हुआ है। वे सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति की भित्ति पर स्थित मानते हैं। कवि की प्रतिभा से उत्पन्न हुई अतिशयोक्ति अलंकारों में अत्यधिक सौन्दर्य की वृद्धि कर देती है। अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति से हीन अलंकार केवल अलंकारमात्र रहते हैं।

---

१. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। (वामन)

२. आधुनिक शास्त्रीय ग्रन्थों में भी प्रायः वक्रोक्ति का यही स्वरूप देखने में आता है। सभी आलंकारिक वक्रोक्ति का समावेश शब्दालंकार के भीतर करते हुए इसके दो भेद निरूपित करते हैं—काकुवक्रोक्ति तथा श्लेष वक्रोक्ति।

उनसे काव्य की शोभा नहीं बढ़ती। अर्थात् वक्रोक्ति के बिना भी अलंकारों की सृष्टि हो सकती है पर वे काव्यत्व की सृष्टि नहीं कर सकते। काव्यत्व की सृष्टि में सहायक अलंकारों का वक्रोक्ति से समवाय सम्बन्ध है। इसीलिए वे अतिशयोक्ति को सर्वालंकाररूपा मानते हैं। आनन्द के मत में अतिशयोक्ति काव्य में दो प्रकार से संयुक्त होती है—वाच्य रूप में तथा व्यंग्य रूप में। व्यंग्य रूप के भी पुनः दो भेद दिखाई पड़ते हैं। प्रधान रूप तथा गौण रूप। काव्य में अतिशयोक्ति के वाच्य-रूप में संयुक्त होने पर सभी प्रकार के अर्थालंकारों का जन्म होता है। प्रधान रूप से व्यंग्य रूप में संयुक्त होने पर ध्वनियों की सृष्टि होती है तथा गौण रूप से व्यंग्य रूप में संयुक्त होने पर गुणीभूत व्यंग्यकाव्य की सृष्टि होती है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के काव्य का मूलाधार वक्रोक्ति में दिखाई पड़ता है। ध्वनिकार ने अपने मत को प्रामाणिक बनाने के लिए भामह की प्रसिद्ध उक्ति—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः, को उद्धृत भी किया है। अन्त में वे कवियों को काव्य में उत्कर्षता की सृष्टि के लिए औचित्यपूर्ण अतिशयोक्ति के प्रयोग का आदेश भी देते हैं। कुन्तक आनन्दवर्धन की वक्रोक्ति सम्बन्धी उपर्युक्त कई धारणाओं से प्रभावित हुए; उनमें से कुछ निम्नाङ्कित हैं :—

(१) काव्यात्मक वक्रोक्ति प्रतिभा से उत्पन्न होती है।

(२) काव्य का मूलाधार काव्यात्मक वक्रोक्ति में निहित है।

(३) वक्रोक्ति में काव्यसौन्दर्य का विशद-व्यापार समाया है।

(४) वक्रोक्ति सर्वालंकाररूपा है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कुन्तक को वक्रोक्ति का यह स्वरूप अलंकारवादियों से मिल चुका था। आनन्दवर्धन की इस धारणा से उन्हें अपने मत की पुष्टि के लिए और अधिक बल मिला।

इसके अतिरिक्त कुन्तक ने वक्रोक्ति के कई भेदों का निरूपण आनन्दवर्धन के कई ध्वनि-भेदों के आधार पर किया है। जैसे, अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि के आधार पर उपचार वक्रता, अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि के आधार पर रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता, शब्दशक्तिमूलअनुरणन

रूपव्यंगभूत पदध्वनि के आधार पर पर्याय वक्रता, वस्तुध्वनि के आधार पर वस्तु वक्रता, प्रबन्धध्वनि के आधार पर प्रबन्ध वक्रता, ध्वनि-प्रभेद साधनों के आधार पर पद परार्धवक्रता, पद पूर्वार्धवक्रता आदि का निरूपण किया गया है। कुन्तक ने अपने सहृदय की कल्पना भी आनन्दवर्धन की सहृदय सम्बन्धी धारणा से बहुत अंशों में ली। वक्रोक्तिजीवितकार ने वक्रोक्ति को समग्र कवि-व्यापार जन्य वस्तु कहने की धारणा को कदाचित् आनंदवर्धन की उस धारणा से लिया जहाँ उन्होंने ध्वनि को कवि के समग्र कार्य-व्यापार से उद्भूत वस्तु कहा था। आनन्दवर्धन के पश्चात् अभिनव गुप्त ने भी वक्रोक्ति-तत्त्व की विशद व्याख्या की है। इन्होंने भी अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को सर्वालंकाररूपा कहा है। इनकी दृष्टि में वक्रोक्ति का अर्थ शब्द और अर्थ दोनों की लोकोत्तर स्थिति है। इसीलिए ये वक्रोक्ति के दो मुख्य भेद मानते हैं—शब्द वक्रता तथा अर्थ वक्रता। इनकी दृष्टि में अतिशयोक्ति का प्रयोजन बहुत ही उदात्त कोटि का है। यही अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति पूर्व परिचित शब्दों तथा अर्थों में नूतनता, रमणीयता एवं विचित्रता भर देती है। प्रमदा तथा उद्यान जैसी वस्तुएँ रसमय होकर सहृदय पाठकों के आस्वादन योग्य हो जाती हैं।[1] लोचनकार भी अपने मत की पुष्टि के लिए भामह को उद्धृत कर उनके वक्रोक्ति मत की व्याख्या करते हुए दिखाई पड़ते हैं। लोचनकार का समय कुन्तक के पहले आता है।

---

१. शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम् इत्ययमेवासौ अलंकारस्यालंकारान्तर भावः। लोकोत्तरेण चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्तिः सर्वालंकार सामान्यम्। तथाहि अनया अतिशयोक्त्या अर्थः सकलजनोपभोग पुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते तथा प्रमदोद्यानादि विभावतांनीयते, विशेषेण भाव्यते, रसमयी क्रियते।

(लोचन)

और अपने युग के वे सबसे प्रसिद्ध आचार्य थे। अतः कुन्तक पर उनकी वक्रोक्ति धारणा का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य ही पड़ा होगा। कदाचित् वक्रोक्ति का उदात्त प्रयोजन उन्होंने जोनकार की वक्रोक्तिधारणा से ही ग्रहण किया।

कुन्तक के समकालीन भोजराज भी वक्रोक्ति के उपासक थे। ये दोनों आचार्य समकालीन होते हुए भी एक दूसरे से अपरिचित थे। अतः दोनों में से किसी एक का किसी दूसरे पर प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी काव्य में वक्रोक्ति तत्त्व की स्पष्टता तथा उसके ऐतिहासिक विकास से अभिज्ञ होने के लिए उनके मत को जानना अप्रासंगिक न होगा। भोजराज काव्य में सीधे सादे कथन या वर्ण्य के इतिवृत्तात्मक स्वरूप के पक्षपाती नहीं हैं। ये वक्रताहीन उक्ति को वचन या वार्ता कहकर उसे लोकव्यवहार या शास्त्र की वस्तु मानते हैं। इनकी दृष्टि से काव्य की उक्ति में वक्रता तथा वस्तु-चित्रण में अतिशयता आवश्यक है। भोज की सम्मति में लौकिक उक्ति या वार्ता में जो तात्पर्य इतिवृत्तात्मक ढंग से उपस्थित रहता है वही काव्य में व्यंजनात्मक ढंग से ध्वनि-रूप में उपस्थित होकर उसे वक्र रूप प्रदान करता है। इनका काव्य-लक्षण भी वक्रोक्ति के आधार पर निर्मित हुआ है। स्पष्टता के लिए उनके काव्य लक्षण पर ध्यान दीजिए—

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः।
शृंगार प्रकाश

कुन्तक तथा भोजराज की वक्रोक्ति में कई बातों में समानता होते हुए भी उनमें एक ऐसा महान् अन्तर दिखाई पड़ता है जो काव्य में भोजराज की वक्रोक्ति-धारणा तथा उसके स्थान को कुन्तक से बहुत अलग कर देता है। भोजराज अपने सरस्वतीकंठाभरण में वाङ्मय को

तीन भागों में बाँटते हैं—वक्रोक्ति, रसोक्ति, तथा स्वभावोक्ति।[1] इनकी दृष्टि में रसोक्ति ही सभी सहृदयों के मन को रमाने में समर्थ होती है। इस प्रकार भोज की वक्रोक्ति का स्थान काव्य में गौण हो जाता है एवं रसोक्ति का प्रमुख। कुन्तक भोज की स्वभावोक्ति को काव्य में स्थान ही नहीं देते तथा वक्रोक्ति एवं रसोक्ति में कोई अन्तर नहीं मानते क्योंकि इनकी वक्रोक्ति सदैव रस से संपृक्त रहती है। इसके पश्चात् साहित्य-मीमांसाकार रुय्यक बारहवीं शताब्दी में वक्रत्व की सत्ता वर्ण, वाक्य, पदार्थ, प्रकरण, प्रबन्ध, ध्वनि आदि में मानते हुए दिखाई पड़ते हैं। किन्तु एक स्थान पर वे वक्रोक्ति को अलंकारसामान्य का बोधक मानते हुए भी उसे एक अलंकारविशेष का सूचक भी समझते हैं और वक्रोक्ति का समावेश अर्थालंकार के भीतर कर देते हैं। इस प्रकार रुय्यक भी कुन्तक के अनुगामी सिद्ध नहीं किये जा सकते। वक्रोक्ति के उपर्युक्त इतिहास को यहाँ उपस्थित करने का मेरा प्रयोजन यही दिखाना था कि वक्रोक्ति शब्द का अर्थ समय समय पर बदलता रहा है; भिन्न भिन्न आचार्यों ने इसकी भिन्न भिन्न धारणा निर्मित की है। कुन्तक के पश्चात् उनका कोई अनुयायी संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में नहीं मिलता। वक्रोक्ति सम्प्रदाय वस्तुतः अलंकार सम्प्रदाय की एक शाखा के रूप में उत्पन्न हुआ था। कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त का स्वरूप विभिन्न आचार्यों की काव्य-धारणाओं के भिन्न भिन्न तत्त्वों को लेकर निर्मित किया था, इसीलिए वक्रोक्तिजीवितकार के युग में अथवा उसके पश्चात् भी किसी आचार्य ने इसके सिद्धान्तों का अनुगमन नहीं किया।

---

१. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्तिं प्रतिजानते॥

स्पष्टता के लिए इन तीनों का लक्षण भोजराज के अनुसार देखिए—

तत्र उपमाद्यलंकारप्राधान्ये वक्रोक्तिः। सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति त्रिविधं वाङ्मयम्॥

शृंगार प्रकाश

वक्रोक्ति का स्वरूप

कुन्तक के वक्रोक्ति-स्वरूप को समझने के लिए सर्वप्रथम उनकी वक्रोक्ति-परिभाषा पर विचार करना आवश्यक है। उन्होंने अपने वक्रोक्ति का सामान्य लक्षण निम्नांकित ढंग से किया है:—

उभौ एतौ अलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।

उक्त श्लोक में 'उभौ' शब्द का अर्थ शब्द और अर्थ से है जो काव्य के अलंकार्य हैं। इन दोनों को अलंकृत करनेवाली वस्तु वक्रोक्ति है अर्थात् वक्रोक्ति ही सर्वालंकाररूपा है। यह वक्रोक्ति कवि-कर्म-कुशलता से उत्पन्न होनेवाले चमत्कार पर आश्रित एक कथनप्रकार है। वक्रोक्ति-जीवितकार उसी कथन-प्रकार को वक्रोक्ति मानते हैं जो कवि की पूरी व्यापार-प्रक्रिया से उत्पन्न हो। इसीलिए एक स्थान पर वे कवि-व्यापार तथा उससे उत्पन्न वक्रोक्ति को पर्यायवाची कहते हैं। कवि-व्यापार में कवि का पूरा व्यक्तित्व कार्य करता है, इसलिए कुंतक कवि-व्यापार अथवा वक्रता का संबंध कवि-व्यक्तित्व के सभी तत्त्वों से स्थापित करते हैं। भारतीय साहित्य में कवि-व्यक्तित्व के सभी तत्त्वशक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के भीतर समाहित किए गए हैं। कुंतक ने कवि-व्यक्तित्व के इन तीनों तत्त्वों को उसके स्वभाव के अनुसार ही माना है। इनके 'स्वभाव' का स्वरूप बड़ा व्यापक है। क्योंकि इसी के अनुसार कवि की प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास अपना रूप धारण करने में समर्थ होते हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि कुन्तक प्रतिभा को नितान्त रूपेण जन्मजात या ईश्वरदत्त नहीं मानते, इसे बहुत कुछ अर्जित भी मानते हैं। यह बात उनकी प्रतिभा की निम्नांकित परिभाषा से भी स्पष्ट होती है :—

प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।

अर्थात् प्रतिभा एक विशिष्ट कवि-शक्ति है जो पूर्वजन्म के तथा इस जन्म

के संस्कार (व्युत्पत्ति और अभ्यास) से प्रौढ़ होती है। 'आद्यतन-संस्कार' में उन्होंने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को गिना दिया है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि कुंतक की प्रतिभा-संबंधी धारणा आधुनिकयुग की प्रतिभा-धारणा के बहुत निकट है क्योंकि इनकी प्रतिभा के भीतर कल्पना, भावुकता, अन्तर्दृष्टि आदि शक्तियाँ भी आ जाती हैं। ये ही शक्तियाँ आद्यतन संस्कार (व्युत्पत्ति तथा अभ्यास) से परिपक्व होकर उसकी प्रतिभा को सदा अम्लान रखती हैं जिससे कवि-व्यापार में सदा नूतन शब्द तथा नूतन अर्थ की सृष्टि होती रहती है। कुन्तक की वक्रोक्ति में विच्छित्ति का प्रतिपादन नूतन शब्द तथा नूतन अर्थ दोनों करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इनकी वक्रोक्ति शब्द तथा अर्थ दोनों में बसती है। अतः यह उभयरूपिणी है। यही उभयरूपिणी वक्रता उनके काव्य का प्राणतत्त्व है। अन्य सहकारी उपादान उसके अवयव हैं।

कुंतक के वक्रोक्ति-स्वरूप को ठीक प्रकार से समझने के लिए उनकी वक्रोक्ति-व्याख्या पर भी ध्यान देना आवश्यक है।—

१ शास्त्रादि प्रसिद्धशब्दार्थोपनिबंधव्यतिरेकि—।
२ प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि—।
३ अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि—।
४ लोकोत्तरचमत्कारकारि—।

कुन्तक अपनी वक्रोक्ति को शास्त्र या लोक-व्यवहार में प्रचलित शब्दार्थ की रचना से भिन्न वस्तु मानते हैं। शास्त्र अपने प्रयोजन या विवेचन के लिए, संसार अपने व्यवहार को चलाने के लिए शब्द के सामान्य अर्थ अर्थात् अभिधेय अर्थ को लेकर इतिवृत्तात्मक ढंग से उनका प्रयोग करता है। इस इतिवृत्तात्मक शब्द-रचना का अभिप्राय किसी विषय की सूचना देना या ज्ञान कराना होता है। इस पद्धति से ज्ञानप्रधान वाङ्मय (Literature of Knowledge) की रचना होती है। काव्य, शक्तिप्रधान वाङ्मय (Literature

of Power) है। इसको शक्तिप्रधान बनाने का श्रेय वक्रोक्ति को ही है। यह वक्रोक्ति ही कवि के शब्दों में नवीन व्यक्तित्व भरती है, जिससे वे अभिधेय अर्थ से अलग एक नूतन अर्थ देने में समर्थ होते हैं। इसी के कारण कवि नवीन अभिव्यक्ति-प्रणालियों की सर्जना में सफल होता है, अपने काव्य को नवीन संदेश से ओत प्रोत करने में समर्थ होता है तथा काव्य के विविध तत्त्वों में रमणीयता, नवीनता एवं चमत्कार भरने में समर्थ होता है। कुन्तक की वक्रोक्ति का स्वभाव अलौकिक तथा परिणाम आह्लाददायक होता है। यहाँ अलौकिक आह्लाद का अर्थ है साधारणीकरण से उत्पन्न पाठक के हृदय का विस्फार। इसीलिए वे बार बार कहते हैं कि मेरी वक्रोक्ति की सबसे बड़ी कसौटी सहृदयों के भीतर अलौकिक आह्लाद उत्पन्न करना है। वह वक्रोक्ति जो बेसिर-पैर की बातें करेगी, अलंकार का जाल या कौशल दिखाएगी, उद्दण्ड कथन करेगी, जो केवल सहृदयों को किसी बात या तथ्य की सूचना मात्र देगी या उनके ज्ञान का संवर्द्धनमात्र करेगी, जो कोरे वाग्वैदग्ध्य के कारण मनोरंजनमात्र करेगी अथवा जो अनुभूति-प्रेरित नहीं होगी या जो मार्मिक भावुकता से उत्पन्न नहीं होगी वह कुन्तक के अनुसार काव्य के भीतर स्थान नहीं पा सकती।

आचार्य कुंतक की वक्रोक्ति को ठीक प्रकार से समझने के लिए उनकी काव्य-परिभाषा भी सहायक सिद्ध हो सकती है। अतः उस पर भी विचार करना आवश्यक है। कुंतक ने काव्य की परिभाषा निम्नांकित प्रकार से की है :—

शब्दार्थौ सहितौवक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धेव्यवस्थितौ काव्यम् तदविदाल्हादकारिणि।

कवि के वक्र व्यापार से सुशोभित, सहृदयों को आह्लाद देनेवाले, तथा बन्ध में रखे गए शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं। कुंतक काव्यत्व, शब्द और अर्थ दोनों में मानते हैं, केवल एक में नहीं; क्योंकि उनकी वक्रोक्ति दोनों में बसती है। केवल शब्द की वक्रता या रचना-वैचित्र्य से वक्रोक्ति की सिद्धि नहीं होती। काव्यत्व-संपादन के लिए उसमें

वर्णनीय के धर्म का अतिशय कथन भी होना चाहिए, अधर्म का नहीं। अर्थात् कुंतक की वक्रोक्ति दोनों में वसती है। वह कवि के पूरे व्यापार से उद्भूत होती है। तभी वह सहृदयों को आह्लाददायक सिद्ध होती है। वह केवल कलाजन्य, बुद्धिजन्य या अभ्यासजन्य नहीं होती; क्योंकि इस अवस्था में वह सहृदयों को आह्लाददायक सिद्ध नहीं हो सकती। इसीलिए कुंतक केवल कला उत्पन्न करनेवाले कवि को प्रतिभा-दरिद्री मानते हैं एवं शब्द-चमत्कार से हीन, अलंकारों से विरहित केवल इतिवृत्त रूप में वस्तु रखने वाले कवि को अपराधी। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि कुंतक वक्रोक्ति को ही काव्य की संज्ञा देते हैं। किन्तु वह सदैव उभयरूपिणी होती है। जिस प्रकार तेल प्रत्येक तिल में रहता है, केवल एक या कुछ में नहीं; तद्वत काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों में वसता है, किसी एक में नहीं।[१] कुंतक के वक्रोक्ति-स्वरूप के निर्धारण में कवि-व्यापार का सबसे अधिक स्थान है, क्योंकि इनकी वक्रोक्ति अपना स्वरूप किसी अन्य व्यापार से धारण करने पर काव्यत्त्व-संपादन में असमर्थ होगी।

कुंतक की वक्रोक्ति कवि-व्यापार से उत्पन्न होती है। इनका कवि-व्यापार प्रतिभा से उत्पन्न होता है। प्रतिभा के भीतर अनुभूति, भावुकता, अंतर्दृष्टि आदि शक्तियों का समावेश होता है और कवि-शक्ति जिससे कवि-व्यापार उत्पन्न होता है वह परिपक्व या प्रौढ़ प्रतिभा की उपज है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि कुंतक की वक्रोक्ति के भीतर आए हुए सभी अलंकार, भावना-तीव्रता के परिणाम-स्वरूप प्रगट होते हैं या अनुभूति की मार्मिकता से उत्पन्न होते हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट हो गई कि कुंतक की वक्रोक्ति या उनके अन्य अलंकार प्रयत्न-प्रसूत नहीं

---

१ तेनयत् केषाञ्चितमतं कविकौशल कल्पितकमनीयाऽतिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति। केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारिकाव्यमिति। पक्षद्वय-मपि निरस्तं भवति। तस्मात् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्। (कुन्तक)

होते, वे स्वाभाविक भावोन्मेष के परिणाम-स्वरूप काव्य में प्रयुक्त होते हैं। वक्रोक्ति परिभाषा में हम पहले देख चुके हैं कि शब्द और अर्थ काव्य-शरीर हैं, वक्रोक्ति ही उनको अलंकृत करती है। कुन्तक का वक्रोक्ति-व्यापार काव्य के शब्द और अर्थ दोनों तत्वों को एक समन्विति के रूप में उपस्थित करता है। तभी तो वे अपनी काव्य-परिभाषा में "शब्दार्थौ सहितौ बन्धे व्यवस्थितौ" कहते हैं। अर्थात् वक्रोक्ति-व्यापार शब्द और अर्थ दोनों को एक सूत्र में आबद्ध करके संश्लिष्ट रूप दे देता है। इस प्रकार आचार्य कुंतक काव्याभिव्यक्ति को एक पूर्ण अन्विति के रूप में देखते हैं, उसके टुकड़ों को काटकर उन्हें अलग अलग रूप में नहीं देखते। बस उनका सबसे बड़ा दोष यही है कि वे अपने काव्य-परीक्षण का प्रयत्न बाहर से ही अधिक करते हैं। कुंतक का सामान्य काव्य-लक्षण भी उनके वक्रोक्ति-स्वरूप को समझाने में सहायक होता है। अतः उस पर भी ध्यान देना आवश्यक है :—

यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते ।
वर्णनीयस्य धर्मस्य तद्विदाह्लाददायिनाम् ॥

अर्थात् काव्य में वर्णन करने योग्य विषय के धर्म का अतिशय-कथन चारुत्व अथवा चमत्कार का संपादन करता है। वर्णनीय शब्द से व्यक्त होता है कि कुंतक सभी वस्तुओं या विषयों को काव्य-वर्ण्य के योग्य नहीं समझते। अर्थात् वे असामान्य या वक्र विषयों को काव्य-वर्ण्य के योग्य मानते हैं, जो अपनी महानता, उदात्तता, विराटता के कारण कवि की अनुभूति को जगा सकें या उसे भावना से भर सकें। दूसरी बात जो इस काव्य-लक्षण में ध्यान देने योग्य है वह 'धर्मस्य' शब्द से व्यक्त होती है। कुंतक काव्य में वर्णनीय के धर्म का अतिशय कथन चाहते हैं, अधर्म का नहीं। इससे एक दूसरा काव्य-तत्त्व यह निकला कि वे काव्य में औचित्य की रक्षा भी चाहते हैं, तभी तो वे वर्णनीय के धर्म का अतिशय कथन करवाना चाहते हैं, और वह भी किस लिए? विच्छित्ति के प्रतिपादन के लिए, अर्थात् चमत्कार की सृष्टि के लिए। यदि उनके वक्रोक्ति के अन्तर्गत प्रतिष्ठित वर्णनीय का धर्म अतिशय

रूप में चित्रित नहीं रहेगा तो वह विच्छित्ति अर्थात् चमत्कार का प्रतिपादन नहीं कर सकती और यदि वह चमत्कार की सृष्टि नहीं करेगी तो वह सहृदयों को आह्लादित नहीं कर सकती। कुंतक की विच्छित्ति का अर्थ यहाँ निश्चय ही ऐसा चमत्कार है जो हृदय को विस्फारित करता है अन्यथा वह सहृदयों को आह्लादित न करती। अर्थात् कुन्तक की वक्रोक्ति अपनी कला से सहृदयों को विस्मित करनेवाली या चकित करनेवाली नहीं होती, वरन् उनके हृदयों को विस्तृत तथा आह्लादित करनेवाली होती है।

कुंतक ने एक स्थान पर काव्य का विशिष्ट लक्षण निम्नांकित रूप से किया है; वह भी उनके वक्रोक्ति-स्वरूप के समझने में सहायक सिद्ध होता है, अतः उस पर भी विचार करना आवश्यक है:—

वाच्यवाचक वक्रोक्तित्रितयातिशयोक्तिसुन्दरम्।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम्॥

कुंतक की सम्मति में काव्य में शब्द, अर्थ और अलंकार का अतिशय होना चाहिए। उस अतिशय का रूप ऐसा होना चाहिये जो सहृदयों को आह्लादित कर सके। कुंतक की वक्रोक्ति में शब्द-चयन सामान्य जीवन से भी होता है, किन्तु कवि अपनी प्रतिभा से उनमें नवीन जीवन भर देता है। अभिनव अर्थ से संपृक्त होकर वे नव व्यक्तित्व से चमक उठते हैं। शब्द नव व्यक्तित्व से तभी भरेंगे जब उनका प्रयोग अभिधेय रूप में न होकर लाक्षणिक या व्यंजक रूप में होगा। शब्दों की अतिशयोक्ति का अर्थ ही है उनका अलौकिक प्रयोग। किन्तु यह अलौकिक प्रयोग बुद्धि-प्रयास से उत्पन्न न होकर भावात्मकता से या अनुभूति की तीव्रता से उत्पन्न हो। क्योंकि यदि कविता में प्रयुक्त शब्द का वैदग्ध्य केवल बुद्धि-विलास दिखायेगा तो वह सहृदयों को सुन्दर प्रतीत न होगा, उन्हें थोड़ी देर के लिए विस्मित या चकित भले ही कर दे। इससे निष्कर्ष यह निकला कि कुंतक की वक्रोक्ति लौकिक जीवन की सामान्य अभिव्यञ्जना से भिन्न कोटि की होती है अर्थात् लोकोत्तर

कोटि की होती है। कविता का दूसरा विशिष्ट लक्षण है वाच्य का अतिशयोक्ति तथा सुंदर रूप में प्रयुक्त होना। वाच्य में अतिशयोक्ति तभी आयेगी जब कवि अपनी कल्पना से उसमें नया रूप भरेगा, किसी वस्तु का अतिरंजित रूप चित्रित करने में समर्थ होगा या किसी पदार्थ के उस मार्मिकतम अंश को प्रकट करने में अपनी कलात्मकता दिखायेगा; और यह तभी संभव होगा जब कवि अपने वर्ण्य विषय का साक्षात्कार अलौकिक या असामान्य रूप में करेगा। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि कवि का वर्ण्य-साक्षात्कार या वस्तु-दर्शन सामान्य लोगों से भिन्न कोटि का होता है। इसी कारण सामान्य-जन किसी वस्तु को आंशिक रूप में या इतिवृत्तात्मक रूप में देखते हैं, कवि उससे आगे बढ़ कर उसको संभाव्य सुंदर रूप में देखता है। वास्तविकता के साथ संभाव्य सौन्दर्य का दर्शन ही कवि में वस्तु के प्रति मार्मिक अनुभूति या भावुकता आदि को उत्पन्न करता है जिससे वह वक्रोक्तिपूर्ण अभिव्यंजना के लिए बाध्य हो जाता है। काव्य के इन दो लक्षणों से यह बात विदित होती है कि कुंतक की वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ रूढ़ या सामान्य रूप में प्रयुक्त नहीं होते, नवीन या अलौकिक रूप में प्रयुक्त होते हैं। उन दोनों में नवीनता या अलौकिकता भरने का श्रेय कवि की प्रतिभा को है। कुंतक के कवि की प्रतिभा सदा जागरूक रहती है, इसीलिए उसमें इतनी शक्ति रहती है कि वह किसी वस्तु के संभाव्य-सौन्दर्य को कल्पना के अंदर लाने में समर्थ हो जाती है, किसी वर्ण्य के असामान्य रूप के दर्शन में सफल हो जाती है या काव्य विषयों में नव-संश्लेषण, नव-संगति या नव-संबंध भर कर उन्हें अभिनव या अलौकिक रूप में प्रस्तुत करती है। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि कौन प्रतिभा सदा जागरूक रहती है? क्या वह दैवी या इलहामी कोटि की होती है? नहीं, इसे आज का कोई वैज्ञानिक समीक्षक स्वीकार नहीं कर सकता। तब वह कैसी प्रतिभा होगी? उत्तर है—जो जगत और जीवन के सतत निरीक्षण से, अध्ययन, चिन्तन एवं अनुशीलन से, नाना प्रकार की कल्पनाओं, अर्थों

अनुभूतियों, विचारों, शब्द-प्रयोगों से भर कर अपनी विशिष्ट भावुक-शक्ति को प्रौढ़ कर सकी है। इसी प्रौढ़ प्रतिभा से कवि लौकिक उपादानों में लौकिक तथा अलौकिक तत्त्व की उपस्थिति करके अपने वाच्य को अतिशय या अलौकिक रूप दे देता है। वाच्य का यह अतिशय सुन्दर रूप उसके वास्तविक और संभाव्यरूप का संश्लेषण मात्र है। इस अतिशय सुन्दर रूप का निर्माण आदर्शीकरण की प्रक्रिया से होता है। और आदर्शीकरण की प्रक्रिया कल्पना की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। कल्पना की क्रिया से वक्रोक्ति में अलौकिक सौन्दर्य एवं सुन्दर संगति की अवस्था होती है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि कविता में शब्द और अर्थ का अतिशय सुन्दर प्रयोग सहृदय के भाव को स्पर्श करता है, उसकी अनुभूतियों और आदर्शों के मेल में रहता है। वह किसी ऐसी विचित्र दुनियाँ का नहीं होता जिसका इस जगत-जीवन से संबंध ही न हो, अन्यथा वह सहृदयों को आह्लादित नहीं करेगा। कुन्तक द्वारा निरूपित काव्य के विशिष्ट लक्षणों में तीसरा तत्त्व वक्रोक्ति आता है। यहाँ वक्रोक्ति का प्रयोग अलंकार मात्र के लिए हुआ है। काव्य में अलंकार का प्रयोग भाव को सुन्दर से सुन्दरतर करने के लिए तथा वस्तु को संश्लिष्टतर या भव्यतर बनाने के लिए होना चाहिये। उसका प्रयोग केवल वाग्विलास या बौद्धिक चमत्कार के लिए न हो, अन्यथा वह सुंदर नहीं होगा। यहाँ भी कुन्तक ने अलंकार-प्रयोग की कसौटी सहृदयों का आह्लाद ही माना है। इसका भी तात्पर्य यही जान पड़ता है कि अलंकार का प्रयोग कविता में तभी सफल माना जायगा जब वह सहृदयों के भाव को स्पर्श करेगा, वर्ण्य को बोधगम्य बनाने में सहायक सिद्ध होगा।

कुन्तक के काव्य-प्रयोजन से उनके वक्रोक्ति-प्रयोजन को समझने में सहायता मिलती है। अतः उस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

कुंतक का काव्य-प्रयोजन

१—व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यंव्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥

२—धर्मादिसाधनोपायः चतुर्वर्गे क्रमोदितः।
काव्यबंधोऽभिजातानाम् हृदयाह्लादकारकः॥

३—चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्यतद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारोविधीयते॥

कुन्तक ने काव्य-प्रयोजनों को दो भागों में बाँटा है—काव्यानुभूतिकाल का प्रयोजन तथा काव्यानुभूति के पश्चात् का प्रयोजन। काव्यानुभूति-काल का प्रयोजन आनन्द है जो अन्तश्चमत्कार या हृदय का विस्तार करता है। यह तृतीय श्लोक में वर्णित है। काव्यानुभूति के पश्चात् का प्रयोजन व्यवहार-सौन्दर्य, नूतन-औचित्य तथा चतुर्वर्ग-फल प्राप्ति के भीतर परिगणित है—जो प्रथम और द्वितीय श्लोक में वर्णित है। इस प्रकार कुन्तक ने काव्य-प्रयोजन में रस के साथ उपयोगिता का संश्लेषण स्पष्ट रूप में कर दिया है। कुन्तक के उपर्युक्त काव्य-प्रयोजन के स्पष्टीकरण से उनके वक्रोक्तिस्वरूप के विषय में निष्कर्ष यह निकला कि उनकी वक्रोक्ति सहृदयों को आनन्ददायक सिद्ध होती है अर्थात् उनके अंतःकरण का विस्तार करती है; वह व्यवहार-सौन्दर्य तथा औचित्य की सीमा के अन्तर्गत रहती है, वह चतुर्वर्ग की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होती है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि कुन्तक के काव्य-प्रयोजन का वर्गीकरण बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। उनका काव्य-प्रयोजन प्राचीन से प्राचीनतम एवं नवीन से नवीनतम—सभी प्रकार के काव्य प्रयोजनों को अपने भीतर समाहित कर लेता है। उदाहरणार्थ, चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति के भीतर प्राचीन से प्राचीनतम काव्य-प्रयोजन आ जाते हैं एवं नूतनौचित्य की प्राप्ति के भीतर नवीन से नवीनतम काव्य-प्रयोजन आ जाते हैं। नूतनौचित्य नामक काव्य-प्रयोजन कुन्तक की काव्य-धारणा में युग-तत्त्व, राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक पुनर्निर्माण आदि को सन्तुलित रूप में रखता है। जहाँ आज के नवीनतावादी कवि या आलोचक नूतनता के चक्कर में पड़ कर साहित्यिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय आदि औचित्यों की उपेक्षा करके काव्य

की प्रकृति एवं आत्मा दोनों को विकृत कर देते हैं वहाँ आचार्य कुन्तक अपने नूतनौचित्य नामक काव्य-प्रयोजन द्वारा सब प्रकार के औचित्यों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं।

आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति का स्वरूप एवं उसकी व्याप्ति सम्यक् प्रकार से समझने के लिए काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध जानना आवश्यक है। कुन्तक के वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापन का एक बहुत बड़ा उद्देश्य ध्वनि सम्प्रदाय का खण्डन करना था। वक्रोक्तिकार भलीभाँति जानते थे कि ध्वनि सिद्धान्त की व्याप्ति इतनी विस्तृत है कि उसके भीतर काव्य के सभी तत्त्वों को उचित स्थान मिला है, अतः ध्वनि सम्प्रदाय के खण्डन के लिए यह आवश्यक है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त की भी व्याप्ति इतनी विस्तृत बनाई जाय कि उसके भीतर काव्य के सभी तत्त्वों को स्थान मिल जाय। कहने की आवश्यकता नहीं कि कुन्तक ने बड़े ही विदग्धता पूर्ण ढंग से काव्य के बाहरी तथा भीतरी सभी प्रकार के तत्त्वों का समावेश वक्रोक्ति के भीतर करके उसे बहुत ही व्यापक रूप देने का प्रयत्न किया है।

आचार्य कुन्तक ने ध्वनि सम्प्रदाय का खण्डन किया, ध्वनि तत्त्व का नहीं। वक्रोक्तिकार ने अपनी वक्रोक्ति का स्वरूप इतना व्यापक बनाया है कि उसमें काव्य के सभी परम्परागत मान्य तथ्यों का अन्तर्भाव हो जाता है। कुन्तक का विरोध बहुत सन्तुलित एवं व्यापक कोटि का दिखाई पड़ता है। उन्हें विरोधी सम्प्रदाय की उचित प्रतीत होनेवाली बात को भी स्वीकार करने में संकोच नहीं था। कुन्तक यद्यपि अभिधावादी आचार्य थे परन्तु इनकी अभिधा का क्षेत्र इतना व्यापक था कि उसके भीतर लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का भी समावेश हो जाता है। इनका वाचक शब्द सांकेतिक, लाक्षणिक एवं व्यंजक तीनों प्रकार के शब्दों का उपलक्षण है[१]। यहाँ आचार्य कुन्तक

१—यस्मादर्थप्रतीति-कारित्वसामान्याद् उपचारात् तावपि (द्योतक व्यञ्जकावपि शब्दौ) वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यंग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्व सामान्यादुपचारात् वाच्यत्वमेव। (वक्रोक्ति जीवित—कारिका १)

ने अर्थप्रतीतिकारिता नामक सामान्य धर्म के द्वारा तीनों को एक कर दिया है। कुन्तक की वक्रोक्ति के प्रकारों के भीतर ध्वनि के अनेक भेद चिपके दिखाई पड़ते हैं। जैसे, उपचारवक्रता के भीतर अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यध्वनि, रूढ़िवैचित्र्यवक्रता के भीतर अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि, पर्यायवक्रता के भीतर शब्दशक्तिमूलअनुरणनरूपव्यंग्य-भूतपदध्वनि, वस्तुवक्रता के भीतर वस्तुध्वनि तथा प्रतीयमान अलंकारों के भीतर अलंकार ध्वनि। प्रबन्धवक्रता के भीतर प्रबन्ध तथा रसध्वनियाँ दिखाई पड़ती हैं। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठता है कि वक्रोक्ति और ध्वनि में क्या भेद है। कुन्तक वक्रोक्ति में वाच्य और व्यंग्य की युगपद् सत्ता मानते हैं, किन्तु ध्वनि में वाच्यातिरिक्त व्यंग्य की ही सत्ता रहती है आचार्य कुन्तक ने काव्य में ध्वनि के अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख किया है। इनकी दृष्टि में विचित्र मार्ग में प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य सबसे अधिक मात्रा में उन्मीलित होता है[१]।

वक्रोक्ति और रस

हिन्दी के कुछ आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति को सर्वत्र भावानुमोदित या भाव-विधान की प्रक्रिया से निकली हुई वस्तु नहीं मानते। अतः ऐसे आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति को कभी कभी रसहीन मान लेते हैं। उनकी दृष्टि में इस अवस्था में कुन्तक की वक्रोक्ति वैचित्र्य के चक्कर में पड़कर कुछ ठीक ठिकाने की व्यंजना में असमर्थ हो जाती है और इस प्रकार की वक्रोक्ति का उद्देश्य मनोरंजन मात्र होता है। कुन्तक की वक्रोक्ति पर इस प्रकार के आक्षेप का कारण यही जान पड़ता है कि ऐसे आचार्य वक्रोक्तिजीवितकार की वक्रोक्ति को उसके सर्वाङ्गीण रूप में देखने का प्रयत्न नहीं करते। कदाचित् अलंकारवादियों की वक्रोक्ति-धारणा को लेकर इस प्रकार का आक्षेप वक्रोक्तिवाद पर लगाना आरंभ कर देते

१—प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्।
वक्रोक्ति जीवित।

हैं। वक्रोक्ति पर लगाये गये उक्त आक्षेपों के निराकरण के लिए निम्नाङ्कित अनेक तर्क दिए जा सकते हैं—

(१) कुन्तक की वक्रोक्ति सदा प्रतिभा से उत्पन्न होती है। प्रतिभा के भीतर भावुकता, अनुभूति, अन्तर्दृष्टि आदि शक्तियाँ आती हैं। अतः ऐसी प्रतिभा से उत्पन्न होनेवाली वस्तु केवल रसहीन चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सकती। प्रतिभा से उत्पन्न होने का अर्थ ही है कि वह भावातिरेक या अनुभूति की तीव्रतम मार्मिकता के कारण उत्पन्न होती है। भावातिरेक से उत्पन्न होनेवाली वक्रोक्ति में कोरा चमत्कार नहीं रहेगा; रसपूर्ण चमत्कार रहेगा।

(२) कुन्तक रसजन्य चमत्कार के उपासक हैं, कोरे अलंकारजन्य चमत्कार के नहीं। वे रस के ऊपर इतना अधिक बल देते हैं कि वे रसवत् अलंकार[1] को सब अलंकारों का प्राण मानते हैं तथा उसे वे काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते हैं। इसी रस से काव्य सारवान होता है। यदि रस सभी अलंकारों का प्राण है तो कोई भी अलंकार रस से विरहित नहीं रहेगा दूसरे शब्दों में कुन्तक की वक्रोक्ति कभी रस से विरहित नहीं रह सकती। इनकी दृष्टि में रस एवं अलंकार दोनों कल्पना की विशिष्ट क्रिया से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दोनों का स्रोत एक ही तत्त्व है। ऐसी स्थिति में कुन्तक के अलंकार रसहीन कैसे सिद्ध होंगे ?

(३) कुन्तक; भामह, दण्डी तथा उद्भट के समान रस को एक अलंकार न मानकर काव्यवस्तु से उसका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इनकी दृष्टि में वस्तुओं के स्वभाव में वक्रता या मनोहरता उस समय आती है जब वे रस को उद्दीप्त करती हैं अर्थात् वस्तु वक्रता का सम्बन्ध भी रस से है। जड़प्रकृति का चेतनवत् वर्णन जब रसोद्दीपन में समर्थ होता है तब वहाँ भी वस्तु वक्रता आ जाती है। इसी प्रकार देवता, असुर,

---

१ यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।
काव्यैक सारतां याति— (कुन्तक)

तथा मनुष्य का स्वभाव-चित्रण उसी समय चमत्कारी या मनोहर प्रतीत होगा जब वह रसोद्दीप्ति से परिपूर्ण रहेगा। इसी प्रकार कुन्तक की प्रबन्ध वक्रता, प्रकरण वक्रता आदि वक्रता के भेद इस बात को स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि कुन्तक कोरे वाग्वैचित्र्यवादी नहीं थे। इन दोनों वक्रताओं से कुन्तक यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि रस या भाव का स्रोत किसी विकसित घटना या परिस्थिति में निहित है किसी विच्छिन्न उद्दीपन में नहीं। विच्छिन्न रूप में किसी उद्दीपन का वर्णन कुछ दूर तक कवि मार्मिक अनुभूति के विना भी कर सकता है किन्तु किसी विकसित घटना या परिस्थिति का चित्रण तीव्र अनुभूति के अभाव में संभव ही नहीं।

(४) कुन्तक की विच्छित्ति का प्रतिपादन नूतन शब्द तथा नूतन अर्थ दोनों करते हैं। यदि वह केवल शब्द चमत्कार या शुद्ध अलंकार-क्रीड़ा पर अवलम्बित होती तो वह सहृदयों को कदापि आह्लाददायक न होती। आह्लाद उत्पन्न करना रस का गुण है शुद्ध वाग्वैचित्र्य का नहीं। इस तर्क से भी यह सिद्ध हुआ कि कुन्तक की प्रस्तुतौचित्यशोभीभङ्गी-भणिति सदा रस से सम्बद्ध रहती है।

(५) कुन्तक की वक्रोक्ति काव्य को शक्तिप्रधान वाङ्मय बनाती है। कोरे उक्तिवैचित्र्य से काव्य शक्तिप्रधान नहीं बन सकता। इसके लिए उसमें मार्मिक भावों, सूक्ष्म विचारों, अनुभूत मानव दृष्टियों की कलात्मक व्यंजना की आवश्यकता है। अतः कुन्तक की वक्रोक्ति जो काव्योक्ति को शक्तिप्रधान वाङ्मय के भीतर स्थान देती है, निश्चय ही मानवता की सृष्टि करनेवाले स्थायी भावों तथा विचारों से सदा संपृक्त रहती है।

(६) कुन्तक के अनुसार ठीक ठिकाने की व्यंजना न करनेवाली वक्रोक्ति या कोरे वाग्वैदग्ध से मनोरंजन मात्र करनेवाली अनूठी उक्ति अथवा विशुद्ध अलंकारकौशल दिखानेवाली भङ्गीभणिति काव्य में स्थान नहीं पा सकती क्योंकि वह सहृदयों को आह्लादित नहीं कर सकती। सहृदयों को आह्लादित करने के लिए वक्रोक्ति को सदा भाव-विधान की प्रक्रिया से उत्पन्न होना चाहिए।

(७) कुन्तक की वक्रोक्ति सदा कवि-व्यापार की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है, अतः भावविधान की प्रक्रिया से उसका निकलना अनिवार्य है। अतएव इस प्रकार की वक्रोक्ति के अनूठेपन को भावविधान के बाहर की वस्तु कहना ठीक नहीं। जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि कुन्तक की वक्रोक्ति सदैव उमड़ते हुए भावों की प्रेरणा या अनुभूति की तीव्रता से उत्पन्न होती है तब उसे रसहीन कैसे माना जाय।

(८) कुन्तक का काव्य में व्यापार प्राधान्य का सिद्धान्त उन्हें शब्द चमत्कारी सिद्ध नहीं करता, रस के ऊपर उनके आग्रह को ही प्रकट करता है। काव्य में जहाँ जहाँ रस रहेगा वहाँ वहाँ कवि-व्यापार अनिवार्यतः रहेगा और कुन्तक के अनुसार जहाँ जहाँ कवि-व्यापार होगा वहाँ वहाँ वक्रोक्ति अनिवार्यतः रहेगी। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि जहाँ वक्रोक्ति रहेगी वहाँ रस अवश्य रहेगा।

(९) कुन्तक के काव्य प्रयोजन—चतुर्वर्ग फल प्राप्ति, व्यवहार-सौन्दर्य नवीनौचित्य, अन्तश्चमत्कार आदि की प्राप्ति काव्य में रस की उपस्थिति के बिना संभव नहीं।

(१०) यदि वक्रोक्तिवाद संकीर्ण अर्थ वाले चमत्कार का पोषक होता तो फिर कुन्तक अपने ग्रन्थ वक्रोक्ति जीवित में कभी यह न लिखते कि रसोद्गार को निरन्तर धारण करने से ही कवियों की वाणी जीवन से स्पन्दित होती है, अमरता को प्राप्त होती है, केवल कथामात्र के कथन से नहीं[१]। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि कुन्तक-प्रबन्ध काव्य में कवि का मुख्य कर्तव्य रसोन्मेष करना मानते हैं इतिवृत्त का निर्वाह करना नहीं।

उपर्युक्त तर्कों से यह बात सिद्ध हो गई कि कुन्तक को काव्य में रसाभिव्यक्ति की आवश्यकता मान्य है पर वे इसे स्वतंत्र स्थान न देकर वक्रोक्ति के उपादान तत्त्वों में एक सर्वाधिक मुख्य तत्त्व मानते हैं। पर

---

१ निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः। (कुन्तक)

यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि इनकी वक्रोक्ति काव्य के समस्त तत्त्वों का एक उपलक्षण है, अथवा इसे और स्पष्ट शब्दों में हम कह सकते हैं कि वक्रोक्तिजीवितकार के लिए वक्रोक्ति और काव्य पर्यायवाची हैं। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न उठता है कि कुन्तक जब वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हैं तब वहाँ वक्रोक्ति का क्या अर्थ होता है। मेरी दृष्टि में वहाँ वक्रोक्ति का अर्थ अलौकिकता से है। वक्रोक्ति में कथन के ढंग, पदावली आदि में ही अलौकिकता नहीं रहती वरन् वर्ण्य में भी अलौकिकता आ जाती है। इसी कारण इनकी वक्रोक्ति अलौकिकचमत्कारकारि होती है। कुन्तक सौभाग्य गुण को जो उनकी वक्रोक्ति के सभी मार्गों का अनिवार्य गुण है, अलौकिकचमत्कारकारि तथा काव्य का प्राण मानते हैं। सौभाग्य गुण का धर्म है अलौकिकचमत्कारकारिता। इसी से वह काव्य का प्राण बनता है। एक स्थान पर कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हैं। यदि कुन्तक में पूर्वापर सम्बन्ध का पालन मान लिया जाय, तो यह निश्चय ही सिद्ध हो जाता है कि वक्रोक्ति को प्राण कहने का अर्थ है अलौकिकचमत्कारकारिता।

वक्रोक्ति तथा अलंकार

कुन्तक की वक्रोक्ति सर्वालंकाररूपा है। उनकी वर्णविन्यासवक्रता के भीतर शब्दालंकार तथा वाक्य वक्रता के अन्तर्गत अर्थालंकार का समावेश हो जाता है[१]। कुन्तक काव्य में शब्दालंकारों के प्रयोगसाफल्य की कसौटी नैसर्गिकता, औचित्य, निर्व्यसनता[२], रमणीयता तथा अयत्नविहितता मानते हैं; अर्थात् कवि को यमक, अनुप्रास आदि

१. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा। यत्रालंकार वर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।

२. नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता
पूर्वावृत्त परित्याग नूतनावर्तनोज्ज्वला।

का प्रयोग नैसर्गिक रूप में करना चाहिए। उमड़ते हुए भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के समय बिना यत्न किए हुए शब्दालंकार काव्य में प्रयुक्त हो जायँ, अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि के लिए कवि में कोई व्यसन या आग्रह नहीं होना चाहिए, अनुप्रास आदि के प्रयोग से किसी काव्यगुण अथवा अर्थ-सौन्दर्य को कभी दूषित नहीं होना चाहिए[१], किसी भी प्रकार की वर्णवक्रता से औचित्य का तिरस्कार नहीं होना चाहिए[२]।

कुन्तक के वर्णवक्रता-प्रयोग सम्बन्धी उपर्युक्त नियमों से उनकी वक्रोक्ति के विषय में हम निम्नाङ्कित नियम निकाल सकते हैं—

(१) कुन्तक की वक्रोक्ति अयत्नविहित होती है। कवि के शब्दों तथा अर्थों में वक्रता या नवीनता उसके उमड़ते हुए भावों की आकुल प्रेरणा या तीव्रतम अनुभूति की मार्मिकता के कारण आती है, उसके किसी चेतन प्रयास के कारण नहीं।

(२) वक्रोक्तिजीवितकार की वक्रोक्ति विस्मय या मनोरंजन मात्र करनेवाली नहीं होती। वह सहृदय को अपने में मग्न करके आह्लादित करने की क्षमता रखती है।

(३) कुन्तक की वक्रोक्ति में औचित्य तत्त्व वर्तमान रहता है जिससे वह काव्य के गुणों, विशिष्टताओं, रीतियों आदि में अनौचित्य नहीं लाती।

जिस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति के स्वरूप-निरूपण में प्रतिभा तथा वैचित्र्य पर बल दिया है उसी प्रकार अलंकारों के स्वरूप-निरूपण में भी। अलंकारों के सामान्यस्वरूप-निरूपण में कुन्तक वैचित्र्य तथा

---

१. वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः।

२. समान वर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थानशोभि यत्। (वक्रोक्ति जीवित)।

प्रतिभानिर्वर्त्तित्व—इन्हीं दो तत्त्वों पर बल देते हुए दिखाई पड़ते हैं[१]। वक्रोक्तिजीवितकार अलंकारवादियों के समान काव्य में यत्न से अलंकार लादने के मत का समर्थन नहीं करते। अलंकारवादी अलंकार के कोरे स्वरूप, बुद्धिजन्य प्रयोग का भी समर्थन करते हैं जो कभी कभी रस-विरहित भी होता है अथवा रस दोषों से भरा रहता है या भावना-विधान की प्रक्रिया से उद्भूत नहीं होता किन्तु आचार्य कुन्तक अलंकार के उसी स्वरूप का समर्थन करते हैं जो प्रतिभा से उत्पन्न होता है, जो रमणीयता पूर्ण वैचित्र्य के सम्पादन में समर्थ होता है तथा जो रस को प्राण रूप में अपने भीतर प्रतिष्ठित करता है। कुन्तक वक्रोक्ति सिद्धान्त के इतने पक्के अनुयायी हैं कि इस सिद्धान्त के मेल में न बैठनेवाले अलंकारों—स्वभावोक्ति, लेश, हेतु सूक्ष्म, यथासंख्य को अलंकार की श्रेणी से बाहर निकाल देते हैं।

वक्रोक्ति और औचित्य

अप्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष दोनों रूपों से यह सिद्ध होता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति का सम्बन्ध औचित्य से घनिष्ठ रूप में है। इनकी वक्रोक्ति कभी रस-विरहित नहीं रहती। काव्य में रसनिष्पत्ति औचित्य रक्षा से ही संभव है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध होता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति में औचित्य की रक्षा अवश्यमेव रहती है। कुन्तक की वक्रोक्ति सहृदयों को आह्लाददायक होती है। वह वक्रोक्ति जो औचित्य की रक्षा में समर्थ नहीं होगी, वह सहृदयों को कभी भी आह्लादित नहीं कर सकती। इस प्रकार कार्यकारणभाव द्वारा यह सिद्ध हुआ कि कुन्तक की वक्रोक्ति में औचित्य तत्त्व अवश्य वर्तमान रहता है। वक्रोक्ति-जीवितकार ने प्रत्यक्ष रूप से प्रसंगानुसार कई स्थानों पर उल्लेख किया है कि औचित्य की रक्षा काव्य के बहिरंग तथा अन्तरङ्ग दोनों

---

१. कविप्रतिभात्मकस्य विच्छित्तिविशेषात्मकस्य अलंकारेणोक्तत्वात्।

वक्रोक्ति जीवित

तथ्य का प्रयोग, रस-प्रयोग, वस्तु वर्णन, अलंकार विधान, काव्य-संदेश काव्य नाम आदि के ऊपर ऐसे सूत्रात्मक विचार मिलते हैं जिनसे प्रबन्ध काव्य की साहित्यिक समीक्षा का पथ-प्रदर्शन आधुनिक युग में भी प्राप्त किया जा सकता है। वर्णविन्यास वक्रता तथा वाक्य वक्रता का विवेचन वक्रोक्ति तथा अलंकार-सम्बन्ध के विवेचन के समय हो चुका है और उस समय यह बताया जा चुका है कि इन दो वक्रताओं के भीतर सभी प्रकार के शब्दालंकार तथा अर्थालंकार आ जाते हैं। इन दो वक्रताओं में काव्य में अलंकारों का चारु-प्रयोग विवेचित किया गया है। काव्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का प्रयोग किस प्रकार, किस मात्रा में होना चाहिए—यह हम इन दोनों वक्रोक्तियों से सीख सकते हैं।

पद-पूर्वार्ध वक्रता के भीतर रूढ़ि, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृति, भाव, लिंग तथा क्रिया से काव्य में उत्पन्न होनेवाले औचित्य पूर्ण चारु प्रयोगों का विवेचन किया गया है। रूढ़ि वैचित्र्य-वक्रता के भीतर शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग का सौन्दर्य निहित रहता है। इसके भीतर लक्षणामूला दोनों ध्वनियाँ आ जाती हैं। इसके द्वारा कवि किसी वस्तु का उत्कर्ष तथा अपकर्ष अलौकिक ढंग से दिखाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए कुंतक ने आनंदवर्धन के दोनों ध्वनि भेदों—अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यंततिरस्कृत के उदाहरणों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। जैसे, उनका एक उदाहरण देखिए—

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।

गुण जब सहृदयों के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तभी गुण कहे जाते हैं। सूर्य किरणों से विकास पाये हुए कमल ही कमल कहे जाते हैं। उक्त श्लोक में पहला कमल नाम मात्र का साधारण कमल है पर दूसरा कमल शब्द लक्ष्मी पात्रत्व आदि अनेक गुणों से सम्पन्न होने के कारण लोकोत्तर उत्कर्ष की सूचना दे रहा है अतः कुन्तक की दृष्टि से यहाँ रूढ़िवैचित्र्य वक्रता है। आनन्दवर्धन ने इसी को अर्थान्तरसंक्रमित

वाच्यध्वनि के उदाहरण में रखा है। इसी प्रकार अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि के उदाहरण भी कुन्तक के अनुसार रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता के भीतर आते हैं।

पर्याय-वक्रता—किसी एक शब्द के अनेक पर्याय होते हैं। किन्तु कविता में प्रसंगानुकूल सुंदर अर्थ देने वाले शब्द का उचित प्रयोग ही पर्यायवक्रता की सृष्टि करता है।

उदाहरण—

चंद्रहास हरु मम परितापं।
रघुपति विरह अनल संजातं॥

राम के बहुत से पर्याय हैं परन्तु तुलसी ने काव्यौचित्य की दृष्टि से सीता के मुख से रघुपति शब्द ही कहलवाया है जो बहुत ही सार्थक है।

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहिं चले सुमिरि नरहरी॥

—यहाँ भी हनुमान के मुख से राम के अन्य पर्यायों में से नरहरी शब्द ही कवि निकलवाता है जो बहुत ही सार्थक है क्योंकि वे इस समय असुर-पुरी में असुरों का मान मर्दन करने जा रहे हैं। अतः राम के असुर-विध्वंसकारी रूप का ही नाम लेना ठीक है।

उपचार-वक्रता—

अचेतन वस्तु में चेतन वस्तु के धर्म का आरोप कर देना उपचार कहलाता है। कुन्तक की दृष्टि में अमूर्त्त पदार्थों में मूर्त्त पदार्थों के धर्मों का आरोप, घन पदार्थ में द्रव पदार्थ के गुणों का आरोप एवं अचेतन में चेतन का आरोप उपचार कहलाता है। उपचार वक्रता के भीतर प्रयोजनवती लक्षणा एवं रूपक आदि अलंकारों का अस्तित्व समाया है। इस वक्रता से काव्य में विशेष रमणीयता तथा सरसता का संचार होता है। हिन्दी के छायावादी कवियों में इस वक्रता की

भरमार है। प्रसाद जी इस वक्रता के प्रयोग में बहुत ही सिद्धहस्त हैं। कामायनी तो इस वक्रता के प्रयोगों से भरी पड़ी है। काम का सजीव वर्णन देखिए :—

जब लीला से तुम सीख रहे।
कोरक कोने में लुक रहना।
× × × ×
× × × ×

जब लिखते थे तुम सरस हँसी,
अपनी फूलों के अञ्चल में।
अपना कलकंठ मिलाते थे,
झरनों के कोमल कलकल में।

विशेषण-वक्रता—

इसमें विशेषणों का प्रयोग साभिप्राय एवं चमत्कारपूर्ण ढंग से होता है जिससे रस में अत्यंत प्रकर्षता आ जाती है एवं वाक्य में लावण्य का उन्मेष हो जाता है।

तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
सारी स्वतंत्रता छीन रही।
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे,
जीवन बन से हो बीन रही।

उक्त छन्द में स्वच्छन्द विशेषण बहुत ही साभिप्राय है। लज्जा उद्याम वासनाओं का नियंत्रण करती है। यहाँ स्वच्छन्द शब्द वासना की उद्दामता को बहुत ही चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त करता है।

संवृति-वक्रता—

इसमें विचित्रता के संपादन के लिए क्रियाविशेषण, विशेषण आदि शब्दों के द्वारा बहुत से भाव छिपा दिए जाते हैं। भावों का यह संवरण उनके स्पष्ट कथन से अधिक चमत्कारक हो जाता है—

सुनि सुंदर बैन सुधा रस साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाई चली।
तुलसी तेहि अवसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदय विगसीं मनो मंजुल कंज कली।

उक्त छन्द में ग्राम वधुओं के पूछने पर यदि सीता स्पष्ट कहतीं कि ये साँवरे मेरे पतिदेव हैं तो इसमें कोई सुन्दरता न रहती। तुलसी ने सीता के इस भाव को उनके कछू समुझाइ से छिपाकर इसे बहुत ही चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है।

भाव-वैचित्र्य-वक्रता—

इसमें भाव के साध्यरूप का तिरस्कार करके उसे सिद्ध रूप में प्रदर्शित किया जाता है। भाव-वैचित्र्य-वक्रता में कारण के पहले ही कार्य हो जाता है। इस प्रकार इस वक्रता के मूल में अत्यंतातिशयोक्ति छिपी हुई दिखाई पड़ती है।

उदाहरण—

पथि पथि शुकचञ्चूचारुरागाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासश्च।
नरि नरि किरति द्राक्सायकान् पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा॥

कामदेव के बाण छोड़ने पर मानिनियों की मान-क्रिया को समाप्त होना चाहिए था। परंतु यहाँ बात उल्टी दिखाई पड़ रही है। बाण छोड़ने का काम अभी वर्त्तमान-काल में चल रहा है परंतु इसका फल भूतकाल में ही बहुत पहले सिद्ध हो चुका है। अर्थात् यहाँ कारण उपस्थित होने के पहले ही कार्य उपस्थित सिद्ध किया गया है और उसकी अभिव्यक्ति केवल विनिवृत्त पद से दिखाई गई है। यही भाव-वैचित्र्य-वक्रता का चमत्कार है।

लिंग-वैचित्र्य-वक्रता—

जहाँ भिन्न लिंगवाले शब्दों का एक ही अधिष्ठान में समानाधिकरण हो वहाँ यह वक्रता उत्पन्न होती है। लिंग-विपर्यय का चमत्कार इसमें दिखाई पड़ता है। किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि इस लिंग विपर्यय से शोभा की निष्पत्ति होनी चाहिए, भावों की व्यंजना में चमत्कार आना चाहिए तथा कुछ नवीन भाव उत्पन्न होना चाहिए—

कौन तुम संसृति जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जनता का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?

उक्त छन्द में उपमेय पुल्लिग है इसलिए उपमान भी पुल्लिंग होता तो लिंग वक्रता न आती और यदि लिंग-विपर्यय से कोई सुन्दर तथा व्यापक व्यञ्जना न होती तब भी कविता में चमत्कार न आता और लिंग वक्रता उत्पन्न न होती। किन्तु उपर्युक्त छंद में लिंग-विपर्यय से अर्थात् पुल्लिग मनु के लिए स्त्रीलिंग मणि को उपमान रूप में रखने से अनेक प्रकार की भाव-व्यंजनाएँ हो रही हैं। मणि की उपमा मनु से देने से यह व्यंजना हो रही है कि वे मणि के समान कांतिमान, ठोस एवं मूल्यवान व्यक्ति हैं। प्रतीकात्मक दृष्टि से मनु मन के प्रतीक हैं, अतः मन का मूल्य भी व्यंजित हो रहा है। श्रद्धा के जीवन में मनु मणि के सदृश-स्थान रखते हैं। यह भाव श्रद्धा के प्रथम दर्शन के प्रेम को व्यक्त कर रहा है। इस प्रकार अनेक भाव व्यंजित हो रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह लिंग-वक्रता प्रासंगिक काव्य रस का परिपोष करती है एवं चित्त-विस्फारक चमत्कार का उन्मेष।

क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता—

जहाँ काव्य में क्रिया का साभिप्राय प्रयोग चमत्कार का उन्मेष करे वहाँ क्रिया-वक्रता होती है। क्रिया-वैचित्र्य वक्रता के ३ भेद हैं।

.. भेद में कर्ता के साथ क्रिया की अपूर्व मैत्री होती है। कुन्तक का [illegible] देखिए—

क्रीड़ा रसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो,
लेखां विकृष्य विनिवध्य च मूर्ध्नि गौर्या।
किं शोभिताऽहमनयेति शशाङ्कमौलेः,
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः।

पार्वती ने एक वार एकान्त में क्रीड़ा करते हुए हँस कर शङ्कर के ललाट से चन्द्रलेखा को खींच कर अपने ललाट पर लगा लिया और तब शिवजी से पूछने लगीं कि इस चन्द्रलेखा से मेरी शोभा कैसी बढ़ रही है। इस प्रश्न के उत्तर रूप में शिवजी ने पार्वती जी का चुम्बन ले लिया। कवि कहता है कि शिवजी का चुम्बन आप की रक्षा करे। प्रश्न का उत्तर प्रायः शब्दों द्वारा दिया जाता है, पर शङ्करजी ने चुम्बन नामक क्रिया द्वारा दिया। आचार्य कुन्तक का कहना है कि पार्वती की अलौकिक शोभा की अभिव्यक्ति चुम्बन क्रिया द्वारा जितनी हो रही है उतनी अन्य किसी शब्द या व्यापार द्वारा नहीं हो सकती थी। अतः यहाँ क्रिया का प्रयोग बहुत ही साभिप्राय एवं चमत्कारपूर्ण है तथा कर्त्ता के साथ क्रिया की अपूर्व मैत्री भी है। क्रिया वक्रता के दूसरे भेद में कर्ता की विचित्रता ही क्रिया में वैचित्र्य ला देती है। किसी क्रिया के अन्य कर्ता जिस कार्य-साधन में समर्थ न होते हों वही कार्य जब कोई विचित्र कर्ता कर दे तो क्रिया में भी विचित्रता आ जाती है। वक्रोक्ति जीवितकार ने इसके उदाहरण में ध्वन्यालोक के मंगलश्लोक को रखा है।

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः।

अपनी इच्छा से नृसिंह रूप धारण करने वाले अपनी स्वच्छ शोभा के द्वारा चन्द्रमा को भी क्लिष्ट बनाने वाले तथा पीड़ित जनों के क्लेश को दूर करने वाले मधुरिपु नारायण के नख आप लोगों की रक्षा करें। संसार में नख, छेदन क्रिया का कार्य करता है परन्तु यहाँ नख अन्य

नखों से विचित्र कार्य कर रहा है। वह कार्य है दुखितों के क्लेश का छेदन। इस प्रकार उक्त श्लोक का सारा चमत्कार प्रपन्नार्तिच्छिदः पद में निहित है।

इस प्रकार यहाँ क्रिया वैचित्र्य वक्रता का दूसरा रूप वर्तमान है। जहाँ चेतन व्यक्ति द्वारा होने वाली क्रिया अचेतन पदार्थ से या अचेतन पदार्थ द्वारा सम्पादित होने वाली क्रिया चेतन व्यक्ति से कराई जाय तो वहाँ तीसरे प्रकार की क्रिया वक्रता उद्भूत होती है। कुन्तक का उदाहरण लीजिए।

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ,
प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च।
दृशोर्लीलारम्भाः स्फुटमयवदन्ते सरलताम्,
अहो सारङ्गाक्ष्यास्तरुणिमनि गाढः परिचयः।

उस मृगनयनी के अङ्ग छलकते हुए विमल सौन्दर्य के समुद्र में मानो तैर रहे हैं। स्तन और जंघे बन्द की हुई स्थूलता को खोल रहे हैं, नेत्रों के लीलामय आरंभ सरलता को दूर कर रहे हैं। उक्त श्लोक में तीनों व्यापार—तैरना, खोलना, दूर करना चेतन व्यक्तियों के हैं पर वे अचेतन पदार्थों पर आरोपित किए गये हैं। कुन्तक की दृष्टि में इसी उपचार के कारण क्रिया में वैचित्र्य आ गया है। क्रिया वैचित्र्य वक्रता का यह भेद उपचार वक्रता के भीतर ही आ जाता है। अतः इसको क्रिया वक्रता के भीतर रखना उचित नहीं जान पड़ता।

जहाँ किसी क्रिया के कर्म आदि कारकों का रूप स्पष्टतः न कहकर किमपि आदि पदों के द्वारा छिपा दिया जाय और वहाँ कुछ विलक्षण चमत्कार उत्पन्न हो जाय तो वहाँ चतुर्थ प्रकार की क्रियावैचित्र्य वक्रता उत्पन्न हो जाती है। कुन्तक का उदाहरण देखिए—

नेत्रान्तरे मधुरमर्पयतीव किञ्चित्,
कर्णान्तिके कथयतीव किमप्यपूर्वम्।
अन्तः समुल्लिखति किञ्चिदिवायताक्ष्या,
रागालसे मनसि रम्यपदार्थलक्ष्मीः।

राग से आलसी मन में दीर्घनयनी रमणी की रमणीय पदार्थ की ५ ँ नेत्रों के भीतर मानो कुछ मधुरता अर्पित कर रही है, कानों के मानों कोई अपूर्व वस्तु कह रही है, हृदय के भीतर मानो कुछ लिख रही है। रमणी के नेत्रों, कानों एवं अन्तर्जगत की अपूर्व निर्वचनीय शोभा को कवि किमपि शब्द द्वारा व्यंजित कर रहा है। २त क्रियाओं में कर्मादिगुप्ति जन्य वक्रता के अतिरिक्त उपचार वक्रता भी वर्तमान है।

पद के उत्तरार्ध में बसने वाली वक्रता पदपरार्ध-वक्रता के नाम से अभिहित की गई है। कुन्तक के अनुसार इसके सात मुख्य भेद हैं। (१) काल वैचित्र्यवक्रता (२) कारक वक्रता (३) संख्या वक्रता (४) पुरुष वक्रता (५) उपग्रह वक्रता (६) प्रत्यय वक्रता (७) पद वक्रता।

कालवैचित्र्य वक्रता

जहाँ काल विपर्यय से अर्थात् किसी विशिष्ट काल में होनेवाले कार्य के लिए उससे भिन्न कोई दूसरा काल प्रयोग करने से काव्य में चमत्कार उत्पन्न हो वहाँ काल-वैचित्र्य-वक्रता उद्भूत होती है। निम्न छंद में वर्त्तमान काल में होनेवाले कार्य के लिए भविष्यत् काल का प्रयोग अर्थ में कितनी गौरवता, विचित्रता एवं रमणीयता का संचार कर रहा है :—

"जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद हैं, गिन दोगी ?
प्रतिविम्बित हैं तारा तुम में सिंधु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिविम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी।"

श्रद्धा विरहावस्था में मंदाकिनि नदी से सान्त्वनापूर्ण उत्तर पाने के लिए प्रश्न कर रही है। नदी से पूछती है कि जीवन में सुख अधिक है या दुःख; या दोनों किसी एक वस्तु के ही प्रतिविम्ब हैं। वर्त्तमान

काल में वह प्रश्न कर रही है, किन्तु मन्दाकिनि से उत्तर पाने के लिए भविष्यत् काल का प्रयोग कर रही है। प्रकृति से भी सांत्वना या उत्तर पाने के लिए विरहावस्था में श्रद्धा अधिक समय तक प्रतीक्षा कर सकती है। इसी अधिक समय की व्यंजना के लिए भविष्यत् काल का प्रयोग वर्त्तमान काल में हुआ है। इससे श्रद्धा की विरहावस्था में उत्पन्न उन्माद में अधिक गहराई आ जाती है। उसका चरित्र अधिक निखर कर प्रकट हो जाता है। विरहावस्था में एक ओर तो कवि उसके उन्माद की गहराई दिखाता है दूसरी ओर उसका विरोधी भाव धैर्य, शिष्टतादि का संचार श्रद्धा में भविष्यत् काल के प्रयोग से कराता है।

कारक-वक्रता :—

जहाँ कारक के विपर्यय से किसी काव्यार्थ की अभिव्यक्ति में चमत्कार आ जाय या रस-निष्पत्ति में सरलता हो जाय वहाँ कारक वक्रता होती है। नीचे के श्लोक में करण के स्थान पर कर्त्ता के प्रयोग से अर्थ में कितना वैचित्र्य, चमत्कार एवं रमणीयता आ गई है :—

स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद्बाष्पनिवहो
हठादन्तः कण्ठं लुठति सरसः पञ्चमरवः।
शरज्ज्योत्स्नापाण्डुः पतति च कपोलः करतले
न जानीमस्तस्याः क इव हि विकार व्यतिकरः॥

उक्त श्लोक में किसी विरहिणी की वेसुध तथा विवश दशा का वर्णन है। आँखों से आँसुओं की झड़ी दोनों स्तनों को धीरे धीरे नहला रही है। सरस पंचमरव कंठ के भीतर ही हठ से लोट रहा है। पीला कपोल हथेली पर गिर रहा है। उस नायिका के हृदय में कितने विकारों का जमघट लगा हुआ है यह नहीं जाना जा सकता। लोक की रीति यह है कि हम आँसुओं से किसी वस्तु को नहलाते हैं, किन्तु यहाँ आँसुओं की धारा स्वयं नहलाने का काम कर रही है—अर्थात् यहाँ करण के स्थान

र कर्त्ता का प्रयोग हुआ है। कपोल हथेली पर रखा जाता है, पर यहाँ ० स्वयं हथेली पर गिर रहा है। यहाँ कर्म के स्थान पर कर्त्ता का है। इन दोनों कारक वक्रताओं से उसकी बेसुध एवं विवश दशा का बहुत ही सुन्दर एवं मार्मिक चित्र खींचा गया है—कि वह स्वयं कुछ करने में असमर्थ है उसके शरीर की सारी क्रियाएँ अपने आप हो रही हैं, उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। यदि कारक-वक्रता को हटा करके बात सीधे सादे ढंग से कही जाती कि वह विरह से विकल होकर रो रही है, आँसुओं से उसके स्तन भीग रहे हैं, हथेली पर कपोल रखे हुए है तो उसकी बेसुध एवं विवश दशा का इतना सुंदर चित्रण न हो पाता और विप्रलंभ शृंगार की अनुभूति इतनी गहरी एवं मार्मिक न हो पाती।

संख्या-वक्रता :—

जहाँ काव्य में एक वचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग से अथवा बहुवचन के स्थान पर एकवचन या द्विवचन के प्रयोग से काव्यार्थ में रमणीयता या रोचकता आ जाय वहाँ संख्या-वक्रता होती है। वस्तुतः संख्या-वक्रता के लिए उपयुक्त नाम था वचन-वक्रता। पता नहीं कुंतक ने यह नाम क्यों नहीं दिया।

उदाहरण :—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।
—शाकुन्तल

उक्त श्लोक में दुष्यंत भ्रमर को उलाहना देते हुए कह रहा है कि तुम शकुन्तला के पास जाकर न जाने कौन सी प्रेम-भरी बातें कह आते हो ? काँपते हुए नेत्रों के कानों को तथा सुन्दर अधरों को स्पर्श कर

आते हो। अतः तुम धन्य हो परन्तु हम तत्त्वान्वेषी बेमौत मारे जाते हैं। यहाँ राजा दुष्यंत अकेले ही खड़ा है; अतः उसे एक वचन अहम् का प्रयोग साधारणतः करना चाहिए था, किन्तु वह बहु-वचन का प्रयोग करता है। इससे उसकी बाहर से उदासीनता प्रकट होती है। यहाँ प्रेम करनेवाले पुरुष के मन का बहुत ही सुंदर रहस्य कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है और उसका साधन वचन-वक्रता नामक तत्त्व बनाया गया है।

पुरुष-वक्रता:—

जहाँ काव्य में किसी प्रकार की विच्छित्ति की सृष्टि पुरुष-विपर्यय से हो अर्थात् उत्तम पुरुष या मध्यम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष का प्रयोग चमत्कार की सृष्टि कर दे या रसोदीप्ति में सहायता पहुँचा दे वहाँ पुरुष वक्रता उत्पन्न होती है।

अतोऽत्र किञ्चित् भवतीं बहुक्षमां
द्विजाति भावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने
न चेद् रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि॥

उक्त श्लोक में शंकरजी ब्रह्मचारी के रूप में पार्वती से पूछ रहे हैं कि ब्राह्मण होने की ढिठाई के नाते यह जन कुछ ऐसी-वैसी बातें पूछ बैठे तो आप बुरा न मानियेगा और यदि कोई छिपाने की बात न हो तो कृपाकर उत्तर भी दे दीजियेगा। यहाँ वक्ता शंकर अपने लिए 'अयञ्जनः' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं जो अन्य-पुरुष है। यदि यहाँ उत्तम पुरुष का प्रयोग कवि करता तो वाक्य में रुक्षता आ जाती और शंकर का अधिकार व्यक्त होता। अतः यह कथन उद्दंडतापूर्ण हो जाता। किन्तु अन्य-पुरुष का प्रयोग करने से कथन में कोमलता आ गई है एवं उस रहस्य के जानने के प्रति शंकर की तटस्थता प्रतीत होती है।

हिन्दी उदाहरण :—

"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी?
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी।"—साकेत

"क्या कर्त्तव्य यही है भाई ?" लक्ष्मण ने सिर झुका लिया
"आर्य आपके प्रति इस जन ने कब कब क्या कर्त्तव्य किया ?"—
पंचवटी

उपग्रह वक्रता

संस्कृत भाषा की धातुओं में दो पद होते हैं—परस्मै तथा आत्मने पद। कतिपय धातु उभयपदी होती हैं। जहाँ उभयपदी धातु का प्रयोग एक विशिष्ट पद में करने के कारण काव्य में विशेष अर्थौचित्य तथा चमत्कार आ जाय वहाँ उपग्रह वक्रता होती है। यहाँ निम्न श्लोक में विभिदे नामक क्रिया का प्रयोग आत्मने पद में होने के कारण काव्य में विशेष चमत्कार आ गया है।

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान् मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य विभिदे निविड़ोऽपि मुष्टिः।
भासातिमात्र चटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः
प्रौढ़प्रिया-नयनविभ्रम चेष्टितानि।

राजा दशरथ मृगया खेलते समय दूसरे हरिनों पर बाण चलाना चाहते थे और उन्होंने बाण पकड़ी हुई मुट्ठी कान तक खींच ली थी, पर इतने में डरे हुए हरिणों के चंचल नेत्रों को देखते ही उन्हें अपनी प्रौढ़ प्रियतमा के चंचल नेत्रों की विलास-चेष्टाओं का स्मरण हो आया और उनकी जोर से बँधी हुई मुट्ठी अपने आप खुल गई। 'विभिदे' नामक यह आत्मने पद रूप मुट्ठी के अपने आप खुलने की क्रिया द्वारा राजा की परवशता, आत्मविस्मृति, पत्नी-प्रेम की प्रकृष्टता आदि भावनाओं को व्यंजित कर रहा है। इतने गंभीर, सुन्दर एवं चमत्कृतिपूर्ण भावों की व्यंजना उक्त श्लोक में केवल 'विभिदे' नामक आत्मने पद प्रयोग से हो रही है। इसलिए यहाँ उपग्रह वक्रता है। यहाँ स्मरण रखने की बात है कि यह वक्रता केवल संस्कृत भाषा की रचनाओं में ही पायी जाती है क्योंकि उसी की क्रियाओं में दो पद होते हैं।

प्रत्यय-वक्रता

कभी कभी छोटे प्रत्ययों का उचित प्रयोग काव्य में बड़ा चमत्कार पैदा कर देता है। उदाहरणार्थ, तरप् प्रत्यय का प्रयोग निम्न श्लोक में कितना सुन्दर चमत्कार पैदा कर रहा है—

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुनः।
यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः।

प्रथम कवि वह है जो वस्तु में छिपे हुए सूक्ष्म सुन्दर तत्त्व को अपनी वाणी द्वारा बहिर्गत करता है। दूसरा कवि वह है जो अपनी वाणी द्वारा उस सुन्दर सूक्ष्म तत्त्व की एक नई सृष्टि कर देता है। वक्ता कह रहा है कि मैं इन दोनों प्रकार के कवियों की वन्दना कर रहा हूँ क्योंकि ये दोनों अपने अपने क्षेत्र में अलग महत्त्व रखते हैं। परन्तु कवि से अधिक उस आलोचक की वन्दना करता हूँ जो इनके (कवि के) परिश्रम को जानने वाला है और इनके भार को ढोने की क्षमता रखता है अर्थात् आलोचक इन दोनों में अधिक श्रेष्ठ है; क्योंकि वह कविता तथा कवि के मर्म को समझाने की क्षमता रखता है। यह भाव वन्देतरां शब्द में प्रयुक्त 'तरप्' प्रत्यय द्वारा व्यक्त हो रहा है। इसलिए यहाँ प्रत्यय वक्रता है। यह वक्रता भी अधिकांश मात्रा में संस्कृत भाषा में ही मिलती है।

पद वक्रता

पद वक्रता में उपसर्ग और निपात की वक्रता रहती है। जहाँ काव्य में भाव चमत्कार या अभिव्यक्ति-सौन्दर्य अथवा रसोद्दीप्ति में सरलता उपसर्ग या निपात के वक्र प्रयोग के कारण आ जाय वहाँ पद वक्रता रहती है।

अयमेकपदे तया वियोगः,
प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभि—
र्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः।

एक ओर तो उस प्रियतमा के असहनीय विरह-दुख सहने का समय उपस्थित हो गया और दूसरी ओर वे दिन आ गये जो नवीन मेघ के उदय से धूप रहित होकर मन को मुग्ध करनेवाले होंगे। कुन्तक का कहना है कि प्रिया-विरह और वर्षाकाल की समकालिकता के सूचक दो निपात च हैं जो द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में रखे गये हैं। इस प्रकार विप्रलम्भ शृंगार को उद्दीप्त करने में सरलता उक्त दोनों च पदों से आ जाती है। इसी प्रकार सह शब्द के पूर्व 'सु' और 'दुः' उपसर्गों के योग से विरह के असहनीय होने की व्यंजना की गई है। इस प्रकार यहाँ उपसर्ग की भी वक्रता वर्तमान है।

कुन्तक ने पद-परार्ध-वक्रता के उपर्युक्त भेदों का निरूपण आनन्द-वर्धन के ध्वनि-साधक साधन के प्रकारों के आधार पर किया है। आनन्द की दृष्टि में जो साधन ध्वनि प्रभेदों के सम्पादक हैं वे ही कुन्तक के मत में प्रायः विभिन्न वक्रताओं के उत्पादक हैं। आनन्दवर्धन की दृष्टि में रसभावादि ध्वनियाँ सुप्, तिङ्, वचन-विशेष, सम्बन्ध-विशेष, कारक-शक्ति, कृत, तद्धित तथा समास की विशिष्टता के कारण विभिन्न रूप धारण कर लेती हैं :—

सुप्तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥

उपर्युक्त श्लोक में 'समासैश्च' पद में चकार से उपसर्ग, निपात, काल आदि की व्यंजना की गई है[1]। इनसे भी ध्वनियों के रूप में

---

१ च शब्दात् निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानोदृश्यते।
—आनन्दवर्धन

अन्तर पड़ जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आनन्दवर्धन के उपर्युक्त श्लोक में आए हुए भाषा के विभिन्न साधनों को ग्रहण करके ही कुन्तक ने अपनी पदपरार्धवक्रता के विभिन्न भेदों का निरूपण किया।

अब तक कुंतक की वक्रता के भेदों के भीतर काव्यात्मक भाषा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण हुआ। आगे हम प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता के भीतर काव्य के अंतरंग पक्ष में प्रविष्ट होने वाली वक्रताओं का दिग्दर्शन कराएँगे। प्रकरण वक्रता के भीतर काव्य के विभिन्न अंशों को सरस, रोचक एवं विच्छित्तिपूर्ण बनाने के साधन विवेचित किए गए हैं जिनके भीतर प्रबन्ध काव्य के घटना-संविधान वस्तु वर्णन, प्रकृतिवर्णन, चरित्रचित्रण, भावव्यंजना, कार्यान्विति आदि का समावेश सूत्रात्मक रूप में दिखाई पड़ता है। प्रबन्ध वक्रता के भीतर प्रबन्ध काव्य के औचित्यपूर्ण रस-संविधान। काव्य-संदेश नामकरण, जीवन दृष्टि, मौलिकता तथा ऐतिहासिक तथ्य की प्रयोग-विधि का संकेत सूत्रात्मक रूप में मिलता है। कुन्तक के अनुसार प्रकरण वक्रता के ६ भेद हैं। प्रकरण वक्रता के प्रथम भेद के भीतर वे घटनायें या प्रसंग आते हैं जिनसे नायक या नायिका की शक्ति, शील, या सौन्दर्य का प्रकर्ष दिखाया जा सके। जैसे, कुन्तक के अनुसार रघुवंश के पंचम सर्ग में वर्णित रघु तथा कौत्स का प्रसंग नायक रघु की दानशीलता के प्रकर्ष के लिए निर्मित किया गया है। मानस में पुष्पवाटिका का प्रसंग राम के सौन्दर्य वर्णन के प्रकर्ष के लिए, विश्वामित्र के साथ उनके आश्रम में जाकर राम द्वारा सुबाहु और ताड़का-वध की घटना उनकी शक्ति के प्रकर्ष के लिए एवं धनुष-भंग के पश्चात् परशुराम के आगमन की घटना उनके शील के प्रकर्ष के लिए निरूपित की गई हैं। अतः मानस की उपर्युक्त सभी घटनायें तथा प्रसंग प्रकरण वक्रता के भीतर आयेंगे।

प्रकरण वक्रता का दूसरा प्रकार वहाँ आता है जहाँ ऐतिहासिक या जनश्रुति से ली हुई मूलकथा में परिवर्तन इसलिए किया जाता है कि वह रस गर्भित हो सके। इस प्रकरण-वक्रता में कर्ता कथा में नई उद्भावनायें करता है जिससे घटनायें अधिक मानवीय, सरस, रोचक एवं

अधिक भाव-व्यंजक हो सकें। शतपथ में इड़ा, मनु की पालित कन्या है, अतः वह मनु के पूर्व निवास स्थान पर ही मिलती है। 'प्रसाद' ने इस मूलकथा को परिवर्तित कर दिया है जिससे इड़ा कामायनी में शतपथ की भाँति मनु की पालित कन्या न होकर सारस्वत प्रदेश की राष्ट्रनायिका-रूप में नियोजित है। इस परिवर्तन से मनु अपनी पालित कन्या पर मोहित नहीं होते जो बहुत ही अमानवीय होता; उनके हृदय में इड़ा के प्रति आकर्षण तथा श्रद्धा से विकर्षण उसके (श्रद्धा के) समक्ष ही नहीं होता जो बहुत ही अस्वाभाविक प्रतीत होता। इस परिवर्तन से अतृप्त वासना वाले मनु जैसे विलासी का निर्जन प्रदेश में इड़ा जैसी 'नयन महोत्सव की चन्द्रिका' की ओर आकर्षित होना बहुत ही काव्यात्मक प्रसंग हो गया है। इस परिवर्तन के कारण इड़ा सर्ग बहुत ही रस-गर्भित हो गया है। अभिज्ञान शाकुन्तल में चतुर्थ अङ्क में दुर्वासा का अभिशाप कवि की निजी कल्पना की सृष्टि है। इसके मूलस्रोत ग्रन्थ महाभारत में इसका अभाव है। दुर्वासा के शाप से 'दुष्यन्त की विस्मृति' नामक प्रसंग बहुत ही काव्यात्मक तथा सरस हो गया है। अतः शापवाली यह कल्पित घटना भी प्रकरण वक्रता के दूसरे भेद के अन्तर्गत आती है। इस प्रकार प्रकरण वक्रता का यह दूसरा भेद प्रबन्ध काव्य या नाटक के वस्तु-विन्यास के भीतर सौन्दर्य भरने का एक आवश्यक साधन दिखाई पड़ता है। वनवासी राम जब सोने के मृग को मार कर लौटे तब उन्होंने देखा कि सीता नहीं हैं। यह एक इतिवृत्त मात्र है परन्तु राम के वल्लभा-विरह का वर्णन—

"हे खगकुल हे मधुकर श्रेनी
कहुँ देखी सीता मृगनयनी,

आदि शब्दों में दूर तक करना रसात्मक चित्रण है। इन्हीं स्थलों पर कवि अपनी नवीन उद्भावना शक्ति का परिचय देता है। काव्य में कथावस्तु की गति इन्हीं रसगर्भित स्थलों तक पहुँचाने के लिए होती है। इन्हीं स्थलों के चित्रण से कवि की भावुकता की जाँच होती है। ऐसे ही रसात्मक स्थल पाठक की रागात्मक वृत्तियों को लीन करने की क्षमता

रखते हैं। भावोद्रेक करनेवाली मानव जीवन की नाना दशायें तथा परिस्थितियाँ इन्हीं स्थलों में चित्रित होती हैं। प्रकरण-वक्रता के ऐसे ही स्थल प्रबन्ध काव्य के मार्मिक स्थल होते हैं जिनकी बहती हुई रस-धारा में मग्न होकर पाठक अपने मन को निर्मल, शक्तिशाली एवं उदात्त भूमि में ले जाने में समर्थ होते हैं। इस प्रकरण वक्रता को आधार बना कर हम आज भी किसी प्रबन्धकार कवि की प्रबन्ध कल्पना तथा मार्मिक स्थलों के पहचान की शक्ति की परीक्षा तथा विवेचन कर सकते हैं।

प्रकरण वक्रता का तीसरा प्रकार वहाँ आता है जहाँ नायक या नायिका के चरित्र में पतन दिखाने वाले या रस में बाधा - पहुँचाने वाले मूल प्रसंगों को छोड़ कर कवि ऐसे नवीन प्रसंगों एवं घटनाओं की कल्पना करता है जिनसे काव्य सौन्दर्य में प्रकर्ष प्राप्त हो। इतिहास में सत् का परिणाम सदा सत् नहीं होता, असत् भी होता है किन्तु कवि, पाठक के हृदय पर अच्छा प्रभाव डालने के लिए सत् की असत् परिणाम वाली घटना को परिवर्तित करके उसके स्थान पर सत् परिणाम वाली घटना ही नियोजित करता है। इसी वक्रता के सतत पालन से काव्य में सदाचार की रक्षा होती है, नीति-तत्त्व की प्रतिष्ठा होती है, आदर्श की व्यवस्था होती है एवं काव्य की साध्यावस्था की सुलभता से प्राप्ति होती है। इस वक्रता का पालन प्राचीन काल से भारतीय प्रबन्ध काव्यों एवं नाटकों में होता आया है और आगे भी तब तक होता रहेगा जब तक साहित्य को मानव के उदात्तीकरण के साधन-रूप में जनता अपनाती रहेगी। ऐतिहासिक ग्रन्थों में दर्पण से रत्नसेन द्वारा पद्मिनी की छाया दिखाने की घटना प्रसिद्ध है। किन्तु दर्पण से पद्मिनी के मुख—प्रतिबिम्ब देखने की घटना 'जायसी' ने पद्मावत में आकस्मिक रूप में रखी है। इस परिवर्तन से पद्मावत के नायक-रतनसेन का चारित्रिक पतन नहीं होने पाया है। अपनी पत्नी के शरीर की छाया भी अपने शत्रु को दिखाने के लिए सहमत होना रत्नसेन जैसे पुरुषार्थी के लिए कवि ने अच्छा नहीं समझा। मनु के जीवनवृत्त सम्बन्धी मूल ग्रन्थों में उनकी मृत्यु सारस्वत नगर के युद्धक्षेत्र

में हो जाती है। कामायनी में प्रसाद ने इस घटना में परिवर्तन कर मनु को मुमूर्षावस्था में चित्रित किया है। यहाँ कवि ने मूल कथा में परिवर्तन नायक के सत कर्म के सत् परिणाम के स्वरूप में नहीं वरन् नायिका श्रद्धा के सत् कर्म के सत् परिणाम के लिए किया है। श्रद्धा जैसी सती साध्वी स्त्री, जिसने स्वप्न में भी पर पुरुष का ध्यान नहीं किया; पति से बार बार प्रवञ्चित होने पर भी उनसे प्रेम करना नहीं छोड़ा, यदि काव्य में वैधव्यावस्था के रूप में दिखाई जायगी तो काव्योत्कर्ष में बाधा पड़ेगी, पाठकों के ऊपर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

प्रकरण वक्रता के चतुर्थ भेद के भीतर कार्यान्विति तथा वस्तु के सम्बन्ध-निर्वाह का तत्त्व आता है। किसी प्रबन्ध काव्य में अनेक प्रकरण तथा घटनायें नियोजित की जाती हैं। यदि उन घटनाओं का एक कार्य के साथ सामंजस्य नहीं दिखाया जायगा तो वस्तु-विन्यास में विश्रृंखलता उत्पन्न हो जायगी; उनका सम्बन्ध-निर्वाह विच्छिन्न हो जायगी, उनका पूर्वापर सम्बन्ध नष्ट हो जायगा अर्थात् प्रबन्ध काव्य की घटनाओं को एक फल से अनुबन्धित करना तथा उनमें परस्पर उपकार्योपकारक भाव रखना चतुर्थ प्रकार की प्रकरण वक्रता है।[१] किसी प्रबन्धकार कवि की प्रबन्ध निपुणता की परीक्षा इस वक्रता द्वारा हो सकती है। प्रबन्ध कौशल की सबसे बड़ी कसौटी यही है कि प्रबन्ध काव्य में जिस घटना का सन्निवेश हो उसका कार्य्य से दूर या निकट का सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। सभी घटनाओं को अनुबन्धित करने की क्षमता वही कार्य्य (Action) रखता है जो नैतिक, सामाजिक आदि दृष्टियों से महान् होता है। जैसे, आरंभ में किलाताकुलि के पौरोहित्य वाली घटना पाठकों को अनावश्यक सी प्रतीत होती है

---

१. प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान् ।
उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरन् ।
असामान्यसमुल्लेख प्रतिभाप्रतिभासिनः ।
सूते नूतन वक्रत्व रहस्यं कस्यचित् कवेः ।

किन्तु अन्त में युद्ध क्षेत्र में उन्हीं को मनु अपने विरुद्ध लड़ते हुए देखकर बहुत अधिक निर्वेदपूर्ण हो जाते हैं। पदमावत में राघवचेतन तथा शुक का उतना ही वृत्त आता है जितना घटनाओं को कार्य की ओर अग्रसर करने में उपयोगी है। इसी कारण चित्तौर की चढ़ाई के पश्चात् न तो राघव की कोई चर्चा होती है और न विवाह के उपरान्त तोते की। उत्तररामचरित में चित्रदर्शन का दृश्य चतुर्थ प्रकार की प्रकरण वक्रता का सुन्दर उदाहरण है।

प्रकरण वक्रता का पाँचवाँ भेद वहाँ होता है जहाँ कवि सामान्य इतिवृत्तात्मक कथानक को सरस एवं रमणीय बनाने के लिए अपनी कल्पना के योग से उसका विस्तृत वर्णन करता है अथवा उसमें नवीन घटनाओं का योग कर देता है[१]। प्रकरण वक्रता के इस भेद से कादम्बरी भरी पड़ी है। उसमें छोटी से छोटी घटना बहुत ही विस्तृत एवं काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। पर यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि इस प्रकार की वक्रता का प्रयोग कवि को केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए, केवल वस्तुओं की जानकारी प्रकट करने के लिए, अथवा अपनी अभिरुचि के अनुसार असम्बद्ध प्रसंग छेड़ने के लिए नहीं करना चाहिए। कामायनी में श्रद्धा और मनु के मिलन की घटना का सरस वर्णन पूरा एक सर्ग ले लेता है। कुन्तक की इस वक्रता द्वारा प्रबन्ध काव्य में प्रबन्ध-विस्तार के कौशल का अच्छा अध्ययन किया जा सकता है।

कुन्तक की प्रकरण-वक्रता के अन्तिम भेद के भीतर नाटक में

---

१. प्रतिप्रकरणं प्रौढप्रतिभाभोगयोजितः।
एक एवाभिधेयात्मा बध्यमानः पुनः पुनः।
अन्यून नूतनोल्लेख-रसालंकरणोज्ज्वलः।
बध्नाति वक्रतोदभेदभङ्गीमुत्पादिताद्भुताम्।

—व० जी०

गर्भाङ्क योजना का तत्त्व दिखाई पड़ता है। गर्भाङ्क-योजना में यह वक्रता तभी आयेगी जब उसके द्वारा विशिष्ट अर्थ की सिद्धि होगी[१]।

प्रबन्ध वक्रोक्ति कुन्तक की सबसे व्यापक तथा महनीय वक्रोक्ति है। इस वक्रोक्ति का निर्माण भी प्रबन्ध काव्य तथा नाटक को दृष्टि में रख कर हुआ है। प्रबन्ध वक्रता के स्पष्टीकरण के लिए उसके कुछ भेदों का निरूपण यहाँ किया जाता है। प्रथम प्रकार की प्रबन्ध वक्रता में कथानक का मूल या अङ्गी रस जो उसके स्रोत ग्रन्थ में मिलता है वह कवि कल्पना द्वारा नवीन घटनाओं के समावेश से बदल कर नवीन रस में परिणत हो जाता है। यह बदला हुआ नवीन अङ्गी रस आदिम अङ्गीभूत रस से अधिक काव्योचित एवं रमणीय हो जाता है।[२] भवभूति के उत्तररामचरित का कथानक मूलतः वाल्मीकि रामायण से लिया गया है। रामायण में अङ्गीरस करुण है किन्तु भवभूति ने उस प्रसंग की सभी कारुणिक घटनाओं को लेते हुए भी उत्तर रामचरित का पर्यवसान शृंगार रस में किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शृंगार रस ही उत्तररामचरित नाटक के लिए सबसे अधिक काव्योचित रस है।

प्रबन्ध वक्रता के दूसरे भेद में कवि अपने कथानक के सम्पूर्ण भाग को काव्योचित एवं सरस बनाने का यत्न करता है। इसके लिए कभी कभी उसे इतिहास का उल्लंघन भी करना पड़ता है। कथानक का सम्पूर्ण भाग मूलग्रन्थ में रसमय नहीं होता। कवि रसहीन अंश को

---

१. सामाजिक जनाह्लाद निर्माण निपुणैर्नटैः।
तद्भूमिकां समस्थाय निर्वर्तितनटान्तरम्।
क्वचित् प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम्।
सर्वप्रबन्ध सर्वस्वकलां पुष्णाति वक्रताम्।

२. इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदुपेक्षया।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्।
तस्मादेव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः।
विनेयानन्दनिष्पत्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता।

छोड़ कर उसके स्थान पर अपनी कल्पना द्वारा नवीन घटनाओं की योजना कर देता है या केवल उसके सरस अंश का ही वर्णन करता है।

कवि का काम इतिहास का अनुकरण करना तो होता नहीं कि वह अपनी कृति में इतिवृत्त को ठीक ठीक अंकित करे। उसका मुख्य उद्देश्य तो रस का उन्मीलन करना होता है। अतः जो कथांश रसोन्मीलन में सहायक होते हैं उन्हीं का चित्रण करता है या उन्हीं की सर्जना कर उनका रमणीय वर्णन करता है[1]। कामायनी के कथानक की परीक्षा इस दृष्टि से करने पर यह विदित होता है कि भागवत तथा पुराणों में मनु एवं श्रद्धा से उत्पन्न दस पुत्र माने गये हैं किन्तु कामायनी में कवि एक ही पुत्र मानव की घटना का वर्णन करता है। इस संक्षेप का कारण कथा के विरस अंश को छोड़ देना ही है। काव्योद्देश्य की दृष्टि से मानव सम्बन्धी घटनाओं में ही सरसता एवं रमणीयता थी। इसी प्रकार सारस्वत प्रदेश में मनु के विरुद्ध युद्ध वाली घटना में कवि ने अपनी कल्पना द्वारा परिवर्धन किया है। शतपथ में मनु के विरुद्ध केवल देवता ही युद्ध करते हैं किन्तु कामायनी में सारी जनता एवं समाज मनु के विरुद्ध हो जाता है। इस परिवर्धन से असत् कर्म के प्रभाव का प्रसार दिखाना ही कवि का उद्देश्य नहीं वरन् वीर रस को अधिक प्रभविष्णु बनाना भी है, इस परिवर्धन से नायक का कोई उत्कर्ष नहीं बढ़ता वरन् काव्य के उद्देश्य का उत्कर्षपोषण होता है। और कुन्तक के नायकोत्कर्षपोषण का यही उद्देश्य है। कुन्तक की इस प्रबन्ध वक्रता से प्रबन्ध काव्य या

---

१. त्रैलोक्याभिनवोल्लेख नायकोत्कर्षपोषिणा
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम्
तदुत्तरकथावर्ति—विसरत्वजिहासयो
कुर्वीत यत्र सुकवि सा विचित्रास्य वक्रता।

नाटक के उद्देश्योत्कर्षपोषण के साधन तथा "सामग्री" का अध्ययन आधुनिक युग में भी किया जा सकता है।

जब किसी प्रबन्ध काव्य में नायक या नायिका अपने चरित्र की उदात्तता एवं विराटता के कारण काव्य के अन्त में अनेक फलों की प्राप्ति कर अनेक भावों की व्यञ्जना करते हैं तब वहाँ प्रबन्ध वक्रता का तीसरा भेद माना जाता है। इस प्रबन्ध वक्रता से कथानक एवं चरित्र चित्रण में उत्कर्ष आने से पूरे प्रबन्ध का सौन्दर्य बढ़ जाता है[1]। ध्यान देने पर यह विदित होगा कि आनन्दवर्धन की प्रबन्ध-ध्वनि तथा इस प्रबन्ध वक्रता में कोई अन्तर नहीं है। रामचरितमानस के कथानक का प्रारम्भ रावण नामक असुर के वध के लिए ही दिखाई पड़ता है। किन्तु राम के चरित्र की विराटता, उदात्तता, एवं प्रकर्ष के कारण उससे अनेक फलों की प्राप्ति होती है। इससे कथानक अन्त में अनेक तथ्यों की व्यंजना करने में समर्थ दिखाई पड़ता है। जैसे, कोई व्यक्ति अपने चरित में राम के गुणों का विकास कर नारायणत्व की प्राप्ति कर सकता है; अन्ततोगत्वा दैवी सम्पदा की विजय आसुरी सम्पदा के ऊपर होती है; राम राज्य की स्थापना के लिए राजा या देश के अधिनायक में सर्वप्रथम राम जैसे गुणों की आवश्यकता है; जीवन की सफलता भोग में नहीं वरन् त्याग में है; राम जैसी समरसता की साधना करने से मनुष्य इसी जीवन में अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष—चारों फलों की प्राप्ति कर सकता है; सभी अच्छाइयों का प्रतीक ईश्वर है, उसको अपनाने से गर्व, वासना आदि दुष्प्रवृत्तियाँ भस्मीभूत हो जाती हैं—आदि।

कुन्तक पात्र के नाम पर नहीं, वरन् किसी ऐसी विशिष्ट चमत्कार पूर्ण घटना के आधार पर, जो पूरे प्रबन्ध की प्राण हो, प्रबन्ध

---

१. तत्रैव फल सम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि नायकः।
फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु।
धत्ते निमित्ततां स्फारयशः संभारभाजनम्।
स्वमाहात्म्यचमत्कारात् साऽपरा चास्य वक्रता। (कुन्तक)

काव्य या नाटक के नामकरण को चमत्कारिक मानते हैं। अतः इस प्रकार के चमत्कारिक नामकरण को भी कुन्तक प्रबन्ध-वक्रता का एक भेद मानते हैं[1] यह प्रबन्ध-वक्रता आज भी नामौचित्य की परीक्षा में सहायता पहुँचा सकती है। शकुन्तला, पहचान (अभिज्ञान) की वस्तु (अँगूठी) द्वारा पहचानी जाती है, और यही घटना अभिज्ञान शाकुन्तल की सबसे विशिष्ट एवं चमत्कारिक घटना है, क्योंकि इसी पर नाटक का अस्तित्व प्रतिष्ठित है। अतः इसी विशिष्ट एवं चमत्कारिक घटना के आधार पर इस नाटक का नामकरण हुआ है। पाचवें प्रकार की प्रबन्ध-वक्रता वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ कवि अपने पूर्व गृहीत कथानकों, पात्रों आदि को लेकर भी अपनी प्रतिभा, सूझ, मौलिकता एवं उद्भावना शक्ति के द्वारा उसे बिलकुल नवीन रूप दे देता है।[2] रामायण की कथा एवं पात्रों पर संस्कृत में बहुत से महाकाव्य एवं नाटक वर्तमान थे, कदाचित् तुलसी ने सबको पढ़ा भी था। फिर भी उन्होंने अपनी प्रतिभा, सूझ, कल्पना एवं जीवन विषयक धारणा के कारण राम-कथा तथा तत्सम्बन्धी पात्रों को बिलकुल ही नवीन रूप दे दिया है जो अन्यत्र नहीं मिलता। यह प्रबन्ध वक्रता के पाचवें भेद का सबसे सुन्दर उदाहरण है। इस प्रबन्ध-वक्रता से किसी कवि की मौलिकता, उद्भावना शक्ति, प्रतिभा, नवीन सूझ आदि का अच्छा अध्ययन इस युग में भी किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम वक्रोक्तिवाद के विषय में निम्नांकित काव्य-सिद्धान्त निकाल सकते हैं :—

(१) काव्योक्ति सामान्य वार्त्ता से विशिष्ट होती है। उसमें किसी न किसी प्रकार की असाधारणता आवश्यक है। यह असाधारणता

---

१. आस्तां वस्तुषु वैदग्ध काव्ये काममपि वक्रताम्।
प्रधान संविधानाङ्क नाम्नापि कुरुते कविः। व. जी.

२. अप्येक कथया बद्धाः काव्यबन्धाः कवीश्वरैः।
पुष्णन्त्यनघमिन्योन्य—वैलक्षण्येन चारुताम्। (वही)

उभयगत होती है अर्थात् इससे वर्ण्य-वर्णनप्रणाली, शब्द-अर्थ दोनों असाधारण होते हैं। इस वक्रोक्ति का संबंध कवि के समूचे व्यक्तित्व तथा अखिल काव्य-व्यापार से होता है।

(२) कुन्तक काव्य में व्यापार-प्राधान्य के सिद्धान्त को मानते हैं। इसीलिए इनकी दृष्टि में केवल कवि-व्यापार ही वक्रोक्ति का ठीक स्वरूप निर्धारित कर सकता है। इस सिद्धान्त से इनकी वक्रोक्ति का संबंध रस से स्वाभाविक रूप में स्थापित हो जाता है।

(३) कुंतक के वक्रोक्तिवाद में समन्वयवाद का सिद्धांत भी छिपे रूप से काम करता हुआ दिखाई पड़ता है। उस समन्वय का सूत्र कवि-व्यापार में निहित है जिससे वक्रोक्तिवाद में शब्द एवं अर्थ का, वर्ण्य एवं वर्णन-प्रणाली का, कल्पना, चिन्तन तथा अनुभूति का—रस, ध्वनि, औचित्य, गुण, रीति एवं अलंकार का—संश्लेषण दिखाई पड़ता है।

(४) कुन्तक काव्य में अलौकिकता या असाधारणता के सिद्धांत को मानते हुए दिखाई पड़ते हैं। इसी कारण वे वक्रोक्ति अर्थात् अलौकिकचमत्कारकारिता को काव्य का प्राण कहते हैं। इसीलिए वे कवि-व्यापार को वक्र-व्यापार मानते हैं। वक्र-व्यापार का तात्पर्य ही है कि कवि-व्यापार असाधारण होता है। असाधारण कहने का कदाचित् उनका तात्पर्य यही था कि कवि की कल्पना, अनुभूति, चिन्तन, शब्दचयन, शैली, भाषा, अलंकार एवं वर्ण्य सभी असाधारण ढंग के होते हैं। ये सब असाधारणताएँ कुंतक की दृष्टि में प्रतिभा से उत्पन्न होती हैं इसलिए इनमें नैसर्गिकता, स्वाभाविकता एवं अयत्नविहितता रहती है। कुन्तक द्वारा निरूपित प्रतिभा भी असाधारण कोटि की होती है, इसलिए उस प्रतिभा को धारण करनेवाला कवि भी असाधारण व्यक्ति होता है। इसी कारण उसकी कल्पना, अनुभूति, भावुकता, तन्मयता, भाषा आदि सब असाधारण कोटि की होती हैं। यदि कुंतक के कवि की अनुभूति या प्रतिभा साधारण मनुष्य की अनुभूति या प्रतिभा के समान होती तो वह वस्तु के असाधारण स्वरूप, असामान्य संदेश एवं अलौकिक तथ्य का दर्शन ही न कर पाती। निश्चय ही कुंतक का कवि क्रान्तिदर्शी

है और वह सामान्य मनुष्यों से अधिक गहरी, पैनी एवं सूक्ष्म दृष्टि रखता है।

(५) कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में काव्य की सामाजिकता का भी सिद्धान्त दिखाई पड़ता है। इसी कारण वे वक्रोक्तिवादी होकर भी व्यक्ति वैचित्र्यवादी नहीं हुए। विचित्रता के सिद्धान्त को अपनाकर भी इस लोक के सहृदयों को सुखी बनानेवाले; व्यवहार सिखानेवाले; धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति करानेवाले काव्यस्वरूप का निर्माण कर सके।

(६) कुन्तक के काव्य-सिद्धान्तों में आदर्शवाद का सिद्धान्त भी बहुत ही व्यापक रूप में दिखाई पड़ता है। इसीलिए वे प्रबन्धकाव्य तथा नाटक को ही वास्तविक काव्य मानते हैं, इसी कारण वे अपने काव्य का प्रयोजन चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति, नवीनौचित्य एवं व्यवहार-सौन्दर्य घोषित करते हैं, इसी हेतु वे असाधारण विषय को काव्य के वर्ण्य योग्य समझते हैं और अपनी वक्रोक्ति द्वारा केवल उसके धर्म का अतिशय कथन करवाना चाहते हैं।

(७) कुन्तक के काव्य-सिद्धान्त में उदात्तता एवं भव्यता का सिद्धान्त भी बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इसी कारण वे अलङ्कारवाद के एक तत्त्व को अपना कर उसे इतना विराट रूप दे सके कि जिसमें काव्य के समस्त सिद्धान्तों एवं तत्त्वोंका समन्वय हो जाता है; इसी कारण वे अलङ्कारवादियों के चमत्कार को अन्तश्चमत्कार या चित्त-विस्तार के रूप में परिणत करने में सफल हुए; इसी कारण वे प्रबन्धकार कवि को प्रबन्धकाव्य में प्रकरण वक्रता में नायक या नायिका के शक्ति-शील-सौन्दर्य के प्रकर्ष में बाधक घटनाओं को छोड़ देने का आदेश देते हैं, रसाभास पैदा करनेवाले प्रकरणों एवं घटनाओं को अग्राह्य कहते हैं और इसी हेतु वे प्रबन्ध-वक्रता के एक भेद में काव्य के उद्देश्योत्कर्षपोषण पर बहुत आग्रह करते हैं।

(८) कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में परंपरावाद तथा स्वच्छंदतावाद के सिद्धान्त का समन्वय भी दिखाई पड़ता है। परंपरावाद का

सिद्धान्त मानने के कारण ही वे काव्य के प्रायः सभी मान्य सिद्धान्तों-ध्वनि, रस, औचित्य, रीति, अलंकार तथा गुण को ग्रहण कर लेते हैं एवं प्राचीन काव्य प्रयोजनों—अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति, व्यवहार-सौन्दर्य आदि की शिक्षा को स्वीकार कर लेते हैं। प्रबन्धकाव्य या नाटक में पौराणिक घटनाओं, पात्रों आदि को ग्रहण करने का आदेश भी देते हैं। स्वच्छंदतावाद के सिद्धान्त को स्वीकार करने के कारण ही वे वक्रोक्ति-तत्त्व को नवीन रूप देने में समर्थ होते हैं, अपनी काव्य-प्रक्रिया के भीतर कल्पना को सबसे अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। कवि की स्वतंत्रता, मौलिकता का सदा समर्थन करते हैं, काव्य-प्रयोजन में नवीनौचित्य को बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं, पुराने पात्रों एवं घटनाओं को कल्पना द्वारा नवीन रूप देने की सम्मति देते हैं एवं भाषा तत्त्व के भीतर कवियों को पुराने प्रचलित शब्दों में नवीन व्यक्तित्व भरने का आदेश देते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह भी तात्पर्य निकलता है कि कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में काव्य-नियम एवं स्वातंत्र्य का समन्वय दिखाई पड़ता है।

(९) कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में काव्य के आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों सिद्धान्तों का समन्वय दिखाई पड़ता है तभी तो उनके काव्य का प्रयोजन एक ओर धर्म एवं मोक्ष की प्राप्ति है तो दूसरी ओर अर्थ, काम, नवीनौचित्य, एवं व्यवहार सौन्दर्य का उपार्जन।

(१०) वक्रोक्तिजीवितकार काव्य के कलापक्ष के सबसे प्रमुख तत्त्व वक्रोक्ति को अपनाकर भी कला के लिए कला वाले सिद्धान्त को नहीं मानते तथा कलाकाव्य का समर्थन नहीं करते। उनके काव्य-प्रयोजनों—चतुर्वर्ग की प्राप्ति, नवीनौचित्य तथा व्यवहारसौन्दर्य; काव्य का उद्देश्य-रसोन्मेष, अलंकार का प्राण तत्त्व—रस, वक्रोक्ति की कसौटी—अन्तः विस्तार आदि को देखने से यह विदित होता है कि वे 'काव्य-जीवन के लिए', वाले सिद्धान्त के अनुयायी हैं।

(११) कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में काव्य के आनन्दवादी सिद्धान्त पर विशेष आग्रह है। इसीलिए वक्रोक्ति काव्य की कसौटी सहृदयों का

विशुद्ध आनन्द माना गया है तथा काव्यानुभूति काल का प्रयोजन भी सद्यः परिनिर्वृत्ति आनन्द स्वीकार किया गया है।

(१२) कुन्तक काव्य में चमत्कार के सिद्धान्त पर सबसे अधिक आग्रह करते हैं। किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि उनका चमत्कार वाग्वैचित्र्यजन्य नहीं वरन् सदा रसजन्य रहता है। तभी तो वह सहृदयों के मन को आह्लादित करने में तथा उनके हृदय को विस्तृत करने में सदा समर्थ होता है।

(१३) कुन्तक काव्य में शक्ति के सिद्धान्त को माननेवाले प्रतीत होते हैं तभी तो वे काव्यानन्द या आह्लाद का अर्थ मनोरंजन या सुख न मान कर मन का विस्तार मानते हैं; काव्य का प्रयोजन विभिन्न प्रकार की शक्तियों की प्राप्ति निरूपित करते हैं एवं लोक-प्रवृत्ति की ओर परिचालित करनेवाले काव्यों को समीक्षा का आधार बनाते हैं। कुन्तक की दृष्टि में उनकी वक्रोक्ति ही काव्य को शक्ति प्रदान करती है एवं उसे अन्य ज्ञान प्रधान वाङ्मयों से अलग करती है। डंटन द्वारा निरूपित शक्तिकाव्य की अनेक विशेषताओं का अध्ययन कुन्तक के वक्रोक्तिवाद द्वारा हो सकता है।

(१४) वक्रोक्तिवाद में चयन (selection) के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया है। चयन के सिद्धान्त के भीतर काव्य के दोनों पक्षों के तत्त्व आ जाते हैं। वक्रोक्तिवादी कवि विषय चयन में बहुत सतर्क रहता है। काव्य के लिए उन्हीं विषयों को चुनता है जो सहृदयों की अनुभूति को जगा सकें; तदनन्तर वर्ण्य के वर्णन में चुनाव करता है, अर्थात् वर्णनीय के धर्म का ही अतिशय कथन करता है। इसके पश्चात् वह उन्हीं घटनाओं, पात्रों, एवं वर्णनों को चुनता है जो काव्य की लक्ष्य-प्राप्ति से सम्बन्ध रखते हैं तथा रसोन्मेष में समर्थ होते हैं। वक्रता-भेद के विवेचन के समय यह बताया जा चुका है कि कुन्तक का कवि, भाषा के विभिन्न तत्त्वों—संज्ञा, विशेषण, क्रिया, काल, कारक, वचन, लिङ्ग, प्रत्यय, उपसर्ग, अव्यय आदि के चुनाव में कितना सतर्क रहता है। अन्त में काव्य के नामकरण में भी इनका चुनाव-सिद्धान्त काम करता

हुआ दिखाई पड़ता है। अतः वे काव्य का वही नाम रखते हैं जो बहुत ही उपयुक्त एवं उचित प्रतीत होता है।

(१५) कुन्तक अपने वक्रोक्तिवाद में अभिधा के उस विशिष्ट-स्वरूप तथा सिद्धान्त के अनुयायी दिखाई पड़ते हैं जिसके भीतर लक्षणा एवं व्यंजना का भी समावेश हो जाता है।

(१६) कुन्तक वक्रोक्तिवाद में आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले सिद्धान्त का अनुगमन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इसी कारण वे अपनी समीक्षा का आधार आनन्द की साधनावस्था को लेकर चलनेवाले काव्यों—रामायण, महाभारत, रघुवंश, किरातार्जुनीय, अभिज्ञान शाकुन्तल, मुद्राराक्षस आदि को बनाते हैं।

कुन्तक काव्य-सौन्दर्य के मूल्य-निर्धारण में व्यक्तिनिष्ठता (Subjectivity) तथा वस्तुनिष्ठता (objectivity) दोनों सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए दिखाई पड़ते हैं। कुन्तक का यह सिद्धान्त भारतीय काव्य दर्शन के अनुकूल है। योरप में काव्य-सौन्दर्य की सर्जना में व्यक्तिनिष्ठता को बहुत महत्त्व दिया गया है। भारतवर्ष में दोनों का समन्वय किया गया है। कुन्तक ने काव्य-सर्जना का अधिकार केवल प्रतिभाशाली व्यक्ति को दिया है। यहाँ प्रतिभा का अर्थ है विशिष्ट प्रकार की अनुभूति, कल्पना एवं अन्तर्दृष्टि की शक्ति जो सौन्दर्य-ग्रहण में बहुत ही दक्ष, सजग एवं सूक्ष्मभेदिनी होती है। इस प्रकार उनकी काव्य-सौन्दर्य-सर्जना में व्यक्ति-निष्ठता का तत्त्व आ जाता है और जब वे यह कहते हैं कि कवि वर्णनीय विषय के धर्म का ही अतिशय कथन करे तो वहाँ वर्णनीय का अर्थ सौन्दर्यशाली विषय या वस्तु से है। इस प्रकार उनकी सौन्दर्य-सर्जना में वस्तुनिष्ठता का तत्त्व आ जाता है। काव्य-परीक्षण में जब वे सहृदय को ही काव्य-परीक्षा का अधिकारी मानते हैं तब वे सहृदय की विशाल कल्पना के द्वारा साहित्य की कसौटी सर्व सामान्य रुचि स्वीकार करते हैं। कुन्तक अपने वक्रता-भेदों के भीतर काव्य के कलापक्ष एवं भावपक्ष सम्बन्धी तत्त्वों को उन्मीलित कर समीक्षा

को अधिकाधिक वस्तुनिष्ट बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे काव्यास्वादन का परिणाम आह्लाद या अन्तश्चमत्कार मानकर व्यक्ति-निष्ठता के लिए भी कुछ स्थान छोड़ देते हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुन्तक की वक्रोक्ति के भीतर समप्रमाणता, संवादित्व, शुद्धता, स्वार्थनिरपेक्षता, सूचकता, नवनवोन्मेषशालीनता, संयम, मर्यादा, औचित्य आदि सिद्धांतों का पुट भी दिखाई पड़ता है। समप्रमाणता प्रकरण-वक्रता के भेदों में दिखाई पड़ती है। संवादित्व उनके रस सिद्धांत में छिपा है। शुद्धता पदवक्रता के भेदों के भीतर समाई है जिसमें भाषा की यथार्थता के ऊपर विचार होता है। स्वार्थ निरपेक्षता प्रकरण वक्रता के पाँचवें भेद के भीतर वर्तमान है जहाँ कवि को विरस या इतिवृत्तात्मक कथानक को रमणीय बनाने के लिए उसे विस्तृत करने का अधिकार है किन्तु उस विस्तार के समय उसे पांडित्य को प्रदर्शित करने वाली या किसी पूर्वग्रह को व्यक्त करने वाली अथवा जानकारी प्रगट करने वाली वस्तुओं या घटनाओं का वर्णन नहीं करना चाहिए। सूचकता नामक सिद्धांत उनके वक्रोक्ति सिद्धांतके भीतर ध्वनि-तत्त्व के समावेश में दिखाई पड़ता है। नवनवोन्मेषशालीनता का सिद्धांत उनकी प्रबन्ध वक्रता के उस भेद के भीतर दिखाई पड़ता है जहाँ नायक के चरित्र की उदात्तता, विराटता, एवं अंत में अनेक फलों की प्राप्ति के कारण काव्य अनेक प्रकार के जीवन-संदेशों को ध्वनित करता है। संयम का सिद्धांत उनकी वर्ण वक्रता एवं वाक्य वक्रता के भीतर दिखाई पड़ता है जहाँ वे कवि को अलंकारों के प्रयोग में निर्व्यसनी होने का आदेश देते हैं। मर्यादा का सिद्धांत उनके काव्य के विशिष्ट लक्षण तथा प्रकरण वक्रता के एक भेद के भीतर दिखाई पड़ता है। काव्य के विशिष्ट लक्षण में इन्होंने स्पष्ट बतलाया है कि कवि को वर्णनीय के धर्म का ही अतिशय कथन करना चाहिए, अधर्म का नहीं। प्रकरण-वक्रता के भीतर उन्होंने नायक या नायिका के चारित्रिक पतन को दिखाने वाली घटनाओं को या रसाभास उत्पन्न करने वाली घटनाओं को वर्जित किया है। मर्यादा

में औचित्य अपने आप आ जाता है। स्थान स्थान पर उन्होंने औचित्य का उल्लेख भी किया है; जैसे, नवीनौचित्य। इसके अतिरिक्त औचित्य नामक गुण की उपस्थिति उन्होंने काव्य के प्रत्येक मार्ग के के लिए आवश्यक बतलाई है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के वास्तविक मूल्याङ्कन के लिए उसके गुण-दोषों पर भी विचार करना आवश्यक है। वक्रोक्तिवादी काव्य का मूलाधार वक्रोक्ति है और यह कुन्तक की दृष्टि में काव्य के सभी तत्त्वों का उपलक्षण है। इस प्रकार इनके साहित्य विवेचन में काव्य के सभी प्रमुख तत्त्व समाहित हैं[1]। कुन्तक ने बड़े ही विदग्धतापूर्ण ढंग से काव्य के प्रमुख लक्षणों, पक्षों, स्वरूपों, विशेषताओं आदि को वक्रोक्ति के भीतर रखने का प्रयत्न किया है। व्यावहारिक समीक्षा में इनका प्रयोग करने से काव्य के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों पक्षों पर विचार हो सकता है; अनुभूति की सार्थकता, उपयोगिता, महत्त्व तथा भाषा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन भी हो सकता है। काव्य के इन्द्रियगोचर[2] बौद्धिक[3] तथा भावात्मक[4] गुणों पर प्रकाश डाला

---

१. कुन्तक की वक्रोक्ति का विस्तार काव्य के चरम अवयव वर्ण से लेकर उसके पूर्णतम रूप प्रबन्ध तक विस्तृत है और उसके भीतर अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, औचित्य, रस, कल्पना, चिन्तन, अनुभूति, वस्तु-विन्यास, वस्तुवर्णन, प्रकृतिवर्णन, चरित्र-चित्रण आदि सभी प्रमुख तत्त्व आ जाते हैं।

२. काव्य के इन्द्रियगोचर गुण—रूप, विस्तार, संयोजना आदि की चर्चा प्रकरणवक्रता एवं प्रबन्ध-वक्रता के भेदों में निहित है।

३. काव्य के बौद्धिक गुण—संगति, विविधता, समप्रमाणता, शुद्धता का उल्लेख प्रकरण वक्रता एवं पदवक्रता के भेदों के भीतर निहित है।

४. काव्य के भावात्मक गुण—संवादित्व, भव्यता, सूचकता, नवनवोन्मेष-शालीनता, स्वार्थनिरपेक्षता आदि का संकेत क्रमशः रस तथा प्रबन्ध वक्रता के विवेचन में मिलता है।

जा सकता है, कवि के पूरे व्यापार तथा उसके समूचे व्यक्तित्व का विश्लेषण भी हो सकता है। कुन्तक की वक्रोक्ति-धारणा के भीतर सभी प्रकार के काव्य रूप समाहित हो सकते हैं; यह दूसरी बात है कि सबके तत्त्वों का उद्घाटन वक्रोक्तिजीवितकार द्वारा नहीं हुआ। प्रकरणवक्रता द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि कुन्तक का वक्रोक्तिवाद काव्य के विभिन्न अंशों के विभिन्न तत्त्वों के सौन्दर्यबोध में भी सहायक हो सकता है। कुन्तक द्वारा निरूपित काव्य के कई तत्त्वों—जैसे, रीति, गुण, अलंकार औचित्य की धारणा उनके युग की दृष्टि से बहुत ही मनोवैज्ञानिक कही जा सकती है। काव्य-भाषा के विभिन्न तत्त्वों, अवयवों आदि का इतना सूक्ष्म विश्लेषण कुन्तक के पहले किसी भारतीय आचार्य ने नहीं किया था। उक्ति में चमत्कार की प्रधानता मानने पर भी आचार्य कुन्तक सर्वत्र हृदय पक्ष के पोषक हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर कान्ता के स्निग्ध विलोकन से वक्रोक्ति की उपमा दी है।[१] इससे भी यही सिद्ध होता है कि वे काव्य में हृदय पक्ष या रस को आवश्यक ही नहीं अनिवार्य समझते हैं। उनकी सम्मति में वक्रोक्ति अलङ्कार से विरहित हो जाय तो हो जाय किन्तु वह रस से कभी विरहित नहीं हो सकती। इसीलिए वे रस की उपस्थिति में वक्रता की उपस्थिति मान लेते हैं। इनकी दृष्टि में वस्तुओं के स्वभाव में उस समय वक्रता आ जाती है जब वे रस के उद्दीपन में समर्थ हो जाती हैं। किन्तु रसविरहित अलङ्कार से या कोरे वाग्वैचित्र्य की उपस्थिति से काव्य में कुन्तक की वक्रता नहीं आ सकती। आचार्य कुन्तक स्वभावोक्ति में किसी अलङ्कार की सत्ता नहीं मानते किन्तु उसमें वस्तु या वर्ण्य का कल्पनापूर्ण संश्लिष्ट वर्णन स्वाभाविकता की रक्षा के साथ रसस्निग्ध

---

१. स्वाभिप्रायसमर्पणप्रवणया माधुर्यमुद्राङ्कया।
विच्छित्याहृदयेऽभिजातमनसामन्तः किमप्युल्लिखत्।
आरूढंरसवासना-परिणतेः काष्ठां कवीनां परं।
कान्तानां च विलोकितं विजयते वैदग्ध्यवक्रं वचः।

—कुन्तक

होने के कारण वक्रोक्ति की सत्ता[1] (वस्तु वक्रता) अर्थात् काव्यत्व मान लेते हैं। यह उनके दिये हुए उदाहरण से भली भाँति स्पष्ट हो रहा है।

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः।
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्ति सरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः।
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः।

कुन्तक की वक्रोक्ति का अनूठापन भाव-विधान से उत्पन्न होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनकी वक्रोक्ति में रस सर्वत्र रहता है। उनकी वक्रोक्ति वैचित्र्य के चक्कर में पड़ कर कभी विचित्र दुनियाँ की नहीं होती, वे सिर पैर की कभी व्यञ्जना नहीं करती, अन्यथा वह सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ न होती। कुन्तक के काव्य-प्रयोजन से जान पड़ता है कि उनकी वक्रोक्ति सामाजिकता, ऐतिहासिकता, राष्ट्रीयता, मानवता, युग की आवश्यकता आदि के सिद्धान्तों को लेकर चलती है[2]। वक्रोक्तिवाद के सिद्धान्तों के अधार पर लिखा हुआ काव्य जीवन के शाश्वत एवं नवीन दोनों मूल्यों की रक्षा में समर्थ हो सकता है[3]। कुन्तक का काव्य सिद्धान्त आज के प्रयोगवादी एवं नवीनतावादी

---

१. उदारस्वपरिस्पन्द सुन्दरत्वेन वर्णनम्। वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता। —वही

२. (क) काव्य प्रयोजन नवीनौचित्य के भीतर ऐतिहासिक, राष्ट्रीय एवं युग के तत्त्व तथा सिद्धान्त आ जाते हैं।
(ख) अन्तश्चमत्कार तथा व्यवहार-सौन्दर्य के भीतर सामाजिक सिद्धान्त आ जाते हैं।
(ग) धर्म एवं मोक्ष के भीतर मानवता का सिद्धान्त आ जाता है।

३. काव्य नवीनौचित्य की प्राप्ति द्वारा जीवन के नवीन मूल्यों की रक्षा करता है एवं अन्तश्चमत्कार, धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति द्वारा जीवन के शाश्वत मूल्यों की रक्षा करता है।

आलोचकों एवं कवियों दोनों के लिए यह संदेश देता है कि वे किस प्रकार काव्य की प्रकृति की रक्षा के साथ साथ नवीनता का स्वागत किस मात्रा में किस दूरी तक कर सकते हैं। बहुधा आज के नवीनतावादी कवि तथा आलोचक नवीनता के आह्वान एवं प्रचार के चक्कर में पड़ कर काव्य की प्रकृति की सुध-बुध ही खो देते हैं और कुछ नवीनता की अनुभूति के बिना ही नूतन बनने के फेर में रंगमंच के भाषणों के समान उसकी ढोल पीटना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि साहित्य की हत्या होने के कारण उस नवीनता की मार्मिकता का कोई प्रभाव या प्रसार जनता के बीच नहीं हो पाता। उनके लिए कुन्तक का निम्नांकित सुझाव सदा स्मरण करने योग्य है कि पहले नवीनता की अनुभूति वांछनीय है, तदनंतर देश, युग की आवश्यकता के अनुसार उसके औचित्य का अभिज्ञान आवश्यक है; इसके पश्चात् वक्रोक्ति पूर्ण ढङ्ग से उसकी व्यंजना; जो कवि के पूरे व्यापार तथा व्यक्तित्व को स्पर्श करती हो।

कुन्तक के काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य लक्ष्य, काव्य परिभाषा, काव्य विशेषता आदि के निरूपण बहुत ही विशद कोटि के हैं। इसका विवेचन कई स्थानों पर हो चुका है। अतः यहाँ संकेत मात्र कर देना ही पर्याप्त है। उपर्युक्त सिद्धांतों तथा गुणों को देखने से जान पड़ता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति-धारणा उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्य धारणा से अधिक व्यापक तथा व्यवस्थित है। इनकी वक्रोक्ति-धारणा के भीतर अलंकारवादी, रीतिवादी तथा गुणवादी संप्रदायों की अपेक्षा काव्य के अधिक स्वरूपों तथा तत्त्वों का विकास हुआ। वक्रोक्तिवाद में कवि-व्यापार, कवि-व्यक्तित्व एवं कवि-कौशल पर जितना बल दिया गया है उतना पूर्ववर्ती आचार्यों के भीतर नहीं मिलता। कुन्तक काव्य के शरीरवादी तत्त्व को ग्रहण कर उसके भीतर ध्वनि, रस-औचित्त्व आदि तत्त्वों के समावेश के कारण आत्मवादी बन गए हैं। कुन्तक का वक्रोक्ति-विवेचन तथा उसके तत्त्वों का व्यवस्थापन निश्चय ही निजी ढंग का है जो उनकी मौलिकता एवं समन्वय बुद्धि का

स्पष्ट संकेत करता है। कुन्तक ने काव्य में भाषा की उपयुक्तता कथा संविधान, पात्र योजना, चरित्र-चित्रण, भाव-योजना, वस्तु-वर्णन तथा नामकरण की उपयुक्तता पर बहुत ही अधिक बल दिया है। यह बल उनकी वैज्ञानिक बुद्धि का सूचक है और आज के समीक्षकों को यह संदेश देता है कि काव्य में प्रत्येक वस्तु की उपयुक्तता तथा यथार्थता पर विचार होना चाहिए। वक्रोक्ति के भेदों तथा उनकी व्याप्ति को देखने से ज्ञात पड़ता है कि कुन्तक की समीक्षा-दृष्टि सर्वांगीण कोटि की थी। वे काव्यालोचन में काव्य का विवेचन सभी दृष्टियों से आवश्यक मानते थे। उसमें अवान्तरार्थ का विच्छेद भी वे आवश्यक समझते थे जिससे साहित्य में अंकित जीवन-तत्त्व के विविध पक्षों एवं कलापक्ष के विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण हो सके। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कुन्तक की वक्रोक्तिधारणा वैयक्तिक होते हुए भी बहुत ही व्यापक, तलस्पर्शिनी, तत्त्वाभिनिवेशिनी एवं मौलिक कोटि की है। निश्चय ही वक्रोक्तिवाद की धारणा को अपना कर कोई भी व्यावहारिक समीक्षक किसी कृति या कवि पर अलंकारवाद रीतिवाद तथा गुणवाद की अपेक्षा अधिक व्यापक, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित कर सकता है।

वक्रोक्तिवाद की सीमाओं को जानने के लिए उसके दोषों को भी जानना आवश्यक है।

(१) सैद्धान्तिक दृष्टि से कुन्तक की वक्रोक्ति धारणा में अतिव्याप्ति दोष है।

(२) ध्वनि संप्रदाय के खंडन के लिए यह संप्रदाय खड़ा हुआ पर उसके खंडन करने में पूर्णतः समर्थ नहीं हो सका।

(३) कुन्तक ने वक्रोक्ति को कवि व्यापार-जन्य तो बतलाया किन्तु कवि-व्यापार का ठीक विवेचन नहीं किया। बस 'वक्रकवि व्यापारशालिनि' कह कर मौन हो गए।

(४) कुन्तक ने अपनी काव्य-परिभाषा में सहृदयों के आह्लाद को काव्य-कसौटी कह कर अपनी एवं अपनी काव्य धारणा की रक्षा तो कर ली किन्तु पाठकों की जिज्ञासा पर ध्यान नहीं दिया अर्थात् 'वक्र-

कवि व्यापारशालिनि' वक्रोक्ति सहृदयों को आह्लाददायक क्यों होती है कैसे होती है ? यह नहीं बतलाया।

(५) कुन्तक का कवि-व्यक्तित्व-विवेचन एवं वर्गीकरण बहुत ही स्थूल कोटि का है।

(६) वक्रोक्ति को सर्वालंकाररूपा मानते हुए स्वाभावोक्ति को अलंकार के क्षेत्र से बाहर निकाल कर भी उसमें काव्यतत्त्व देखना विरोधी तत्त्व उपस्थित करना है।

(७) वक्रोक्ति का सिद्धांत वर्णना को जितना अधिक ध्यान में रख कर चलता है उतना चर्वणा को नहीं। इसीलिए उसमें रस तत्त्व वक्रोक्ति के उपादान तत्त्व रूप में ग्रहण किया गया है।

(८) काव्योक्ति में वक्रता की विवेचना कृति या कर्ता को ही दृष्टि में रखकर अधिक की गई है पाठक को दृष्टि में रखकर बहुत कम। अर्थात् वक्रोक्तिवाद सौन्दर्य का विचार कर्त्ता की दृष्टि से ही अधिक करता है पाठक की दृष्टि से कम।

(९) वक्रोक्ति का वर्गीकरण अधिकांश मात्रा में ध्वनि-भेदों के आधार पर हुआ है। कुंतक ने वक्रोक्ति के विभिन्न तत्त्वों को भामह, दंडी, आनंदवर्धन आदि विभिन्न आचार्यों से लेकर उसकी व्याप्ति को विस्तृत किया।अतः उन्हें मौलिकता का श्रेय वक्रोक्ति तत्त्वों की उद्भावना की दृष्टि से कम दिया जाना चाहिए। मौलिकता का अधिक श्रेय उन्हें वक्रोक्ति के विभिन्न तत्त्वों के संश्लेषण एवं समन्वय की दृष्टि से ही दिया जा सकता है।

(१०) कुन्तक ने अपनी वक्रोक्ति-धारणा का निरूपण प्रायः प्रबंध काव्य एवं नाटकों को ही दृष्टि में रखकर किया, किन्तु उनका वक्रोक्ति-सिद्धांत प्रबंधकाव्य की आलोचना के लिए ही अधिकांश मात्रा में पथ-प्रदर्शन करता है। दृश्यकाव्य की समीक्षा के लिए बहुत कम—मुक्तक-काव्य, प्रगीत-काव्य, कहानी, उपन्यास आदि के लिए तो बहुत ही कम।

(११) कुन्तक ने अपनी वक्रोक्ति का विस्तार इतना अधिक किया कि उससे काव्य के सभी स्वरूपों का निरूपण हो सकता था, किन्तु

उन्होंने अपने वक्रोक्तिवाद द्वारा काव्य के सभी स्वरूपों को समझने का दर्शन उपस्थित नहीं किया।

वक्रोक्तिवाद की स्पष्टता के लिए अलंकारवाद से उसकी तुलना आवश्यक प्रतीत होती है। पहले दोनों की समानताओं पर विचार किया जायगा तदनन्तर दोनों की विषमताओं पर। दोनों सम्प्रदायों में वक्रोक्ति सर्वालंकाररूपा है, वह सभी अलंकारों में निहित है। दोनों की वक्रोक्ति में अलौकिकता तथा अतिशयता मुख्य विशेषता के रूप में बसती है। दोनों की वक्रोक्ति से अर्थ विभावन योग्य होता है। अलंकारवादी अप्रत्यक्ष रूप से वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हैं किन्तु वक्रोक्तिवादी प्रत्यक्ष रूप से, यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि अलंकारवादियों की वक्रोक्ति रसविरहित भी हो सकती है किन्तु वक्रोक्तिवाद की वक्रोक्ति सदा रस से संपृक्त रहती है। दोनों सम्प्रदाय के आचार्य वक्रोक्ति को काव्य में समस्त सौन्दर्य की विधातृ मानते हैं। उसे रस से महत्तर तत्त्व सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु यहाँ भी ध्यान रखने की बात यह है कि अलंकारवादियों की वक्रोक्ति केवल अलंकाररूपा है किन्तु वक्रोक्तिवाद की वक्रोक्ति काव्य के समस्त तत्त्वों की उपलक्षण है। दोनों सम्प्रदाय अभिधावादी हैं किन्तु एक (अलंकार सम्प्रदाय) काव्य में ध्वनि का अभाव मानता है तो दूसरा (वक्रोक्तिवाद) अपनी विशिष्टा अभिधा में ध्वनि का अन्तर्भाव कर लेता है।

विषमता

अलंकार सम्प्रदाय	वक्रोक्ति सम्प्रदाय
अलंकार सम्प्रदाय की दृष्टि में वक्रोक्ति या अलंकार का भाव-विधान की प्रक्रिया से उद्भूत होना आवश्यक नहीं। अतः इनके अलंकार सदा रसपूर्ण नहीं रहते।	वक्रोक्ति सम्प्रदाय की वक्रोक्ति या अलंकार सदा भाव-विधान की प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं अतः वे सदा रस पूर्ण रहते हैं, उनमें रस प्राण रूप में वर्तमान रहता है।

इनका चमत्कार कभी कभी बौद्धिक एवं शाब्दिक, होता है। वह कोरे वाग्वैचित्र्य को लेकर भी काव्य में प्रतिष्ठित हो सकता है।	कुन्तक सदा रसजन्य चमत्कार के उपासक हैं क्योंकि उनके चमत्कार का अर्थ है अन्तश्चमत्कार।
अलंकारवादियों की वक्रोक्ति कभी कभी विस्मित भी करती है कुतूहल भी उत्पन्न करती है क्योंकि वह बुद्धि-व्यापार से भी उत्पन्न हो सकती है।	इनकी वक्रोक्ति सदा कवि-व्यापार से उत्पन्न होने के कारण सहृदयों को आह्लादित करती है, उन्हें भाव-सरिता में मग्न करती है।
अलंकारवादी, यत्न से अलंकार लादने का आदेश देते हैं अर्थात् अलंकार या वक्रोक्ति को बुद्धि जन्य भी मान लेते हैं।	कुन्तक यत्न से वक्रोक्ति-सृष्टि का कभी आदेश नहीं देते। उसी कथन-प्रकार को वक्रोक्ति मान सकते हैं जो पूरे कवि व्यापार से उत्पन्न हो, जिसका सम्बन्ध कवि के पूरे व्यक्तित्व से हो।
अलंकारवाद के अलंकार की कसौटी वक्रता, अलौकिकता, अतिशयता है; चाहे वह यत्न से आये चाहे अयत्न से; चाहे वह बुद्धि से उत्पन्न हो चाहे प्रतिभा से; चाहे रमणीय हो चाहे अरमणीय;	वक्रोक्तिवाद के अलंकार की कसौटी नैसर्गिकता, औचित्य, निर्व्यसनता, अयत्नविहितता, प्रतिभानिर्वर्तित्व एवं रमणीयता है।
अलंकारवादियों के अलंकार वर्णनीय-अवर्णनीय, धर्म-अधर्म का विचार नहीं करते, केवल कथन में अतिशयता लाना चाहते हैं चाहे वह किसी वस्तु, धर्म या अधर्म का हो।	कुन्तक के अलंकार सदा वर्णनीय के धर्म का ही अतिशय कथन करते हैं।
अलंकारवादियों की दृष्टि में अलंकार-व्यापार में कवि-व्यापार समाया है।	कुन्तक की दृष्टि में काव्य-व्यापार तथा वक्रोक्ति-व्यापार दोनों एक हैं।

अलंकारवादियों की वक्रोक्ति का अनूठापन कभी कभी भाव-विधान के बाहर की भी वस्तु होता है, क्योंकि वह कभी कभी बुद्धिजन्य भी होती है, यत्न से भी काव्य में बिठाई जाती है।	कुन्तक की वक्रोक्ति सदा प्रतिभा से ही उत्पन्न होती है, अतः उसका अनूठापन कभी भावविधान के बाहर की वस्तु नहीं होता।
अलंकारवादियों की दृष्टि में वक्रता सदा अलंकार धारण करने से ही आती है। इनकी दृष्टि में स्वभावोक्ति में वस्तु-वक्रता अलंकार के कारण है।	कुन्तक की दृष्टि में वक्रता भाषा-वैचित्र्य, पात्र योजना, चरित्र चित्रण, कथा संविधान, भाव व्यंजना, वस्तु वर्णन, नामौचित्य, रस-संचार आदि अनेक तत्त्वों से आती है। इनकी दृष्टि से स्वभावोक्ति में वक्रता वस्तु वैशिष्ट्य के कारण है।
स्वभावोक्ति को भामह, दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्य एक अलंकार मानते हैं।	कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते, क्योंकि उसका सम्बन्ध वर्ण्य से है। वे स्वभावोक्ति में वर्ण्य-वक्रता के कारण उसका समावेश वक्रोक्ति के भीतर कर लेते हैं।
रस को अलंकारवादी आचार्य अलंकार का एक भेद मानते हैं। अलंकारवादी रस को अलंकार का भेद मान कर वर्ण्य एवं वर्णन प्रणाली को एक कर देते हैं।	आचार्य कुन्तक रसवत् अलंकार को वर्ण्य से सम्बन्ध रखने वाला तत्त्व कह कर उसका अन्तर्भाव वर्ण्य के भीतर करते हैं। इस प्रकार कुन्तक वर्ण्य एवं वर्णन प्रणाली को अलग करने में समर्थ हो जाते हैं।
अलंकारवादी अतिशयोक्ति को अलंकारों का प्राण कहते हैं। इसीलिए इनकी वक्रोक्ति कभी कभी अतिशयोक्ति की अतिरेकता में बे सिर पैर की व्यंजना करने लगती है, कोरा वाग्वैचित्र्य भी दिखाने लगती है।	ये रस को सब अलंकारों का प्राण मानते हैं। इसीलिए इनकी वक्रोक्ति कभी बे सिर पैर की व्यंजना नहीं करती, केवल शाब्दिक चमत्कार नहीं दिखाती तथा कोरा वाग्वैचित्र्य नहीं प्रकट करती।

अलंकारवादियों की दृष्टि में अलंकार को धारण करने से कवियों की वाणी, जीवन से स्पन्दित होती है, अमरता प्राप्त करती है।

'आचार्य कुन्तक की सम्मति में रसनिर्भर होने से कवियों की वाणी जीवन से स्पन्दित होती है, अमरता धारण करती है।

अलंकारवादी आचार्य कल्पनातत्त्व पर सबसे अधिक बल देते हैं।

आचार्य कुन्तक अपने वक्रोक्ति-वाद में कल्पना, चिन्तन एवं अनुभूति का समन्वय करते हुए प्रतीत होते हैं।

अलंकारवाद अलंकार तत्त्व को इतना विस्तृत नहीं कर सका कि उसमें काव्य का एक व्यवस्थित दर्शन देखा जा सके।

अलंकार सम्प्रदाय के सभी अलंकार दो वक्रोक्ति प्रकारों (वर्ण वक्रता तथा वाक्य वक्रता) में समा जाते हैं। भाषा के जिन सूक्ष्म तत्त्वों, कथा संविधान के सौन्दर्यों एवं प्रबन्ध-कौशल के साधनों का विस्तृत एवं सूक्ष्म रूप वक्रोक्तिवाद में जैसा विकसित हुआ है वैसा अलंकारवाद में नहीं। वक्रोक्तिवाद में विवेचित काव्य की प्रकृति, तत्त्व स्वरूप, उद्देश्य, हेतु तथा शैली, अलंकार सम्प्रदाय से अधिक व्यापक एवं मनोवैज्ञानिक है। इसमें काव्य के अधिक तत्त्वों एवं गुणों का अधिक विकास हुआ है।

वक्रोक्तिवाद वक्रोक्ति को काव्य के एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में उपस्थित करता है।

इधर जब से शुक्लजी ने अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा तब से कुन्तक के वक्रोक्तिवाद की चर्चा के समय अभिव्यंजनावाद का स्मरण प्रायः हिन्दी के समीक्षक करने लगे हैं। अतः वक्रोक्तिवाद की तुलना अभिव्यंजनावाद से करके यह देखना आवश्यक है कि शुक्लजी का वाक्य अर्थवाद के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए अथवा सिद्धान्तवाद के रूप में। दोनों वादों में साम्य से अधिक वैषम्य ही है; अतः दोनों के साम्य पर पहले विचार करना चाहिए।

दोनों की दृष्टि में कविता का मूल स्रोत अन्तर्जगत (प्रतिभा) है। दोनों कविता में व्यापार की प्रधानता मानते हैं, और दोनों ही उस व्यापार को अलौकिक (वक्र) कहते हैं। इस प्रकार काव्यात्मक अभिव्यंजना का सम्बन्ध दोनों मानस व्यापार से जोड़ते हैं। क्रोचे के स्वयंप्रकाश-व्यापार में पड़ते ही वस्तु का रूप अभिनव, अलौकिक हो जाता है। उधर कुन्तक का काव्य-व्यापार, वस्तु या वर्ण्य के धर्म के अतिशय कथन द्वारा उसे लोकोत्तर बना देता है। वस्तु की अनुभूति या प्रभाव क्रोचे की दृष्टि से मौलिक जाति या गुण से भिन्न नहीं होना, केवल उसमें मात्रा-भेद या विस्तार-भेद हो जाता है और यही उसे अलौकिक बना देता है; इधर वक्रोक्तिवाद में भी वर्णनीय के धर्म का अतिशय कथन उसे लोकोत्तर रूप देते हुए भी उसके गुण एवं जाति में अन्तर नहीं डालता, केवल विस्तार या मात्रा में ही अन्तर उत्पन्न करता है। क्रोचे अभिव्यंजना-व्यापार को सौन्दर्य व्यापक-व्यापार कहते हैं और इसी व्यापारकाल को सौन्दर्यानुभूति काल मानते हैं; कुन्तक भी कवि-व्यापार को वक्रोक्ति जनक-व्यापार कहते हैं और यह वक्रोक्ति उनकी दृष्टि में काव्य के सौन्दर्य-विधायक समस्त तत्त्वों की उपलक्षण है; अतः इनका वक्रोक्ति-व्यापार भी प्रकारान्तर से सौन्दर्य-व्यापक-व्यापार सिद्ध हुआ और वह व्यापारकाल सौन्दर्यानुभूति का काल। किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि दोनों के काव्य-व्यापारों की धारणायें स्वरूप, प्रकृति आदि भिन्न हैं तथा साथ ही दोनों के काव्य-सौन्दर्य की धारणा, प्रयोजन, निर्माणकारी तत्त्वों में भी पर्याप्त अन्तर है।

दोनों रचना-नैपुण्य या कवि-कौशल पर बल देते हैं। क्रोचे रचना-नैपुण्य को कवि के मानसिक-व्यापार द्वारा उत्पन्न मानते हैं और कुन्तक कवि-कौशल को प्रौढ़-प्रतिभा द्वारा। क्रोचे का स्वयं-प्रकाश-ज्ञान द्रव्य-संवेदन तथा भावात्मकता पर आधारित है। कोई मनुष्य अभिव्यंजना को जन्म से ही अभिव्यंजना के रूप में ग्रहण नहीं करता, व्युत्पत्ति और अभ्यास से अभिव्यंजना को उसकी पूर्णता के रूप में ग्रहण करने में समर्थ होता है। आचार्य कुन्तक भी व्युत्पत्ति और अभ्यास से परिपक्व प्रतिभा को वक्रोक्ति-सर्जना में समर्थ मानते हैं। क्रोचे की दृष्टि में स्वयं-प्रकाश-ज्ञान कई तरह का होता है। इधर कुन्तक की प्रतिभा भी कई तरह की होती है। क्रोचे काव्य या कला के स्वयं-प्रकाश-ज्ञान को अन्य स्वयंप्रकाशों से भिन्न कोटि का मानते हैं। इसी प्रकार कुन्तक कवि के प्रातिभज्ञान को अन्य विषयों के प्रातिभ-ज्ञान से भिन्न कोटि का मानते हैं। क्रोचे के मत में काव्य या कला की अभिव्यंजना दैनिक व्यवहार संबंधी अभिव्यंजनाओं से भिन्न कोटि की होती है। इधर कुन्तक ने भी अपनी वक्रोक्ति की व्याख्या 'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकि एवं 'अतिक्रांतप्रसिद्ध व्यवहार-सरणि' के रूप में की है। अभिव्यंजनावाद में स्वयंप्रकाश से कल्पना उद्भूत होती है जो द्रव्य (Matter) को नया रूप देती है। वक्रोक्ति में प्रतिभा या कवि-व्यापार से कल्पना उत्पन्न होकर वस्तु को नया रूप देती है। क्रोचे का कवि-साक्षात्कार जो स्वयंप्रकाश का कारण होता है, वह असामान्य अथवा अलौकिक कोटि का होता है, बहुत ही तलस्पर्शी एवं तत्वाभिनिवेशी होता है। कुन्तक द्वारा निरूपित कवि की अम्लान प्रतिभा जो वर्ण्य-साक्षात्कार की कारण होती है, वह असामान्य कोटि की होती है, क्रोचे की कल्पना के समान ही कुन्तक की कल्पना भी बहुत ही तलस्पर्शी तथा तत्त्वाभिनिवेशी प्रकार की होती है। अतः उससे उद्भूत अन्तर्दृष्टि भी असामान्य कोटि की होती है। क्रोचे स्वयंप्रकाश में तथा कुन्तक प्रतिभा में अरूप को रूप देने की क्षमता मानते हैं। जिस प्रकार क्रोचे स्वयंप्रकाश और अभिव्यंजना

में अयुतसिद्ध सम्बन्ध मानते हैं उसी प्रकार कुन्तक कवि-प्रतिभा तथा वक्रोक्ति में। दोनों आचार्य काव्याभिव्यक्ति को एक अन्विति के रूप में देखते हैं। जिस प्रकार क्रोचे काव्याभिव्यंजना में शब्दार्थ की असंभिन्नता मानते हैं उसी प्रकार कुन्तक भी (शब्दार्थौकाव्यमिति अत्र को एकमिति वैचित्र्योक्तिः)। दोनों ही अभिधावादी आचार्य हैं। कुन्तक की अभिधा विशिष्ट कोटि की है, उसमें व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ भी समाहित हो जाते हैं, किन्तु क्रोचे वाच्यार्थ का कोई व्यंग्यार्थ नहीं मानते। क्रोचे और कुन्तक दोनों काव्य की वास्तविकता को इतिहास की वास्तविकता से अलग मानते हैं। दोनों आचार्य काव्य में कल्पना चिन्तन एवं अनुभूति का समन्वय मानते हुए भी कल्पना पर सबसे अधिक बल देते हैं और उसमें, क्रोचे कुन्तक से भी अधिक कल्पना को काव्य-सर्जना में महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

कुन्तक और क्रोचे की निम्नांकित विषमताओं से यह प्रगट होता है कि दोनों के प्रस्थान में भेद होने के कारण ही दर्शन में अधिक भेद हो गया है। उपर्युक्त समता के तत्त्व तो मानव-प्रकृति, काव्य-प्रकृति एवं उसकी प्रक्रिया, सभी देशों एवं सभी कालों में न्यूनाधिक अन्तर से समान होने के कारण दोनों आचार्यों में मिलते हैं। अर्थात् कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का कोई प्रभाव क्रोचे पर नहीं पड़ा जिससे कोई यह परिणाम निकाले कि उसने देश एवं काल के अनुसार वक्रोक्तिवाद को ही अभिनव रूप दिया।

क्रोचे

(१) क्रोचे ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ एसथेटिक में अभिव्यक्ति सौन्दर्य का दर्शन उपस्थित किया है। वह काव्य की अभिव्यक्ति को कला की अभिव्यक्ति से भिन्न नहीं मानता। काव्य को कला के भीतर परिगणित करने के कारण ही वह कवि के मन को ही सबसे अधिक महत्त्व देता है तथा सौन्दर्य को केवल व्यक्तिनिष्ठ मानता है। रस, अलंकार, औचित्य आदि काव्य तत्त्वों का निरूपण वह कला-समीक्षा को अपनाने के कारण ही उपयोगी नहीं मानता और इसी कारण वह काव्य भावना को ज्ञानात्मक अधिक मानता है।

कुन्तक

आचार्य कुंतक काव्य के विशुद्ध आलोचक के रूप में अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में प्रगट होते हैं। उनके काव्य-दर्शन का आधार भारतीय रस-सिद्धांत तथा अलंकार सिद्धान्त है। इसीलिए वे काव्य को भावात्मक या अनुभूत्यात्मक मानते हैं और काव्य के विभिन्न तत्त्वों को अपनी वक्रोक्ति के भीतर उचित स्थान देते हैं और विशुद्ध साहित्यिक के रूप में प्रत्येक तत्त्व का स्वरूप, स्थान एवं उपयोगिता काव्य में निरूपित करते हैं। रस-सिद्धांत को दर्शन रूप में अपनाने के कारण कुंतक की सौन्दर्यविषयक व्यक्तिनिष्ठता समाजोन्मुखी हो गई है तथा अलंकार सिद्धान्त को अपनाने के कारण अभिव्यक्ति अलौकिक।

क्रोचे सौन्दर्य बोध का अर्थ लेते हैं उन प्रभावों का ग्रहण जो सौन्दर्यात्मक अभिव्यंजना के योग्य हैं। क्रोचे सौन्दर्य को सम्पूर्ण रूपेण मानसिक मानते हैं, उनकी दृष्टि में भौतिक तथ्यों में सौन्दर्य नहीं बसता, द्रष्टा के मन में बसता है।

कुन्तक की दृष्टि में सौन्दर्यबोध का अर्थ वर्ण्य के उस विचित्र स्वरूप का दर्शन है जो लोकोत्तरचमत्कारकारी तथा सहृदयजन आह्लादकारी होता है। कुन्तक सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ दोनों मानते हैं इसलिए वर्णनीय शब्द का नाम लेते हैं।

3) क्रोचे सौन्दर्याभिव्यक्ति को सफल अभिव्यंजना मानते हैं, इसमें न्यूनाधिक सौन्दर्य के लिए, या कम सफल अधिक सफल अभिव्यंजना के लिए स्थान नहीं है। क्योंकि इनके सौन्दर्य में किसी प्रकार के भेद या वर्गीकरण के लिए स्थान नहीं है। क्रोचे किसी शाब्दी अभिव्यंजना का गद्य पद्य, चम्पू, प्रबन्ध, मुक्तक, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि रूपों में वर्गीकरण पसन्द नहीं करते। इनकी दृष्टि में वर्गीकरण कला कृति के सौन्दर्य को नष्ट कर देता है।

4) क्रोचे सौन्दर्य का आधार साँचा* या रूप (form मानते हैं, द्रव्य या प्रकृति नहीं। इन्हें प्रकृति के सामान्य रूपों में, दैनिक जीवन के कर्तव्यों में, जगत की परिस्थितियों, दृश्यों, घटनाओं में सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता। कल्पना की सहायता के बिना इन्हें कहीं सौन्दर्य नहीं प्रतीत होता।

5) क्रोचे काव्यानुभूति को सौन्दर्यानुभूति मानते हैं। कवि के हृदय में यह मनोदशा अभिव्यंजना की द्वितीय स्थिति में वस्तु संवेदनों के काल्पनिक रूप धारण करने पर उत्पन्न होती है।

(3) कुन्तक सौन्दर्याभिव्यक्ति का अर्थ वक्रोक्ति लेते हैं जिसमें काव्य के सभी तत्त्व संगतिपूर्ण ढंग से व्यवस्थित रहते हैं। कुन्तक भी सिद्धान्ततः अभिव्यंजना शैलियों का उत्तम, मध्यम, अधम भेद करनी उचित नहीं समझते किन्तु उनके विश्लेषण से यह जान पड़ता है कि उनके विचित्र मार्ग में काव्य के सबसे अधिक गुण रहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से काव्य के विभिन्न तत्त्वों, अंगों को समझने समझाने के लिए वे अपनी वक्रोक्ति का वर्गीकरण भी पसन्द करते हैं, जिनका विवेचन पहले हो चुका है।

(4) कुन्तक अपने सौन्दर्य का आधार इसी जगत और जीवन को मानते हैं, तभी तो रस को अलंकार का प्राण कहते हैं। कभी कभी वस्तु के स्वाभाविक संश्लिष्ट रूप में भी वे सौन्दर्य का दर्शन करते हैं जिसे वे स्वभावोक्ति (वस्तु वक्रता) के नाम से पुकारते हैं।

(5) वक्रोक्ति जीवितकार काव्यानुभूति को रसानुभूति मानते हैं; और काव्यानुभूति का परिणाम आह्लाद, आनन्द या अन्तःचमत्कार समझते हैं। इनका काव्यानन्द सतोगुण प्रधान है।

* साँचा (Form) मन या आत्मा का कारखाना है जिसमें सौन्दर्य की सृष्टि होती है, वस्तु-संवेदनों को रूप मिलता है।

सौन्दर्यानुभूति के अनन्तर चित्त में रजोगुण प्रधान भौतिक आनन्द उत्पन्न होता है। यह अभिव्यंजना की तृतीय स्थिति है। चतुर्थ स्थिति में कवि या कलाकार अपने सौन्दर्यबोध को स्थूल भौतिक रूपों में—शब्द, ध्वनि, रेखा, रंग आदि के माध्यम से अवतरित करता है।

क्रोचे की अभिव्यंजना का विस्तार कुन्तक की अभिव्यंजना से बहुत विस्तृत है। वह शब्दों तक ही सीमित न होकर रेखाओं, रंगों, ध्वनियों की अभिव्यक्ति तक भी व्याप्त है। इतना ही नहीं उसकी अभिव्यंजना का क्षेत्र इनसे भी विस्तृत है, क्योंकि ये तो स्थूल या भौतिक अभिव्यंजनायें हैं। क्रोचे की दृष्टि में पाँचों प्रकार की कलायें—चित्रकला, मूर्तकला, संगीतकला, स्थापत्यकला और काव्य-कला तो भौतिक अभिव्यंजनायें हैं। वास्तविक अभिव्यंजना तो सहजानुभूति नामक मानस-व्यापार से हो जाती है। इसी का भौतिक रूप कलाओं के रूप में प्रगट होता है।

कुन्तक की अभिव्यंजना का अर्थ केवल शाब्दी अभिव्यंजना है; इसीलिए उनकी वक्रोक्ति केवल काव्य तक ही सीमित है।

अभिव्यंजना की कसौटी स्वयं-प्रकाश (intuition) है।

वक्रोक्ति की कसौटी सहृदयों का आह्लाद है।

क्रोचे अनुभूति पर अधिक बल देने के कारण मनुष्य को जन्म से ही कवि रूप में पैदा मानते हैं। मनुष्य के अन्य व्यापारों की भाँति कवि का व्यापार भी चेतन मन का व्यापार है।	कुन्तक प्रतिभा पर अधिक बल देने के कारण कवि को अधिक मात्रा में जन्म से पैदा मानते हैं। कवित्व शक्ति की महत्ता स्वीकार करते हुए भी व्युत्पत्ति तथा अभ्यास द्वारा ही उसकी परिपक्वता संभव मानते हैं। इस प्रकार वे कवि-व्यक्तित्व के पूरे विकास पर भी बल देते हैं।
इस प्रकार क्रोचे अभिव्यंजना को चेतन मन की क्रिया मानते हैं।	कुन्तक वक्रोक्ति को चित्तच्छाया-पन्न मन की क्रिया कहते हैं।
अभिव्यंजना की कमी का अर्थ अनुभूति की कमी है। अभिव्यंजना में सौन्दर्य का कारण अनुभूति की तीव्रता या मार्मिकता है।	वक्रोक्ति में सौन्दर्य की कमी का कारण प्रतिभा की कमी, अपरिपक्वता या म्लानता है। इसी प्रकार सौन्दर्य का कारण प्रतिभा की प्रौढ़ता, परिपक्वता, अम्लानता है।
अभिव्यंजना में कवि साँचे (form), अथवा कल्पना-व्यापार से अपनी व्यक्तिमत्ता प्रगट करता है। मूल पदार्थ (matter) को अलौकिक रूप देने में ही कवि का व्यक्तित्व प्रगट होता है।	वक्रोक्ति में कवि, काव्य के प्रत्येक तत्त्व के चुनाव, वस्तु चयन एवं संविधान में अपना व्यक्तित्व प्रगट करता है।
क्रोचे के कवि-व्यक्तित्व में व्यक्ति-वैचित्र्य अधिक है।	कुन्तक के कवि-व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य समाजोन्मुखी अधिक है।
क्रोचे कला का उद्देश्य उपदेश, अर्थ-धर्म-मोक्ष-कामादि की प्राप्ति, व्यवहार-सौन्दर्य की शिक्षा, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति आदि नहीं मानता। उसकी दृष्टि से कला का उद्देश्य कला में ही निहित है, अर्थात् कलात्मकता की रक्षा में निहित है।	कुन्तक काव्य का उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से सहृदयों को आनंद देना, अर्थात् उनके हृदय का विस्तार करना, व्यवहार सौन्दर्य, नवीनौचित्य तथा चतुर्वर्ग फल प्राप्ति मानते हैं।

सौन्दर्यानुभूति के अनन्तर चित्त में रजोगुण प्रधान भौतिक आनन्द उत्पन्न होता है। यह अभिव्यंजना की तृतीय स्थिति है। चतुर्थ स्थिति में कवि या कलाकार अपने सौन्दर्यबोध को स्थूल भौतिक रूपों में—शब्द, ध्वनि, रेखा, रंग आदि के माध्यम से अवतरित करता है।

क्रोचे की अभिव्यंजना का विस्तार कुन्तक की अभिव्यंजना से बहुत विस्तृत है। वह शब्दों तक ही सीमित न होकर रेखाओं, रंगों, ध्वनियों की अभिव्यक्ति तक भी व्याप्त है। इतना ही नहीं उसकी अभिव्यंजना का क्षेत्र इनसे भी विस्तृत है, क्योंकि ये तो स्थूल या भौतिक अभिव्यंजनायें हैं। क्रोचे की दृष्टि में पाँचों प्रकार की कलायें—चित्रकला, मूर्तकला, संगीतकला, स्थापत्यकला और काव्यकला तो भौतिक अभिव्यंजनायें हैं। वास्तविक अभिव्यंजना तो सहजानुभूति नामक मानस-व्यापार से हो जाती है। इसी का भौतिक रूप कलाओं के रूप में प्रगट होता है।

कुन्तक की अभिव्यंजना का अर्थ केवल शाब्दी अभिव्यंजना है; इसीलिए उनकी वक्रोक्ति केवल काव्य तक ही सीमित है।

अभिव्यंजना की कसौटी स्वयंप्रकाश (intuition) है।

वक्रोक्ति की कसौटी सहृदयों का आह्लाद है।

क्रोचे अनुभूति पर अधिक बल देने के कारण मनुष्य को जन्म से ही कवि रूप में पैदा मानते हैं। मनुष्य के अन्य व्यापारों की भाँति कवि का व्यापार भी चेतन मन का व्यापार है।	कुन्तक प्रतिभा पर अधिक बल देने के कारण कवि को अधिक मात्रा में जन्म से पैदा मानते हैं। कवित्व शक्ति की महत्ता स्वीकार करते हुए भी व्युत्पत्ति तथा अभ्यास द्वारा ही उसकी परिपक्वता सम्भव मानते हैं। इस प्रकार वे कवि-व्यक्तित्व के पूरे विकास पर भी बल देते हैं।
इस प्रकार क्रोचे अभिव्यंजना को चेतन मन की क्रिया मानते हैं।	कुन्तक वक्रोक्ति को चित्तछाया-पन्न मन की क्रिया कहते हैं।
अभिव्यंजना की कमी का अर्थ अनुभूति की कमी है। अभिव्यंजना में सौन्दर्य का कारण अनुभूति की तीव्रता या मार्मिकता है।	वक्रोक्ति में सौन्दर्य की कमी का कारण प्रतिभा की कमी, अपरिपक्वता या म्लानता है। इसी प्रकार सौन्दर्य का कारण प्रतिभा की प्रौढ़ता, परिपक्वता, अम्लानता है।
अभिव्यंजना में कवि साँचे (form), अथवा कल्पना-व्यापार से अपनी व्यक्तिमत्ता प्रगट करता है। मूल पदार्थ (matter) को अलौकिक रूप देने में ही कवि का व्यक्तित्व प्रगट होता है।	वक्रोक्ति में कवि, काव्य के प्रत्येक तत्त्व के चुनाव, वस्तु चयन एवं संविधान में अपना व्यक्तित्व प्रगट करता है।
क्रोचे के कवि-व्यक्तित्व में व्यक्ति-वैचित्र्य अधिक है।	कुन्तक के कवि-व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य समाजोन्मुखी अधिक है।
क्रोचे कला का उद्देश्य उपदेश, अर्थ-धर्म-मोक्ष-कामादि की प्राप्ति, व्यवहार-सौन्दर्य की शिक्षा, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति आदि नहीं मानता। उसकी दृष्टि से कला का उद्देश्य कला में ही निहित है, अर्थात् कलात्मकता की रक्षा में निहित है।	कुन्तक काव्य का उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से सहृदयों को आनंद देना, अर्थात् उनके हृदय का विस्तार करना, व्यवहार सौन्दर्य, नवीनौचित्य तथा चतुर्वर्ग फल प्राप्ति मानते हैं।

(९४) क्रोचे, कला का उद्देश्य कला मानने पर इसीलिए बल देता है कि किसी कलाकृति में कलात्मकता की रक्षा करने पर कला के जीवन सम्बन्धी अन्य उद्देश्य अपने आप सिद्ध हो जायँगे और इसके विरुद्ध कला का उद्देश्य कला न बना कर अन्य जीवन सम्बन्धी बातों को, बनाने पर कलाकृति की कलात्मकता में कमी आएगी। अतः अन्य उद्देश्यों की सिद्धि भी कलात्मकता की कमी के परिणाम के अनुसार कम मात्रा में होगी।

(९४) कुन्तक भी एक प्रकार से कलावादी साहित्य के पोषक हैं, किन्तु जीवन तत्त्व पर इतना अधिक बल देते हैं कि उसका प्रत्यक्ष संबंध उद्देश्य रूप में जीवन से स्थापित करते हैं।

(९५) क्रोचे, कलाकार या कवि को कलाकृति में कलात्मकता की रक्षा का आदेश देते हैं और यह सोचते हैं कि कलात्मकता की रक्षा से जीवन-तत्त्व के उद्देश्य अपने आप सिद्ध हो जाएँगे। क्रोचे जब कला की कलात्मकता सुंदर शब्द से निरूपित करते हैं तो उसका यह अर्थ नहीं है कि वे सत्यं, शिवं को कला के क्षेत्र से भगा देते हैं। सौन्दर्य के ऊपर बल देने का तात्पर्य यही है कि वे कलाक्षेत्र की मूलवस्तु को बल पूर्वक कहते हैं। वस्तुतः सत्यं शिवं का क्षेत्र तो तर्कशास्त्र दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि का है। सत्यं शिवं कला में अपने को सुंदर रूप में परि-

(९५) आचार्य कुंतक भी काव्य का उद्देश्य जीवन मानते हुए काव्य-प्रकृति की रक्षा में सदैव सतर्क हैं। आज के मार्क्सवादी आलोचकों के समान काव्य-प्रकृति की हत्या करके जीवन तत्त्व की सिद्धि का आदेश नहीं देते। निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि कुंतक के वक्रोक्तिवाद में कवियों को कलातत्त्व एवं जीवन-तत्त्व दोनों की रक्षा का आदेश सम्यक् रूप में मिलता है। कुंतक भी क्रोचे के समान काव्य की परीक्षा इतिहासादि दूसरे विषयों के मानदंडों से नहीं करना चाहते।

वर्त्तित कर देते हैं। इसी बात को क्रोचे ने बलपूर्वक प्रगट करने के लिए यह कहा कि सत्यं शिवं के साथ कला का संबंध नहीं है। कला का संबंध तो केवल सौन्दर्य से ही है। जब वह यह कहता है कि कला का क्षेत्र अलग है, अतः उसका मूल्य दूसरे क्षेत्रों के मूल्यों से नहीं आँकना चाहिए तब उसका तात्पर्य यही है कि कला के साथ सहानुभूतिपूर्ण न्याय किया जाय। दूसरे विषयों के मानदंड से कला की परीक्षा करने पर कला के ऊपर अत्याचार होता है।

(१६) क्रोचे काव्य का संबंध जीवन से परोक्ष रूप में मानते हैं। कला का संबंध जीवन से परोक्ष रूप में मानने का कारण यही है कि वे काव्य या कला को निरपेक्ष स्वतंत्र सत्ता प्रदान करते हैं। काव्य को निरपेक्ष स्वतंत्र सत्ता देने का कारण यही है कि वे जीवन के तत्त्वों को कला में सदा अलौकिक रूप में देखना चाहते हैं।

(१६) कुंतक काव्य का संबंध जीवन से प्रत्यक्षरूप में स्थापित करते हैं। यह उनके काव्य-प्रयोजनों से भली-भाँति स्पष्ट हो रहा है। इस प्रकार वे काव्य को सापेक्ष सत्ता देते हैं, स्वतंत्र नहीं। इसका मूल कारण यही है कि भारतवर्ष में काव्य की गणना कला के भीतर नहीं की गई। भारतीय काव्य में मानव जीवन के लौकिक स्वरूपों, कर्त्तव्यों आदि को ही स्थान दिया गया है। आचार्य कुंतक ने काव्य को, वक्रोक्तिवाद का पल्ला पकड़ कर भी जो सामान्य पाठकों को वैचित्र्यपूर्ण लगता है—भारतीय काव्य-प्रकृति से कभी अलग नहीं होने दिया

(१८) क्रोचे काव्य-जगत्त को प्रत्यक्ष जगत से भिन्न मानते हुए भी, कवि के मन की एकमात्र सृष्टि मानते हुए भी उसे कपोल कल्पना पर आधारित नहीं मानता। वस्तुतः क्रोचे के कवि का मन भी तो वस्तु जगत के प्रतिबिम्ब से ही बना है, वह इसी जगत की वस्तुओं से संवेदन प्राप्त करता है। उसके मूर्त्त-विधान में भी इसी जगत के पदार्थ सहायक होते हैं। अतः उसके व्यापार से उत्पन्न होनेवाली वस्तु भी इस जगत् से बिलकुल भिन्न नहीं होगी। इस प्रकार क्रोचे काव्य या कला का संबंध जीवन से घनिष्ठ रूप में मानता है। पर इस सम्बन्ध को अप्रत्यक्ष रूप में स्थापित करता है जब क्रोचे स्वप्रकाश जन्य अनुभूति मात्र को अभिव्यंजना के बिना काव्य की संज्ञा देने के लिए तैय्यार है तब यह कहने की गुंजायश ही नहीं है कि क्रोचे के काव्य का सम्बन्ध जीवन से घनिष्ठ रूप में नहीं है। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि क्रोचे का काव्य-सम्बन्ध जीवन से व्यापक एवं कलात्मक रूप में है।

(१८) कुन्तक के कवि-व्यक्तित्व, कवि-शक्ति (प्रौढ़ प्रतिभा) एवं उसके निर्माणकारी तत्त्व —व्युत्पत्ति अभ्यास आदि; काव्योद्देश्य (आह्लाद या अन्तश्चमत्कार), काव्य-प्रयोजन (चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति, नवीनौचित्यादि) तथा प्रकरण-वक्रता के कतिपय भेदों से यह विदित होता है कि उसके काव्य का सम्बन्ध जीवन से प्रत्यक्ष कलात्मक अनन्य एवं घनिष्ठ कोटि का है।

(१८) क्रोचे ने काव्य में कल्पना तत्त्व को सबसे प्रधान एवं व्यापक तत्त्व माना है। इसका मूल कारण यही है कि उसने काव्य को अन्य कलाओं के भीतर रखा है जहाँ कल्पना का प्राचुर्य रहता है। उसको मूल वस्तु में सौन्दर्य नहीं दिखाई दिया, उसका भी यही कारण है; क्योंकि चित्रकारी, नक्काशा, स्थापत्य आदि कलाओं में मूल वस्तु का कोई महत्त्व सामान्य दृष्टि से नहीं दिखाई पड़ता।

(१८) कुन्तक ने वक्रोक्ति को सर्वालंकार-रूपा कहकर कल्पना को काव्य के भीतर बहुत व्यापक स्थान दिया है; किन्तु उसकी कसौटी प्रतिभा-निर्वर्त्तित्व मानकर उसे अनुभूति अथवा भावात्मकता के आश्रित कर दिया है अर्थात् उसका स्वतंत्र स्थान छीन लिया है। कुन्तक का वक्रोक्तिवाद सदा रस-सिद्धांत के मेल में चलता है।

(१९) क्रोचे कल्पना को आत्मा की निजी क्रिया मानते हैं। भावद्वारा प्रेरित कल्पना, ज्ञान स्वरूपा हो जाती है।

(१९) कुन्तक की दृष्टि में कल्पना मन के भावात्मक पक्ष की क्रिया है। भाव द्वारा प्रेरित कल्पना भाव के ही संचार में योग देती है।

(२०) क्रोचे की अभिव्यंजना, सौन्दर्य के सभी तत्त्वों की उपलक्षण है।

(२०) वक्रोक्ति काव्य के अखिल तत्त्वों की उपलक्षण है।

(२१) क्रोचे कला का एक मात्र उद्देश्य कलात्मकता की रक्षा करना मानते हैं।

(२१) कुन्तक काव्य का उद्देश्य व्यवहार-सौन्दर्य, नवीनौचित्य चतुर्वर्गफल-प्राप्ति आनन्द या चित्त विस्फार आदि कई मानते हैं।

(२२) काव्य या कला का मूल्य सुन्दर शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।

(२२) काव्य का मूल्य आनन्द, व्यवहार सौन्दर्य, नवीनौचित्य द्वारा व्यक्त करते हैं।

२२ क्रोचे काव्य में लोक की रीति-नीति, आचार-विचार; औचित्य अनौचित्य का विचार ठीक नहीं समझते। वह कला के एक ही उद्देश्य पर दृष्टि रखते हैं जिसके साधे अन्य उद्देश्य अपने आप सिद्ध हो जाते हैं।	२३ कुन्तक काव्य में लोक के औचित्य, व्यवहार-सौन्दर्य आदि का विचार करते हैं। अर्थात् काव्य के सभी उद्देश्यों पर इनकी दृष्टि समान रूप से रहती है।
२४ क्रोचे की समीक्षा कलानिष्ठ अधिक है।	२५ कुन्तक की समीक्षा काव्य निष्ठ अधिक है।
२५ क्रोचे ने काव्य को व्यापक रूप से पकड़ने का प्रयत्न किया है।	२५ कुन्तक ने काव्य को बहुत निकट से देखने का प्रयत्न किया है।

——

औचित्य-सम्प्रदाय

औचित्य की परंपरा बहुत पुरानी है। औचित्य संप्रदाय एवं आचार्य क्षेमेन्द्र की मौलिकता जानने के लिए औचित्य तत्त्व का इतिहास जानना आवश्यक है। रस-तत्त्व का इतिहास जितना पुराना है उतना ही औचित्य का भी। जिस प्रकार भरत मुनि रस-संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं उसी प्रकार वे औचित्य तत्त्व के भी प्रथम उद्भावक आचार्य कहे जा सकते हैं। भरतमुनि के अभिनय-सिद्धांत, नाट्य-स्वरूप, नाट्य-प्रयोग, नाट्यधर्म, विभावानुभावादिकों के निरूपण, नटों के वेष-भूषा आदि के विवेचन में औचित्य-तत्त्व स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। (१) उनके अभिनय-सिद्धांत में औचित्य तत्त्व का स्पष्ट रूप देखिए :—।

वेषानुरूपश्च गति - प्रचारः।
गति प्रचारानुगतं च पाठ्यं,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥

वेष के अनुरूप गति तथा क्रिया होनी चाहिए, गति-प्रचार के अनुरूप संवाद होने चाहिए, संवाद के अनुरूप अभिनय होना चाहिए। (२) भरत के अनुसार नाट्य-स्वरूप लोक-वृत्त का अनुकरण है, अर्थात् नाट्यस्वरूप लोकौचित्य के अनुसार होना चाहिए।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन् मया कृतम्।

(३) नाट्य-प्रयोग के सभी धर्म, शिल्प, शास्त्र तथा क्रियायें लोक-धर्म की प्रवृत्ति के अनुसार होती हैं। नाट्य-प्रयोग की सफलता की कसौटी लोक या समाज का औचित्य है, शास्त्र नहीं।—

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्॥

नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात् लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥
लोकासिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ॥

सभी नाट्यांगों के स्वरूप, जो लोकौचित्य से भरे हैं वे ही काव्य में विभिन्न प्रकार के औचित्यों का स्वरूप धारण करते हैं ।

भरत-मुनि ने नाट्यरस की दृष्टि से विभिन्न नाट्यांगों को रस-प्रयोग कहा है। नाट्य का यह रस-प्रयोग काव्य में औचित्य नाम से अभिहित होता है। नाटक लोक के स्वभाव से उत्पन्न होता है। अतः लोक से सिद्ध वस्तु उसमें सिद्ध मानी जाती है। इसीलिए नाट्य-प्रयोग की कसौटी लोक या समाज माना गया है, शास्त्र नहीं। नाट्य-प्रयोग में दो प्रकार के धर्म माने गये हैं—लोक-धर्म तथा नाट्य-धर्म। लोक-धर्म से अभिप्राय उन धर्मों से है जो लोक-सिद्ध हैं तथा जिनका ग्रहण अभिनयौचित्य लाता है। भरत मुनि के अनुसार विभावानुभावादिकों के औचित्यानौचित्य का निर्णय लोक-प्रमाण से होता है। विभावानुभावादिकों के औचित्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—अंतरंग तथा बहिरंग। अंतरंग के भीतर पात्रों का शील-निरूपण आता है तथा बहिरंग के भीतर वेशभूषा, भाषा, सज्जा आदि। जगत के प्राणियों के शील नाना प्रकार के होते हैं। यह शील ही नाटक की मुख्य भित्ति है। ऐसी दशा में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह शील नाटक में किस रूप में उपस्थित किया जाय? भरत मुनि ने इसका उत्तर दिया है कि लोक-प्रमाण के आधार पर। अर्थात् लोकौचित्य ही नाट्य-प्रमाण है :—

आहार्य-अभिनय के अवसर पर भरत ने नाटकीय पात्रों की वेश-भूषा, सज्जा आदि का विवेचन किया है। वेश के विषय में भरत का स्पष्ट कथन है कि वह अवस्था के अनुरूप हो तथा उचित स्थान पर हो एवं देशौचित्य के आधार पर हो :—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो ।
अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यैवोपजायते ॥

एक स्थान पर उन्होंने बतलाया है कि नटों की वेशभूषा आदि रस के अनुकूल होना चाहिए :—

एतद्विभूषणं नार्या आकेशादानखादपि ।
यथाभावरसावस्थं विज्ञायैवंप्रयोजयेत् ॥

भरत मुनि ने भिन्न भिन्न पात्रों के लिए विभिन्न पाठ्य (भाषा) का निर्देश किया है । प्रकृति के अनुरूप भाषा का प्रयोग आवश्यक बतलाया है । पुरुष पात्र के लिए संस्कृत का प्रयोग एवं स्त्री तथा निम्न पात्रों के लिए प्राकृत भाषा का प्रयोग उचित बतलाया गया है । भरत मुनि के समय में स्त्रियों तथा निम्न वर्गों में शिक्षा प्रचलित नहीं थी । इसलिए वे संस्कृत का प्रयोग नहीं कर सकते थे । अतः उनके लिए प्राकृत भाषा का ही प्रयोग स्वाभाविक एवं औचित्य पूर्ण था । इसी औचित्य की रक्षा के लिए उन्होंने स्त्री तथा निम्न वर्ग के पात्रों के लिए प्राकृत-भाषा का प्रयोग औचित्यपूर्ण बतलाया है और किसी संकुचित दृष्टि से नहीं । ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि भरत मुनि औचित्य-तत्त्व के उद्भावक थे ।

भामह ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में औचित्य तत्त्व की ओर संकेत किया है ।

अलंकारवदग्राम्यं अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।

'न्याय्यम्' में औचित्य-तत्त्व स्पष्ट रूप से झलक रहा है । इनके दोष-विवेचन में औचित्य-तत्त्व का संकेत अप्रत्यक्ष रूप से मिलता है । उन्होंने कई दोषों के विषय में विशिष्ट सन्निवेश के कारण दोषत्व से मुक्त होने की बात लिखी है । इनकी दृष्टि में दुष्ट-उक्ति, सन्निवेश विशेष के कारण औचित्य आ जाने पर उसी प्रकार शोभा धारण कर लेती है जिस प्रकार माला के बीच में रखा पलाश ।

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नील पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।

आगे फिर वे कहते हैं कि कोई भी असाधु वस्तु आश्रय-सौन्दर्य से अत्यन्त सुन्दर हो जाती है। जिस प्रकार प्रकृतितः काला काजल रमणी के नयनों में शोभा को प्राप्त हो जाता है :—

किञ्चित्आश्रयसौन्दर्यात्, धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ता-विलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।

दोषों के विस्तृत वर्णन के पश्चात् भामह ने उन अवस्थाओं का संकेत किया है जिनमें दोष का दोषत्व मिट जाता है। उदाहरणार्थ, पुनरुक्ति दोष भय, शोक, असूया, हर्ष, विस्मय में दोष नहीं माना जाता :—

भयशोकाभ्यसूयासु, हर्षविस्मयोरपि।
यथाहगच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः।

इनकी दृष्टि में कालादि दोषों की भावना भी अनौचित्य पर ही निर्भर है। इस प्रकार भामह भी भरत के औचित्य-तत्त्व को स्वीकार करते दिखाई पड़ते हैं।

दंडी में औचित्य का संकेत दोषों के परिहार-विवेचन के अवसर पर अप्रत्यक्ष रूप से मिलता है। दंडी भी अनुचित संन्निवेश के कारण ही दोष की दोषता मानते हैं। इनकी दृष्टि में भी दोष उचित स्थान पर जाकर दोषत्व से रहित हो गुण में परिणत हो जाते हैं। जैसे, विरोधी वात या व्यर्थ की वात करना अपार्थ-दोष के भीतर परिगणित है। पर वही वात पागल, वालक एवं वीमार के मुख से निकलने पर गुण रूप में परिणत हो जाती है :—

समुदायार्थशून्यं यत् तद् अपार्थमितीष्यते।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दूष्यति।
इदमस्वस्थ चित्तानामभिधानमनिन्दितम्।

इसी प्रकार देश, काल, कला, लोक, न्याय, तथा आगम से विरुद्ध पड़ने वाली वातें काव्य-दोष मानी गई हैं। परन्तु कवि-कौशल से वे ही कतिपय उचित स्थानों पर रहने से गुण में परिणत हो जाती हैं।

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते।

दंडी के पश्चात् यशोवर्मा के 'रामाभ्युदय' नाटक की भूमिका में एक श्लोक मिलता है जिसको भोजराज ने अपने 'शृंगार-प्रकाश' में उद्धृत किया है। इससे औचित्य के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों स्वरूपों पर प्रकाश पड़ता है :—

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गेन चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढ़िश्च शब्दार्थयोः
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैः, एतावदेवास्तु नः॥

औचित्य शब्द का उल्लेख प्रथम बार यशोवर्मा ने किया है। इस श्लोक में यशोवर्मा अच्छे नाटक के आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए औचित्य के संबंध में तीन मुख्य बातें बता रहे हैं—(१) वचनौचित्य अर्थात् पात्रों की भाषा उनकी प्रकृति के अनुरूप हो, (२) रसौचित्य या भावौचित्य अर्थात् रस या भाव का सन्निवेश पात्रों का शील-निरूपण करते हुए उनकी उचित मनोदशा के अनुसार उचित स्थान पर हो; तात्पर्य यह कि भाव का विधान पात्र की प्रकृति तथा मानसिक अवस्था के अनुकूल हो; (३) कथामार्ग में अतिक्रम न हो। द्वितीय औचित्य को भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रकृति और शील के भीतर रखा है तथा रुद्रट एवं आनंदवर्धन ने इसी को विकसित करके अपने रसौचित्य का निर्माण किया है। यशोवर्मा के तृतीय औचित्य के आधार पर आनंदवर्धन ने अपने घटनौचित्य का निर्माण किया है। इसके पश्चात् भट्टलोल्लट ने अप्रत्यक्ष रूप से वर्णनौचित्य, रसौचित्य एवं अलंकारौचित्य के ऊपर प्रकाश डाला है। वर्णनौचित्य की ओर संकेत करते हुए उन्होंने बतलाया है कि वर्णन में औचित्य तभी आता है जब उसका संबंध मुख्य कथावस्तु एवं विषय से किसी न किसी रूप से स्थापित करना संभव रहता है। वर्णनौचित्य की दूसरी कसौटी रसाभिव्यक्ति में सहायक होना है। महाकाव्य के मुख्य रस तथा उसके विभिन्न

अंगों में सामरस्य भी औचित्य के अन्तर्गत है। काव्य में स्नान, पुष्प-चयन, संध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन सरस भले ही हो किन्तु यदि वह प्रकृत रस से सामंजस्य नहीं रखता तो उसका विस्तार अच्छा नहीं लगता और वह ऊपर से चिपकाया हुआ जान पड़ता है। इसी प्रकार काव्य में यदि कोई गौण प्रसंग या वर्णन मुख्य वर्णन या घटना से अधिक विस्तार पा जाता है तो वह किसी छोटे घर में लम्बे उपगृह (out house)........के समान भद्दा जान पड़ता है। जैसे 'साकेत' का नवम् सर्ग, जो वर्णनौचित्य की रक्षा में असमर्थ है। इसी प्रकार प्रबंध-काव्य में नदी, पर्वत, गज, तुरंग, समुद्र, नगर आदि का विस्तृत निरपेक्ष वर्णन कवि की विद्वता, निरीक्षण शक्ति एवं वर्णन शक्ति को भले ही प्रगट करे किन्तु उससे काव्य की शोभा में कोई भी वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार का दोष पदमावत में भरा पड़ा है। इस प्रकार के अनुचित वर्णन वर्णन-अनौचित्य के भीतर आते हैं। इसी प्रकार यमक, श्लेष के प्रयोग कोमल प्रसंगों में रस में बाधा पहुँचाते हैं, विशेषतः शृंगार और करुण रस के प्रसंगों में। इन अलंकारों के प्रयोग से कवि की अलंकार-प्रयोग की शक्ति भले ही प्रदर्शित हो किन्तु काव्य में अनौचित्य ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार के अनौचित्य अलंकारा-नौचित्य के भीतर आएँगे। इसी प्रकार किसी प्रबंध-काव्य में चित्रकाव्य का निबंधन कवि के अभिमान एवं अज्ञान का ही परिचायक है।

रुद्रट प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने औचित्य का नाम सर्व-प्रथम अपने सैद्धान्तिक समीक्षा के ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में लिया। इसके पहले राजा यशोवर्मन ने अपने 'रामाभ्युदय' नाटक की भूमिका के एक श्लोक में औचित्य-तत्त्व का उल्लेख किया था। रुद्रट के पूर्व औचित्य की धारणा का आविष्कार तो हो गया था। उसके विधि-निषेधों के ऊपर अप्रत्यक्ष रूप से संकेत भी डाला गया था; उसका विकास भी अचेतन रूप में हो रहा था; किन्तु उस तत्त्व का नाम-करण औचित्य के रूप में नहीं हुआ था। औचित्य तत्त्व को प्रत्यक्ष रूप में प्रकाश में लाने एवं नामकरण करने का श्रेय समीक्षक रूप में रुद्रट को ही मिलना चाहिए।

रुद्रट के 'काव्यालंकार' के भीतर प्रत्यक्ष रूप से रसौचित्य, अलंकारौचित्य एवं दोषौचित्य पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ संक्षेप में उनके प्रत्येक औचित्य पर विचार किया जाता है।

रसौचित्य[१]—मुख्य रस के प्रवाह में उससे हीन या उसका कोई विरोधी रस न आये। अर्थात् अङ्ग एवं अङ्गी रसों में औचित्य होना चाहिए। जैसे, शृंगार एवं करुण का संयोग अनौचित्य लाता है। प्रबन्ध काव्य में अवसर के अनुकूल रस की नियोजना रसौचित्य है। किन्तु वहाँ भी रस में अधिक क्षुब्धता नहीं आनी चाहिए, अन्यथा अनौचित्य के कारण रसदोष उत्पन्न हो जायगा।

अलंकारौचित्य—अलंकारों पर रस या रसौचित्य का शासन हो अर्थात् अलंकार सदा भाव या विषय की प्रेरणा से घटना या परिस्थिति की आवश्यकतानुकूल प्रसंग से सम्बन्धित होकर आयें। वर्ण्य की आवश्यकतानुसार उनका ग्रहण तथा त्याग किया जाय। यदि अलंकार रसों के अनुकूल नहीं हैं तो उनका कोई महत्त्व नहीं है। अलंकारों का इतना अधिक प्रयोग कभी न हो कि विषय दब जाय या वे (अलंकार) विषय के ऊपर थोपे हुए जान पड़ें।

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यग् औचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदार्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥
(काव्यालंकार)।

आनन्दवर्धन ने अपने अलंकारौचित्य में आवश्यकतानुसार अलंकारों का ग्रहण तथा त्याग का सिद्धान्त रुद्रट के 'गृहीतमुक्ता' से ही ग्रहण किया है। केशव की रामचन्द्रिका में अलंकार अनौचित्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें अलंकार कभी-कभी विषय को दबाते हुए जान पड़ते हैं तो कभी उसके ऊपर थोपे हुए प्रतीत होते हैं।

१—(क) अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेत् रसः क्रमापेतः।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यक् ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः॥
(ख) यः सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु।
अतिमहतीं वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायाति। (रुद्रट)

अलंकारौचित्य के सबसे सुन्दर उदाहरण तुलसी में मिलते हैं।

औचित्य-प्रयोग की कला में दक्ष कवियों को ही रुद्रट ने यमक के प्रयोग का आदेश दिया है। इनकी दृष्टि से काव्य में यमक का उचित प्रयोग कवि-कौशल का परिणाम नहीं वरन् कविहृदय की अभिव्यक्ति का एक स्वाभाविक प्रकार है। इनके मत से औचित्य-प्रयोग की कला में दक्ष कवि ही यमक का रमणीय, सुलभपदभंगयुक्त एवं प्रसन्न प्रयोग कर सकते हैं।

इति यमकविशेषं सम्यगालोचयद्भिः,
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं,
तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना।

इस उदाहरण से भी रुद्रट के अलंकारौचित्य के विषय में कुछ सामान्य सिद्धान्त निकल सकते हैं। जैसे, जब अलंकार का प्रयोग कवि-कौशल-प्रदर्शन के रूप में होता है तब अलंकार अनौचित्य प्रगट होता है। जब अलंकार कवि-हृदय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के एक विशिष्ट प्रकार के रूप में उत्पन्न होता है तब अलंकारौचित्य उत्पन्न होता है। अलंकारौचित्य की रक्षा काव्य में औचित्य-कला का पारखी ही कर सकता है।

रुद्रट ने अपने ग्रन्थ के छठे अध्याय में दोषों की गुणत्व परिणति का उल्लेख विस्तार से किया है। भामह और दण्डी के समान इनकी दृष्टि में भी दोषों के दोषत्व का मुख्य कारण अनौचित्य ही है। किन विशिष्ट या अनुकूल दशाओं में दोष का दोषत्व गुण-रूप में परिणत हो जाता है—यह उन्होंने ग्राम्य, पुनरुक्त आदि कई दोषों का उदाहरण लेकर समझाया है।

औचित्य-सिद्धान्त के विकास में क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्यों में आनन्दवर्धन का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य विचार चर्चा में आनन्द के औचित्य सम्बन्धी विचारों को सबसे अधिक मात्रा में ग्रहण कर उसे एक नवीन रूप देने का प्रयत्न किया। इस

प्रकार यह स्पष्ट है कि औचित्य सम्प्रदाय का मूलस्रोत ध्वन्यालोक में निहित है। आनन्द ने औचित्य सिद्धान्त के महत्त्व पर सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों रूपों में पर्याप्त प्रकाश डाला है एवं औचित्य के विभिन्न भेदों पर विस्तृत रूप से विचार किया है।

आनन्दवर्धन की दृष्टि से काव्य में औचित्य का महत्त्व

काव्य में कैसी ही उत्तम बातें, विचार या कलातत्त्व क्यों न उपस्थित हों औचित्य के भंग होने पर रसभंग हो जाता है, औचित्य की अनुपस्थिति से रसाभिव्यक्ति में बाधा पहुँचती है। इसीलिए ध्वनिकार बलपूर्वक कहते हैं कि अनौचित्य के सिवाय रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं। इनकी दृष्टि में औचित्य युक्त काव्यबन्ध का निर्माण करना रस का रहस्य[१] है। आनन्द ने व्यंग्य मुख से रस तथा व्यजक मुख से औचित्य—इन्हीं दो स्तम्भों पर अपने ध्वनि-मन्दिर का निर्माण किया। तृतीय उद्योत में उन्होंने विस्तार से यह बताया है कि वर्ण, पद, कारक, प्रत्यय, वचन, क्रिया वाक्य-संघटना आदि में रसव्यंजकता औचित्य से ही रहती है। संघटना का नियामक तत्त्व पद्य में ही नहीं वरन् गद्य में भी औचित्य ही रहता है। आनन्द का रस-विवेचन भी औचित्य दृष्टि से ही अधिक हुआ है। इनकी दृष्टि से काव्य के सभी अङ्गों का नियामक तत्त्व औचित्य ही है। रस युक्त काव्य औचित्य युक्त होने पर ही अमरता की प्राप्ति कर सकता है।

आनन्दवर्धन ने ६ प्रकार के औचित्यों का वर्णन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक में किया है। रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य एवं रीत्यौचित्य। औचित्य सिद्धान्त के विकास की परम्परा जानने के लिए इनका संक्षिप्त ज्ञान आवश्यक है।

रसौचित्य :—आनन्दवर्धन के रसौचित्य के कुछ नियामक सिद्धान्त नीचे दिए जाते हैं—

---

१ अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।

(१) रस को मुख्य प्रयोजन बना कर वाच्य और वाचक अर्थात् शब्द और अर्थ का औचित्यपूर्ण नियोजन होना चाहिए।

(२) सुप्, तिङ् प्रत्यय, वचन, कारक, काल, लिङ्ग, समास आदि का उचित प्रयोग होना चाहिए।

(३) प्रबन्ध काव्य में संधि, संध्यङ्ग, घटना आदि का प्रयोग रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से होना चाहिए केवल शास्त्र-नियमों का पालन प्रदर्शित करने के लिए नहीं।

(४) विरोधी रस के विभावादिकों का वर्णन नहीं होना चहिए।

(५) विरोधी रसों का एकत्र प्रवेश नहीं होना चाहिए।

(६) किसी गौण वस्तु, घटना, पात्र, परिस्थिति का वर्णन इतना विस्तृत नहीं होना चाहिए कि उनसे मुख्य रस या विषय दब जाय। नाटक या महाकाव्य में पताका या प्रकरी का अनुचित विस्तार नहीं होना चाहिए। कवि को कथा या वर्णन का मुख्य सूत्र कभी विस्मृत नहीं करना चाहिए। मुख्य विषय से अननुबन्धित किसी घटना, परिस्थिति, तथा चित्रण का समावेश नहीं होना चाहिए।

(७) अङ्ग और अङ्गी रस में परस्पर समानुपातिक सम्बन्ध होना चाहिए।

(८) रसों की नियोजना में पारस्परिक अनुकूलता होनी चाहिए।

(९) प्रबन्ध काव्य या नाटक में रस का प्रयोग उचित अवसर पर होना चाहिए। किसी भी रस-चित्र में इतनी अधिक अतिरेकता नहीं आनी चाहिए कि जिनसे पाठकों के हृदय में क्षुब्धता उत्पन्न हो जाय।

(१०) विभावानुभाव, संचारी आदि के चित्रण में औचित्य की रक्षा होनी चाहिए, इसी को भावौचित्य कहते हैं। भरत मुनि इसी को प्रकृत्यौचित्य नाम से अभिहित करते हैं।

अलंकारौचित्य के नियामक सिद्धान्त

(१) अलंकार का प्रयोग स्वाभाविक रूप में प्रतिभा के अनुग्रह से होना चाहिए।

(२) अलंकार लाने के लिए कवि द्वारा चेतन प्रयत्न नहीं होना चाहिए।[१]

(३) अलंकारों का प्रयोग विचारों, भावों एवं तथ्यों की[२] रमणीयता, स्पष्टता तथा प्रभविष्णुता के लिए होना चाहिए।

(४) काव्य में अलंकार को अङ्गभूत रूप में रहना चाहिए[३], अङ्गी-रूप में नहीं।

(५) अलंकारों को काव्य में इतना प्रधान स्थान नहीं ग्रहण करना चाहिए कि पाठकों या श्रोताओं की दृष्टि वर्ण्य को भूल कर अलंकारों की कारीगरी या चमत्कार पर जम जाय अर्थात् मुख्य विषय की आवश्यकता, स्पष्टता, विशदता, प्रभविष्णुता के अनुसार अलंकार का ग्रहण तथा त्याग होना चाहिए। अलंकारों को कल्पना-जाल से मुख्य विषय को कभी आवृत नहीं होना चाहिए। कविता में प्रस्तुत विषय के पोषण-स्वरूप का तिरस्कार उसे कभी नहीं करना चाहिए।

(६) रस, भावादि के तात्पर्य के आश्रय में अलंकार को प्रतिष्ठित होना चाहिए। अलंकार को सदा साधन रूप में रहना चाहिए, साध्य रूप में नहीं।[४]

(७) यमक, श्लेष आदि किसी भी अलंकार को वाह्य रूप में काव्य में प्रयुक्त नहीं होना चाहिए।[५] उसे काव्य के वन्ध में संश्लिष्ट रूप में रसाक्षिप्त होकर आना चाहिए।[६]

१—(क) अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारोध्वनौमतः। (आनन्द)
(ख) प्रतिभानुग्रह वशात् स्वयमेव संपत्तौ। (लोचन)

२—ततो रसप्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयाऽलंकाराः। (आनन्द)

३—विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहण त्यागौ नातिनिर्वहणैपिता।

४—रसभावादि-तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतानां सर्वासामलंकारत्व साधनम्।

५—तस्मान्न तेषां वहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ।

६—रसाक्षिप्ततया यस्य वन्ध शक्यक्रियो भवेत्। (वही)

गुणौचित्य—आनन्दवर्धन की दृष्टि में गुणों का साक्षात् सम्बध रसों से है। जैसे, माधुर्य का शृंगार एवं करुण से, ओज का रौद्र एवं वीर से। इन गुणों को व्यक्त करने वाले विशिष्ट प्रकार के वर्ण होते हैं। जैसे, कोमल तथा मधुर वर्णों का प्रयोग माधुर्य में एवं परुष वर्णों का प्रयोग वीर तथा रौद्र में होता है। अतः गुणों का स्वाभाविक सम्बन्ध जिन रसों से है उनमें उन गुणों को व्यक्त करने वाले उपयुक्त वर्णों का प्रयोग ही गुणौचित्य है। जायसी के युद्ध-वर्णन में गुणौचित्य नहीं है, अतः वह प्रसंग रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है।

संघटनौचित्य—पदों की सम्यक् रचना संघटना है। संस्कृत में संघटना प्रायः तीन प्रकार की मिलती है। असमासा, मध्यम समासा तथा दीर्घ समासा[१]। संघटना गुणों के आधार पर आश्रित रहती है एवं रसों को व्यक्त करने में सहायक होती है। [२]संघटनौचित्य के नियामक चार सिद्धान्त दिखाई पड़ते हैं—(१) रसौचित्य (२) वक्ता का औचित्य (३) वाच्यौचित्य (४) विषयौचित्य।

(१) रस के अनुकूल संघटना का प्रयोग हो।

(२) वक्ता अर्थात् काव्य अथवा नाटक के पात्र की प्रकृति, स्थिति, मानसिक दशा, पद तथा योग्यता के अनुकूल संघटना रखी जाय।

(३) वाच्य अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल संघटना की योजना होनी चाहिए।

(४) विषय से तात्पर्य है काव्य-प्रकार। नाटक, महाकाव्य, गद्य, पद्य, चम्पू आदि काव्य प्रकारों की प्रकृति के अनुसार सामासिक या समास रहित पदावली का प्रयोग होना चाहिए। जैसे, नाटक में

---

१ असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घ समासेति त्रिधा संघटनोदिता। (ध्वन्यालोक)

२ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः। (वही)

१२—प्रबन्ध काव्य के वाक्यों, पदों आदि में भी औचित्य की रक्षा होनी चाहिए।

रीत्यौचित्य—रीति में वक्तृ-औचित्य आवश्यक है।

(१) यह औचित्य रीति में तभी आयेगा जब वह कवि के व्यक्तित्व की प्रतिनिधि होगी। इस औचित्य को लाने के लिए रीति को कवि के व्यक्तित्व अथवा स्वभाव की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ होना चाहिए।

(२) काव्यरीति का दूसरा नियामक तत्त्व रसौचित्य है। अर्थात् भाव के अनुसार वर्ण, शब्द, छन्द, बन्ध, वृत्ति, संघटना[1], अर्थ आदि का प्रयोग होना चहिए।

(३) रीति-नियामक सामान्य एवं विशिष्ट नियमों एवं तत्त्वों में औचित्यपूर्ण सम्बन्ध होना चाहिए।

(४) रीति में अलंकार का प्रयोग स्वाभाविक रूप में प्रतिभा के अनुग्रह से हो, प्रयत्न-प्रसूत या बाहर से जड़ा हुआ न हो।

(५) काव्य-स्वरूप के अनुसार रीति का प्रयोग हो। महाकाव्य, प्रगीत काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि के अनुसार रीति का स्वरूप बदल जाता है। आनन्द की दृष्टि में रीति का उचित विधान काव्य के विशिष्ट स्वरूप की अपेक्षा रखता है।[2] सारांश-रूप में यह कहा जा सकता है कि काव्य में रीति का वही प्रयोग उचित माना जायगा जो काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि में समर्थ हो।

उपर्युक्त विवेचन से संक्षेप में यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य-क्षेत्र के भीतर औचित्य को एक व्यापक एवं महनीय काव्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आनन्दवर्धन को ही मिलना चाहिए।

राजशेखर ने काव्यपाक-कला के पंचम भाग में औचित्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। इनकी दृष्टि में कवि की सारी शिक्षा-निरीक्षण,

---

१ रसाद्यनुगुणत्वेन, व्यवहारोऽर्थ शब्दयोः।

२ विषयाश्रयमप्यन्यद औचियं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा (ध्वन्यालोक।)

अध्ययन, अनुशीलन, संस्कृति आदि औचित्य ज्ञान के लिए ही है।[1] काव्यमीमांसाकार की दृष्टि में काव्य-प्रौढ़ता की कसौटी औचित्य है अर्थात् उचित शब्द, अर्थ तथा कल्पना की नियोजना है।[2] इनकी दृष्टि में औचित्य रूपी साधन के आने से काव्य में प्रौढ़ता आ जाती है। जिन कारणों से काव्य-सौन्दर्य में न्यूनता आती है वे सब कारण अनौचित्यमूलक होते हैं। राजशेखर की दृष्टि में औचित्य पर दृष्टि रखने वाला सावधान कवि दोष का भी प्रयोग गुण रूप में कर सकता है एवं असावधान कवि औचित्य की अनुपस्थिति में गुण को भी दोष रूप में परिणत कर सकता है।[3] औचित्य के इतिहास में अभिनवगुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्रथमतः, औचित्य के विकास में सबसे अधिक योग देने वाले आनन्दवर्धन के भाष्यकार होने के कारण, द्वितीय, औचित्य-सिद्धान्त को व्यवस्थित करने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र के गुरु होने के कारण। आनन्द के औचित्य सिद्धान्त के प्रतिपादन से यह बात स्पष्ट हो गई कि रस और ध्वनि के सिद्धान्त से औचित्य का सिद्धान्त प्रादुर्भूत होता है। अभिनवगुप्त ने काव्य-जीवन के त्रिविध आधारभूत तत्त्व—ध्वनि, रस तथा औचित्य पर अपना सिद्धान्त खड़ा किया है। आनन्दवर्धन के अलंकारौचित्य का विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त ने उस पर जो मत व्यक्त किया है वह बहुत ही मार्मिक है। इनकी दृष्टि में अलंकारौचित्य के अस्तित्व के लिए दो बातें आवश्यक हैं—(१) अलंकार्य (आत्मा) की उपस्थिति अन्यथा अलंकार-नियोजना

---

१ उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः इति यायावरीयः। (काव्यमीमांसा)

२ तस्माद् रसोचितशब्दार्थसूक्ति निवन्धनः पाकः। (वही)

३ न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः।
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा।
अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेः दूषणं भूषणायते। (वही)

शव के अलंकरण समान हो जायगी (२) अलंकारों का उचित स्थान तथा अवसरों पर प्रयोग।[१] लोचनकार की दृष्टि में काव्य में रसौचित्य तभी उपस्थित होगा जब उसके विविध अङ्गों—विभाव, अनुभाव, संचारी आदि में औचित्य वर्तमान रहेगा।

विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ता कवेरिति। तस्माद्विभावाद्यौचित्यमेव रसवत्ताप्रयोजकं नान्यदिति भावः।

औचित्य के मूल आधार (रस) के प्रत्यभिज्ञान के बिना औचित्य शब्द का प्रयोग व्यर्थ है। औचित्य का प्रयोग तभी साभिप्राय हो सकता है जब जिसके प्रति इसे प्रयुक्त किया जाता है वह वस्तु विद्यमान हो।[२] औचित्य तो एक प्रकार का उचित सम्बन्ध है जो दो विभिन्न वस्तुओं में या किसी एक वस्तु के विभिन्न तत्त्वों में वर्तमान रहता है। अतएव औचित्य के ज्ञान के लिए उस मूल वस्तु का उचित ज्ञान अनिवार्य है जिसके साथ अन्य तत्त्वों का उचित सम्बन्ध स्थापित किया जाता है या उसके विभिन्न तत्त्वों में परस्पर औचित्यपूर्ण सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में वह मूल वस्तु रस है। बिना रस के औचित्य अस्तित्व में आ ही नहीं सकता। रस और ध्वनि का औचित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बात का उल्लेख अभिनवगुप्त ने उन आलोचकों की खिल्ली उड़ाते हुए किया है जो काव्य में रस और ध्वनि की उपयोगिता नहीं मानते थे; और जो काव्य की व्याख्या के लिए औचित्य तत्त्व को पर्याप्त मानते थे; और उनकी दृष्टि में औचित्य सुन्दर शब्दार्थों की औचित्यपूर्ण

---

१ तथा हि अचेतनं शरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति।
अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं
हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात् (लोचन)

२ उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन्
रसध्वनेः जीवितत्त्वं सूचयति। तदभावे हि
किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्र उद्घोष्यत इति भावः।

नियोजना के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। लोचनकार की दृष्टि में ऐसे समीक्षक अपनी कही हुई बात की व्यंजना नहीं समझते[१]। काव्य के प्रसंग में औचित्य का नाम लेते ही रस और ध्वनि का अनुमान हो जाता है। औचित्य को रसहीन काव्य के जीवित मानने का सिद्धान्त कभी ग्राह्य नहीं हो सकता। वस्तुतः रस, भावादि औचित्य के मूल आधार हैं। बिना मूल (रस) के पल्लव (औचित्य) की सत्ता कैसे संभव है ? वस्तुतः काव्य की आत्मा रस है जो ध्वनि प्रक्रिया से उत्पन्न होता है तथा जिसका अस्तित्व औचित्य के बिना संभव नहीं।

औचित्य के विषय में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो अभिनवगुप्त ने बतलाई वह औचित्यभंग की थी। विभिन्न प्रकार के औचित्यभंगों से विभिन्न प्रकार के आभासों की सृष्टि होती है। उदाहरणार्थ, औचित्य रहित काव्य काव्याभास कहा जाना चाहिए, तद्वत् अलंकार का अनुचित प्रयोग अलंकाराभास है। इसी प्रकार अनौचित्ययुक्त रस रसाभास है[२]।

अलंकार शास्त्र में भोज का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने दोष, गुण, अलंकार, छन्द, आदि कई प्रकरणों में औचित्य की चर्चा की है। अतः औचित्य-विकास की परम्परा से अवगत होने के लिए इनके भी औचित्य-मत को जान लेना आवश्यक है। भोज की दृष्टि से काव्य का सर्वस्व रसौचित्य है अथवा रस है। औचित्य का स्थान

---

१ औचित्यवती (अतिशयोक्तिः) जीवितमिति चेत्। औचित्य निबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत् किञ्चिदस्तीति तदेवान्तर्भासि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं, न तु सा। एतेन यदाहुः केचित् औचित्यघटित सुन्दरशब्दार्थमयेकाव्ये किमन्येन ध्वनिना आत्मभूतेन कल्पितेन। इति स्ववचनमेव ध्वनि सद्भावाभ्युपगमसाक्षिभूतम् अमन्यमानाः प्रत्युक्ताः। (लोचन)

२ औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेः आस्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसः व्यभिचारिण्या भावः। अनौचित्येन तदाभासः। (वही)

काव्य में गौण है। इनके मत में अलंकार, गुण, पात्र, भाषा, छन्द प्रवन्ध-विधान आदि का उचित प्रयोग रस की अभिव्यक्ति के लिए होना चाहिए।

अलंकारौचित्य—अलंकारौचित्य का सामान्य सिद्धान्त अलंकारों को रसाभिव्यक्ति के अनुकूल बनाने में निहित है। बाह्य शोभा की सृष्टि करने में उनका महत्त्व नहीं, वरन् काव्य के प्राण-तत्त्व रस के अनुरूप होने में उनकी सार्थकता है[1] इसके अतिरिक्त भोज के कई अलंकार औचित्य तत्त्व पर आश्रित हैं। जैसे, उनके शब्दालंकार में जाति तथा गति अलंकार।

जाति अलंकार में भाषा का औचित्य वर्णित है। वक्ता के अनुरूप उचित अवसर पर विशिष्ट प्रकार की भाषा का प्रयोग इस अलंकार में विवेचित है। नाटकों में पात्रों के अनुरूप भाषा का प्रयोग इसी अलंकार के अन्तर्गत आता है। भोज इसे वक्तृ औचित्य मानते हैं। विषय, वक्ता, देश, काल तथा काव्य रूप के औचित्य पर दृष्टि रखकर भाषा का प्रयोग औचित्यपूर्ण माना जाना चाहिए। ग्रामीण अनपढ़ वक्ता के मुख से जनभाषा, शिक्षित नागरिक के मुख से सुसंस्कृत भाषा, हिन्दू-संस्कारों के अवसर पर संस्कृत भाषा बहुत[2] समीचीन जान पड़ती है। भोज का दूसरा शब्दालंकार भी औचित्य के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। गद्य, पद्य तथा चम्पू में किस प्रकार का भाव या वस्तु-चित्रण किस छन्द के माध्यम से बहुत उचित प्रतीत होगा इसी का विवेचन इस अलंकार के भीतर है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भोज के इस पक्ष अलंकार के भीतर तीन प्रकार के औचित्य दिखाई पड़ रहे हैं—काव्यरूपौचित्य, वर्ण्य या विषय का औचित्य,

---

१ रसभावादि विषय विवक्षा-विरहे सति।
अलंकार निबन्धो य स कविभ्यो न रोचते। (सरस्वती कंठाभरण)

२ न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ, स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत्।
संकीर्णं नाभिजातेषु, नाप्रबुद्धेषु संस्कृतम्। (वही)

तथा छन्दौचित्य। वस्तु-वर्णन या बौद्धिक विवेचन के लिए गद्य का प्रयोग उचित है। हृदय के कोमल एवं मार्मिक भावों की व्यंजना के लिए पद्य का आश्रय उचित है। इसी प्रकार छन्दों की भी एक विशिष्ट प्रकार की प्रकृति होती है जिससे वे विशिष्ट प्रकार के काव्य रूप तथा रस चित्रण में बहुत उपयुक्त प्रतीत होते हैं। यदि उपर्युक्त प्रकार के औचित्यों को भोज अलंकार के भीतर न रखकर उन विशिष्ट प्रकार के औचित्यों के भीतर रखे होते तो बहुत उचित प्रतीत होता। उदाहरणार्थ यदि जाति अलंकार का नाम भाषा-औचित्य होता तो बहुत समीचीन होता। इसी प्रकार यदि भोज ने गति अलंकार को उसके भीतर आनेवाले उपर्युक्त तीन औचित्यों में विभाजित कर दिया होता तो बहुत उपयुक्त होता।

भोज का भाविक नामक शब्द गुण औचित्य की भित्ति पर आश्रित है। इनके रस सम्बन्धी दोष—विरस दोष, विरुद्ध दोष आदि औचित्य के अभाव में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार उनके द्वारा निरूपित अन्य विविध दोष—जैसे, देश विरोध, कालविरोध, लोक-विरोध, अनुमान विरोध आदि अनौचित्य पर ही आधारित हैं। अन्य आलंकारिकों की भाँति भोज ने भी काव्य दोषों से मुक्ति अनौचित्य परिहार द्वारा ही मानी है।

कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में औचित्य सिद्धान्त अनेक स्थानों पर प्रतिपादित हुआ है। सच पूछा जाय तो औचित्य सिद्धान्त ही कुन्तक को कोरा वाग्वैचित्र्यवादी तथा व्यक्तिवैचित्र्यवादी बनने से बचा लेता है। नीचे के उदाहरणों द्वारा यह बात स्पष्ट की जाती है। कुन्तक की काव्य-परिभाषा[१] में यदि 'तद्विदाह्लादकारिणी' नामक पदावली न होती तो समीक्षक उन्हें व्यक्तिवैचित्र्यवादी कहने में संकोच न करते। उनकी परिभाषा में

---

१ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यमतद्विदाह्लाद कारिणी। कुन्तक

औचित्य तत्त्व अप्रत्यक्ष रूप से निहित है। काव्यविदों अर्थात् सहृदयों को वही कविता आह्लाददायिनी सिद्ध होगी जिसमें औचित्य तत्त्व वर्तमान रहेगा। यहाँ आह्लाद का अर्थ आनन्द अर्थात् अन्तश्चमत्कार है। अन्तश्चमत्कार औचित्य के बिना संभव ही नहीं। कुन्तक के निम्नाङ्कित सामान्य काव्य लक्षण में विषयौचित्य अप्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ रहा है।

यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते।
वर्णनीयस्य धर्मस्य तद्विदाह्लाददायिनाम्

काव्य में वर्णन करने योग्य विषय के धर्म का अतिशय कथन चारुत्व का सम्पादन करता है। अर्थात् कुन्तक सभी विषयों को काव्य के लिए उचित नहीं समझते तभी 'वर्णनीय' शब्द का प्रयोग करते हैं। वर्णन करने योग्य विषय का अर्थ है उचित विषय काव्य के लिए चुने जायँ जो कवि की अनुभूति, भावुकता, कल्पना, आदि को जगाने में समर्थ हो सकें। उस वर्णनीय के चित्रण में कवि को केवल उसके धर्म अर्थात् औचित्ययुक्त पक्ष का ही अतिशय करना चाहिए। इस प्रकार विषय-प्रतिपादन में भी औचित्य का समावेश हो जाता है। कुन्तक ने काव्य के सामान्य गुणों में एक का नाम ही औचित्य रखा है जो उनके सभी काव्य मार्गों में वर्तमान रहता है। कुन्तक की दृष्टि से काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की विशिष्टता रहती है जिसे उन्होंने क्रमशः शब्दपारमार्थ्य तथा अर्थपारमार्थ्य के नाम से अभिहित किया है। उनका शब्द पारमार्थ्य शब्दौचित्य तथा अर्थ पारमार्थ्य अर्थौचित्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

वक्रोक्तिजीवितकार की दृष्टि में वस्तु का स्वभाव-कथन भी एक प्रकार का औचित्य ही है[१]। जिसे वे अन्यत्र वस्तु वक्रता के नाम से अभिहित करते हैं। साहित्य-सिद्धान्त की व्याख्या करते समय एक स्थान पर उन्होंने वृत्त्यौचित्य की ओर भी संकेत किया है जिसमें

१ औचित्यं वस्तुतः स्वभावोत्कर्षः।

कैशिकी, उपनागरिका आदि वृत्तियों का औचित्य वर्तमान रहता है कुन्तक के अलंकारौचित्य में शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का औचित्य सन्निविष्ट है। इनके अलंकारौचित्य के कुछ नियामक सिद्धान्त निम्नलिखित[1] हैं—

(१) किसी भी वर्णवक्रता में औचित्य का तिरस्कार नहीं होना चाहिए।

(२) अलंकार-प्रयोग में कवि को निर्व्यसनी होना चाहिए।

(३) आवश्यकतानुसार उनका ग्रहण-त्याग होना चाहिए।

(४) अलंकारों का प्रयोग अयत्नविहित रूप में होना चाहिए।

(५) अलंकारों से काव्य में रमणीयता एवं विच्छित्ति की सृष्टि होनी चाहिए।

(६) कवि को किसी अलंकार के प्रति विशिष्ट आग्रह नहीं दिखाना चाहिए।

(७) किसी भी अलंकार के प्रयोग से किसी भी काव्यगुण, मार्ग अथवा अर्थ-सौन्दर्य को दूषित नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार कुन्तक की विभिन्न प्रकार की वक्रतायें विभिन्न प्रकार के औचित्यों की निदर्शक हैं। पदवक्रता को पदौचित्य उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है।[2] उनकी वर्ण वक्रता के भीतर शब्दालंकार का

---

१ नातिनिर्बन्ध विहिता नाप्यपेशल भूषिता।
पूर्वावृत्त परित्याग नूतनावर्तनोज्ज्वला।
वर्णच्छायानुसारेणगुणमार्गानुवर्तिनी।
वृत्तिवैचित्र्य युक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः।
समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थानशोभियत्। (कुन्तक)

२ (क) तत्र पदस्य तावत् औचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः।
(व० जी०)

(ख) प्रस्तुतौचित्यविच्छित्तिं स्वमहिम्ना विकासयन्।
प्रत्ययपदमध्येऽन्यासुल्लासयति वक्रताम् (वही)

औचित्य; वाक्य-वक्रता के भीतर अर्थालंकार का औचित्य, प्रकरण वक्रता के भीतर प्रसंगौचित्य एवं घटनौचित्य तथा प्रबन्धवक्रता के भीतर प्रबन्धौचित्य, रसौचित्य तथा नामौचित्य का सन्निवेश दिखाई पड़ता है। कुंतक ने काव्य-प्रयोजन में भी औचित्य का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है।[१] नवीनौचित्य उनके काव्य-प्रयोजनों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। व्यवहार-सौन्दर्य भी व्यवहारौचित्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। काव्यानुभूति काल का प्रयोजन—आनन्द भी औचित्य की उपस्थिति के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति के प्रत्येक तत्त्व में औचित्य की व्याप्ति दिखाई पड़ती है।

महिमभट्ट का समय कुन्तक के पश्चात् ही आता है। औचित्य तथा वक्रोक्ति की चर्चा काश्मीर में उस समय की सारी समीक्षक-मण्डली के बीच व्याप्त थी। अतः महिमभट्ट का इस चर्चा से प्रभावित होना स्वाभाविक है। महिमभट्ट की दृष्टि से काव्य में रस का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। औचित्य का स्थान काव्य में भाव, रस एवं प्रकृति के सम्बन्ध से ही माना जाना चाहिए। व्यक्तिविवेककार भी काव्य की आत्मा रस ही मानते थे। इनके मत से भी औचित्य के बिना रस की सत्ता संभव नहीं। इस विवेचन से परिणाम यह निकला कि महिमभट्ट काव्य में आनन्द वर्धन के समान ही रस एवं औचित्य तत्त्व के समर्थक थे[२]। आनन्द से उनका विरोध केवल ध्वनि से था

---

१ व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारोविधीयते। (वही)

२ विभावाद्युपनिबन्ध एव हि कवि व्यापारः, नापरः।
रसात्मकं च काव्यमिति कुतस्तत्र अनौचित्यसंस्पर्शः संभाव्यते,
यन्निरासार्थं काव्यलक्षणमाचक्षीरन् विचक्षणंमन्याः। (व्यक्तिविवेक)

जिसके लिए उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ व्यक्तिविवेक लिखा। महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक के द्वितीय अध्याय में दोष का बहुत ही व्यवस्थित, सूक्ष्म एवं आलोचनात्मक विवेचन किया है। उन्होंने सभी काव्यदोषों को पाँच मुख्य दोषों के भीतर रखा है। इनकी दृष्टि में सभी दोष अनौचित्य के विविध भेद हैं जो रसप्रतीति में बाधक होते हैं।[१] अतः प्रकारान्तर से अनौचित्य ही काव्य का एक मात्र सर्वातिशायी दोष सिद्ध होता है जिसके भीतर सभी दोषों का सन्निवेश हो जाता है। रसौचित्य तथा प्रकृत्यौचित्य सर्वश्रेष्ठ काव्यगुण हैं। इन दोनों प्रकार के गुणों अर्थात् औचित्यों की अनुपस्थिति से काव्य में सबसे बड़ा दोष उत्पन्न होता है जिसे रस दोष कहते हैं। अनौचित्य के दो मुख्य भेद हैं। वहिरंग तथा अन्तरङ्ग। वहिरंग का सम्बन्ध शब्द से है। शब्द सम्बन्धी अनौचित्य वहिरंग होने के कारण काव्य में गौण दोष उत्पन्न करता है। शब्द-अनौचित्य के पाँच मुख्य भेद हैं:— विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन। अन्तरङ्ग अनौचित्य रस या भाव से सम्बन्ध रखने के कारण काव्य में मुख्य दोष (रसदोष) की सृष्टि करता है[२]। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि काव्य अनौचित्य के वहिरंग तथा अन्तरंग भेद केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से माने गये हैं। व्यावहारिक दृष्टि से तो सभी दोष रस-प्रतीति में बाधक होने के कारण रसानौचित्य के भीतर आ जाते हैं। इसीलिए महिमभट्ट ने सभी दोषों को रसानौचित्य के भीतर समाहित कर दिया है।

---

१ एतस्य (अनौचित्यस्य) विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्य लक्षणम्। (वही)

२ इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम्, अर्थविषयं शब्दविषयं चेति। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणाम् अयथायथं रसेषु यो विनियोगः तन्मात्र लक्षणमेकम् अन्तरङ्गम् आद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते। अपरं पुनः वहिरङ्गं वहु प्रकारं सम्भवति। तद्यथा विधेयाविमर्शः प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यं वाच्यावचनं चेति। व्यक्तिविवेक

आनन्दवर्द्धन ने भी रस दोष अर्थात् रसानौचित्य को ही सबसे बड़ा दोष माना है।

उपर्युक्त विवेचित औचित्य-परम्परा के विकास से यह स्पष्ट हो गया कि आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य सिद्धान्त के उद्भावक नहीं वरन् व्यवस्थापक हैं। ये अभिनवगुप्त के शिष्य थे और अभिनव गुप्त आनन्दवर्धन के भाष्यकार। इससे भी यही विदित होता है कि इन्होंने आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त दोनों ही के औचित्य सम्बन्धी विचारों को अपने औचित्य-विचार-स्थापन में चेतन तथा अचेतन दोनों रूपों में ग्रहण किया क्योंकि दोनों ही आचार्य औचित्य सिद्धान्त के बहुत बड़े पृष्ठ-पोषक थे। इन दोनों में, विशेषतः आनन्दवर्धन का औचित्य सम्बन्धी विचार उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी आचार्यों की अपेक्षा बहुत ही व्यापक कोटि का था क्योंकि वह, प्रायः काव्य के सभी अवयवों को स्पर्श करता है। आचार्य क्षेमेन्द्र की औचित्य सम्बन्धी परिभाषा, धारणा, स्वरूप, महत्त्व, भेद आदि से भी इस बात की पुष्टि की जायगी कि वे आनन्द तथा अभिनव से अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं।

रस और ध्वनि सम्प्रदाय के समान आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य-विचार भी उस बहिरंगवादी समीक्षा के खण्डन को अपना गौण उद्देश्य बना कर चला जिसमें अलंकार, गुण, रीति आदि की भूरिभूरि प्रशंसा की गई थी और उन्हीं के भीतर काव्य की आत्मा ही नहीं वरन् सभी सौन्दर्यों को देखने का प्रयत्न किया गया था। कुछ आचार्य औचित्य सम्प्रदाय को रस-ध्वनि सम्प्रदाय का पूरक मानते हैं और इसकी उत्पत्ति का मूल कारण रस तथा ध्वनि सिद्धान्तों की स्पष्ट विवेचना करना समझते हैं। प्रथम बात तो कुछ ठीक जान पड़ती है परन्तु दूसरी उतनी मान्य नहीं हो सकती। औचित्य के बिना रस या ध्वनि की सत्ता संभव ही नहीं; अतः औचित्य तत्त्व रस और ध्वनि-तत्त्व का पूरक कहा जा सकता है किन्तु उसकी उत्पत्ति का मूल कारण रस और ध्वनि दोनों सम्प्रदायों

की स्पष्ट विवेचना करना नहीं जान पड़ता, जैसा कि आचार्य क्षेमेन्द्र के निम्नाङ्कित श्लोक से जान पड़ता है—

औचित्य चमत्कार-कारिणश्चारुचर्वणे ।
रस जीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना । औ. वि. च.

अब रसजीवितभूत औचित्य का विचार किया जाता है जो सहृदय के मनोज्ञ आस्वादन में चमत्कार उत्पन्न करता है। औचित्य रस का सारभूत पदार्थ है, अतः औचित्य-विचार से रस-सिद्धान्त को समझने की बात तो कुछ ठीक मानी जा सकती है, किन्तु ध्वनि-सम्प्रदाय को समझने की बात उतनी ठीक नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ध्वनि तो रसानुभूति की एक प्रक्रिया है; दूसरे, क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ औचित्य-विचार-चर्चा में ध्वनि का स्वीकरण रस के समान स्पष्ट शब्दों में उतनी अधिक मात्रा में नहीं किया है। तीसरे, आचार्य क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्ताचार्य के शिष्य थे जो रस को काव्य की आत्मा मानते थे; जो काव्य मत की दृष्टि से रसवादी थे; अतः क्षेमेन्द्र का, मत या सम्प्रदाय की दृष्टि से रस-सिद्धान्त का पृष्ठपोषक होना ही अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि रसापेक्षित गुण, अलंकार, रीति, भाषा, वस्तु, वर्णन, प्रबन्ध आदिका का प्रतिपादन औचित्य-विचार-चर्चा का सामान्य उद्देश्य जान पड़ता है। इसका विशिष्ट उद्देश्य उन औचित्यवादियों के मत का खण्डन करना था जो काव्य में औचित्य की स्वतंत्रसत्ता मानते थे; जो काव्य की व्याख्या के लिए औचित्य तत्त्व का निरूपण पर्याप्त समझते थे; जो औचित्य को काव्य की आत्मा मानते थे; जिनकी दृष्टि में औचित्य रसहीन काव्य का जीवातु था तथा जिनके मत से औचित्य का निबन्धन काव्य में रस या भाव के बिना भी हो सकता है।

क्षेमेन्द्र निरूपित औचित्य का स्वरूप

क्षेमेन्द्र के औचित्य स्वरूप को समझने के लिए सर्व प्रथम उनकी औचित्य परिभाषा जानना आवश्यक है। क्षेमेन्द्र की औचित्य परिभाषा उनके शब्दों में इस प्रकार है :—

उचितं प्राहुराचार्याः, सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते।

वस्तु-अनुरूपता का नाम उचित है। वस्तु-अनुरूपता में एक ओर अवयव एवं अवयवी में, मुख्य तथा गौण में एवं अङ्ग एवं अङ्गी में समानुपातिकता और सन्तुलन की आवश्यकता है तो दूसरी ओर विभिन्न तत्त्वों में उपयुक्तता एवं योग्य संविधान की। उचित का भाव ही औचित्य है। वस्तुतः औचित्य एक प्रकार का उचित सम्बन्ध है जो एक वस्तु के विभिन्न तत्त्वों में या अनेक विभिन्न वस्तुओं में वर्तमान रहता है; अतः औचित्य का ज्ञान निरपेक्ष रूप में नहीं किया जा सकता। इसके ज्ञान के लिए उन अनेक विभिन्न वस्तुओं या एक वस्तु के विभिन्न तत्त्वों का परिज्ञान आवश्यक है जिनमें औचित्यपूर्ण सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। काव्य के प्रति इस सिद्धान्त को प्रयुक्त करने पर औचित्य की परिभाषा होगी—काव्य के गुण एवं गुणी, धर्म एवं धर्मी, अलंकार एवं अलंकार्य तथा अवयव एवं अवयवी में परस्पर उचित सम्बन्ध, संवादित्व (communicability) तथा संप्रतिपत्ति रखना ही औचित्य है। अतएव साहित्य में औचित्य तत्त्व के ज्ञान के लिए साहित्य के गुण एवं गुणी, धर्म, तथा धर्मी, अलंकार एवं अलंकार्य, अवयव एवं अवयवी के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। अभिनवगुप्त के युग में औचित्यवादी कुछ समीक्षक ऐसे थे जो काव्य में औचित्य की स्वतन्त्रसत्ता मानते थे और काव्य की व्याख्या के लिए औचित्य तत्त्व को ही पर्याप्त समझते थे। इन आलोचकों की दृष्टि में औचित्य सुन्दर शब्दार्थों की औचित्यपूर्ण नियोजना के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लोचनकार ने इन औचित्यवादी समीक्षकों की खिल्ली उड़ाते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा है कि ऐसे समीक्षक अपनी ही कही हुई बात की व्यंजना नहीं समझते। काव्य के प्रसंग में औचित्य का नाम लेते ही रस और ध्वनि का अनुमान हो जाता है। औचित्य को रसहीन काव्य के जीवित मानने का सिद्धान्त कभी ग्राह्य नहीं हो सकता। यथार्थतः रस, भाव आदि औचित्य के मूल आधार हैं। विना मूल (रस) के

अर्थात् काव्य में चमत्कार एवं चारुता उत्पन्न करने का श्रेय औचित्य को है। काव्य के अन्य तत्त्व-रस, अलंकार, गुण आदि का तो औचित्य ही जीवन है। रस को छोड़कर अन्य तत्त्वों से औचित्य का शरीर एवं शरीरी का सम्बन्ध है रस एवं औचित्य में आत्मा तथा जीव का सम्बन्ध है। जिन काव्यों में औचित्य का विचार नहीं होता वहाँ यदि अलंकार आदिगुण, रहें तो भी वे किसी काम के नहीं सिद्ध होते। काव्य में अलंकारों का मूल्य अलंकार तक, गुणों का मूल्य गुण तक किन्तु औचित्य तो रससिद्ध काव्य की स्थिर जीवनशक्ति है। अलंकारों का अलंकारत्व उन्हें उचित स्थान पर रखने से है अर्थात् उनमें औचित्य की रक्षा करने से है। गुण भी औचित्य से च्युत होने पर गुण नहीं रहते। अनुचित विधि से एवं अनुचित मात्रा में अलंकार तथा गुण रखने से काव्य हास्यास्पद[1] हो जाता है। गुणों तथा अलंकारों का मूल्य काव्य में औचित्य के कारण ही होता है। औचित्य-रक्षा के विना न तो अलंकार सौन्दर्य का उन्मेष कर सकते हैं और न गुण ही[2]।

रस और ध्वनि के सिद्धान्त पर क्षेमेन्द्र के सभी प्रकार के औचित्यों की व्याख्या प्रतिष्ठित है। उन्होंने रस का नाम बहुत स्पष्ट रूप में व्याख्या करते हुए लिया है किन्तु ध्वनि का स्वीकरण अप्रत्यक्ष रूप में ही किया है। क्षेमेन्द्र की दृष्टि में रस और औचित्य में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

रस से सिद्ध काव्य में औचित्य स्थिर जीवनशक्ति के रूप में रहता है। यहाँ रस शब्द श्लिष्टार्थक है। यह क्षेमेन्द्र की व्याख्या से स्पष्ट है।

---

१ कंठेमेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यताम्।

२ औचित्येन विना रति प्रतनुते नालङ्कृतिर्नोगुणाः।

क्षेमेन्द्र

"रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः। औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्।"

रस का अर्थ पारा और रस दोनों है। जिस प्रकार पारे के सेवन से साधकों का शरीर सिद्ध हो जाता है और उसमें स्थिर जीवन शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार काव्य भी रस की सत्ता होने से सिद्ध हो जाता है और तब उसमें औचित्य रूपी स्थिर जीवन शक्ति का उदय होता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि क्षेमेन्द्र अन्य औचित्यवादियों के समान रस की सत्ता का तिरस्कार कर काव्य में एक मात्र औचित्य की ही सत्ता नहीं मानते। वे औचित्य से अधिक स्थान रस को देते हैं; इनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा औचित्य नहीं, रस है। रस की सत्ता होने पर काव्य सिद्ध होता है, अस्तित्व में आता है, तब औचित्य आकर उसमें जीवन शक्ति भरता है। औचित्य रस का जीवित है, सारभूत पदार्थ है। यदि रस में औचित्य न हो तो रसाभास उत्पन्न हो जायगा, काव्य का रूप विकृत हो जायगा। काव्य की आत्मा रस है और औचित्य काव्य का जीवित। जिस प्रकार आत्मा के विना जीवन असंभव है उसी प्रकार रस के विना औचित्य की सत्ता असम्भव। जिस प्रकार जीवन रहने पर ही आत्मा रह सकता है उसी प्रकार औचित्य रहने पर ही रस सुरक्षित रह सकता है। औचित्य में कमी या हानि हुई कि रसभंग हुआ।[1] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि रस और औचित्य में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

ध्वनि-सिद्धान्त की भूमिका पर भी बहुत अंशों में क्षेमेन्द्र के औचित्य की व्याख्या अवलम्बित है; यह दूसरी बात है कि स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख उन्होंने कम किया है। ध्वनि सिद्धान्त पर भी कुछ अंशों में क्षेमेन्द्र की औचित्य व्याख्या प्रतिष्ठित है—इसके लिए एक उदाहरण पदौचित्य व्याख्या का लीजिए :—

---

१ अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभङ्गस्यकारणम्। (आनन्दवर्धन).

कृशाङ्ग्याः इति पदं विरहावस्थासूचकं परममौचित्यं पुष्णाति[1]। कृशाङ्ग्याः पद विरहावस्था को ध्वनित (सूचित) करने से परम औचित्य से युक्त है। क्षेमेन्द्र ने अपने क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, समास, काल, उपसर्ग, निपात् आदि औचित्यों की कल्पना आनन्दवर्धन की तत्सम्बन्धी ध्वनियों के भेदों के आधार पर की है। वस्तुतः उपर्युक्त प्रकार के औचित्यों एवं ध्वनियों के लक्षण में कोई अन्तर नहीं। आनन्द जिनको ध्वनि कहते हैं उन्हीं को क्षेमेन्द्र औचित्य की संज्ञा देते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र पर ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत का सबसे अधिक प्रभाव है क्योंकि इन्होंने उसके विचारों को बहुत अधिक मात्रा में ग्रहण कर अपनी औचित्य-धारणा तथा इसके अनेक भेदों की कल्पना की है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि रस, ध्वनि और औचित्य में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हम इनको एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। रस, ध्वनि से औचित्य को अलग करने पर रस एवं ध्वनि ही नहीं वरन् काव्य मात्र का रूप विकृत हो जायगा; तथा औचित्य से रस या ध्वनि तत्त्व को अलग करने पर उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता।

औचित्य की सीमा गुण, अलंकार, रस, ध्वनि तथा भाषा के विभिन्न तत्त्वों को ही स्पर्श नहीं करती वरन् शील-निरूपण, काव्य वस्तु, काव्य स्वरूप, काव्य नामकरण आदि को भी स्पर्श करती है। शील-निरूपण के भीतर क्षेमेन्द्र के स्वभाव, देश, कुल, व्रत, सत्व, अवस्था आदि औचित्य आ जाते हैं। वस्तुतः क्षेमेन्द्र ने भरत निरूपित प्रकृत्यौचित्य के विभिन्न तत्त्वों के ही आधार पर शील-निरूपण के भीतर आनेवाले विविध औचित्यों का स्वरूप निर्मित किया है। काव्यवस्तु एवं काव्य-स्वरूप का विचार प्रकरणौचित्य एवं प्रबन्धौचित्य के भीतर होता है। काव्यनामकरण का समावेश नामौचित्य के अन्तर्गत हो जाता है। प्रतिभा-औचित्य के भीतर कल्पना का सन्निवेश होता है।

---

१ कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसनीपत्र-शयनम् (श्रीहर्ष)
औ० वि० च० में ११८ पृष्ठ पर उद्धृत

क्षेमेन्द्र देश, काल की दृष्टि रखते हुए औचित्य का विवेचन करते हैं। इस प्रकार देशौचित्य तथा कालौचित्य द्वारा काव्य में युगतत्त्व एवं राष्ट्रीयता के तत्त्व का भी अध्ययन किया जा सकता है। देश, तथा काल नामक औचित्यों की रक्षा कवि के लोक-शास्त्र आदि निरीक्षण पर अवलम्बित है। इस प्रकार लोक, काव्य, शास्त्र आदि के निरीक्षण-तत्त्व द्वारा औचित्य के भीतर व्युत्पत्ति तत्त्व आ जाता है। राजशेखर भी व्युत्पत्ति का समावेश औचित्य के भीतर करते हैं। भाषा तत्त्व के विभिन्न प्रकार के औचित्यों द्वारा अभ्यास तत्त्व का समावेश औचित्य के भीतर सरलता से हो जाता है। इस प्रकार तीनों प्रकार के काव्य हेतुओं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का समावेश औचित्य के भीतर हो जाता है।

औचित्य द्वारा किसी कृति के सौन्दर्य-नियामक सभी तत्त्वों पर विचार किया जा सकता है। किसी कृति के सौन्दर्य-नियामक तत्त्वों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं:—इन्द्रियगोचर या भौतिक गुण; जिसके भीतर वस्तु के रूप, आकार, संयोजना, विस्तार आदि का समावेश होता है। द्वितीय हैं बौद्धिक गुण—जिनके भीतर संगति, प्रमाणवद्धता, समप्रमाणता, संवादित्व, शुद्धता आदि गुण आते हैं। तृतीय हैं भावात्मक गुण—जिनके भीतर संयम, भव्यता, उदात्तता, सूचकता आदि गुण सन्निविष्ट हैं। समीक्षा का आदर्श मूल्य इन सभी गुणों के पहचानने में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि क्षेमेन्द्र के औचित्य-विचार-दर्शन द्वारा हम उक्त तीनों प्रकार के गुणों को पहचान सकते हैं। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ औचित्यविचार चर्चा के भीतर २७ प्रकार के मुख्य औचित्य-भेदों का निर्देश किया है; जिनका नाम इस प्रकार है:—(१) पद (२) वाक्य (३) प्रबन्धार्थ (४) गुण (५) अलंकार (६) रस (७) क्रिया (८) कारक (९) लिङ्ग (१०) वचन (११) विशेषण (१२) उपसर्ग (१३) निपात (१४) काल (१५) देश (१६) कुल (१७) व्रत (१८) तत्त्व (१९) सत्व (२०) अभिप्राय (२१) स्वभाव (२२) सारसंग्रह (२३) प्रतिभा (२४) अवस्था (२५) विचार (२६)

नाम (२७) आशीर्वाद। इन भेदों के निरूपण के पश्चात् क्षेमेन्द्र ने यह स्पष्ट कह दिया है कि काव्य के अन्य अवशिष्ट अङ्गों की दृष्टि से इसी प्रकार औचित्य के अनेक भेद किये जा सकते हैं[1]। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य का विस्तार वहाँ तक कर दिया है जहाँ तक कि काव्य के विभिन्न अंगों के भेद-प्रभेद संभव हो सकते हैं। अतः इस बात के कहने में अणुमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं कि क्षेमेन्द्र निरूपित औचित्य-सिद्धान्त द्वारा किसी कलाकृति के इन्द्रियगोचर, बौद्धिक तथा भावात्मक तीनों प्रकार के गुणों का विवेचन तथा मूल्याङ्कन निष्पक्ष दृष्टि से हो सकता है। काव्य के सैद्धान्तिक पक्ष की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि औचित्य तत्त्व के सम्यक् प्रयोग से काव्य में संश्लिष्टता, संगति, व्यवस्था, भव्यता, उदात्तता, शुद्धता, संवादित्व संयम, सूचकता, रम्यता, समप्रमाणता आदि अनेक गुण आ जाते हैं। यहाँ पर औचित्य के भेदों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि एक तो, वे स्वयं बहुत सरल हैं दूसरे, अपने नाम से ही वे अपने औचित्य का बोध करा देते हैं। तीसरे, औचित्य के अनेक भेदों का स्पष्टीकरण औचित्य-स्वरूप के प्रसंग में पहले हो चुका है।

क्षेमेन्द्र निरूपित औचित्य का महत्त्व :—औचित्य का मूल्य तथा महत्त्व उसके न रहने पर ज्ञात होता है; जब रस भंग होकर अरुचिकर लगने लगता है तथा काव्य का रूप विकृत कर देता है इसीलिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का जीवातु (प्राण) कहा। क्षेमेन्द्र की दृष्टि में यदि रस काव्य की आत्मा है, गुण उसके धर्म हैं, अलंकार उसकी शोभा बढ़ानेवाले साधन हैं, तो औचित्य रस का प्राण तथा काव्य की स्थिर-जीवन शक्ति है। निष्कर्ष यह कि काव्य में औचित्य का महत्त्व रस को जीवन-दान देने में ही नहीं वरन् काव्य को अमर जीवन-

---

१ अन्येषु काव्याङ्गेषु अनयैवदिशा स्वयमौचित्यम् उत्प्रेक्षणीयम्।
तदुदाहरणान्यानन्त्यात् न प्रदर्शितानीत्यलमतिप्रसङ्गेन। क्षेमेन्द्र

शक्ति प्रदान करने में है। इस प्रकार औचित्य सत्काव्य का सहज स्वभाव है। काव्य में औचित्य रूपी साधन का ठीक प्रयोग होने से उसमें प्रौढ़ता, शुद्धता, भव्यता, पूर्णता आती है। जितने काव्य दोष हैं वे सब औचित्य की अनुपस्थिति से उत्पन्न होते हैं। शास्त्र का सारा दोष-प्रकरण औचित्य के अभाव का विवेचन है। काव्य के सभी गुण, विशेषतायें, चमत्कार, उपयोगितायें औचित्य की उपस्थिति से ही उत्पन्न हो सकती हैं। काव्य का अच्छा या बुरा होना औचित्य पर निर्भर है। औचित्य सिद्धान्त सभी काव्याङ्गों को नियोजित करने की विधि बताता है तथा साथ ही उनको एक समष्टि रूप में देखने का मार्ग स्पष्ट करता है। औचित्य-दर्शन बलपूर्वक इस बात की ओर संकेत करता है कि काव्य या जीवन में कोई अङ्ग या तत्त्व निरपेक्ष नहीं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम औचित्य सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष के विषय में निम्नाङ्कित परिणाम निकाल सकते हैं। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि क्षेमेन्द्र की गणना औचित्य-सम्प्रदायवादियों के भीतर नहीं की जा सकती वरन् औचित्य-सिद्धान्त के निष्पक्ष एवं तटस्थ विचारकों में की जायगी। अतः पहले उन औचित्य सम्प्रदायवादियों का काव्य-सिद्धान्त रखा जायगा जिन्होंने औचित्यसम्प्रदाय के प्रतिष्ठापन का प्रयत्न किया था तदनन्तर आचार्य क्षेमेन्द्र का विचार, औचित्य-सिद्धान्त पर प्रस्तुत किया जायगा :—

औचित्यसम्प्रदायवादियों का सिद्धान्त

(१) काव्य का सर्वस्व औचित्य तत्व है। उसी के भीतर काव्य के समस्त सौन्दर्य समाहित हैं।

(२) रस एवं भाव के बिना भी औचित्य की सत्ता काव्य में संभव है।

(३) औचित्य काव्य का प्राण है।

(४) काव्य में औचित्य का स्थान निरपेक्ष है।

(५) काव्य की व्याख्या औचित्य की ही व्याख्या से हो सकती है। अभिनव गुप्त ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोकलोचन में इन औचित्य सम्प्रदायवादियों का घोर खण्डन करते हुए इनकी काफी हँसी उड़ाई है। ऐसा जान पड़ता है कि अभिनव के खण्डन से औचित्यवाद दब सा गया। इसी कारण लोचनकार के खण्डन के पश्चात् फिर कोई औचित्य-सम्प्रदाय का समर्थक उत्पन्न नहीं हुआ। अभिनवगुप्त के शिष्य आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने गुरु के औचित्य सम्बन्धी विचारों के स्पष्टीकरण के लिए ही अपना औचित्य-विचार-चर्चा नामक ग्रन्थ लिखा।

आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी सिद्धान्त

औचित्य-विचार-चर्चा के सम्यक् अध्ययन से यही विदित होता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र का भी मुख्य सिद्धान्त रसवादी ही था, क्योंकि रस-सिद्धान्त की भूमिका पर ही इनका औचित्य-सिद्धान्त खड़ा है। औचित्यवादियों की तरह इन्होंने औचित्य को काव्य के निरपेक्ष सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं किया वरन् रस-सिद्धान्त के सहायक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया। इनकी दृष्टि से काव्य में रस की आवश्यकता पहले है, औचित्य की बाद को। रस से जब काव्य अस्तित्व में आ जाता है, सिद्ध हो जाता है, तब औचित्य उसमें दीर्घ आयु भरता है। इनके मत से औचित्य, काव्य की आत्मा नहीं, वरन् रस है औचित्य उसका जीवातु है। इनके काव्य ग्रन्थ के उद्देश्य सम्बन्धी श्लोक "औचित्यस्य चमत्कारकारिणः चारु चर्वणे" से यह विदित होता है कि क्षेमेन्द्र काव्य में चमत्कार (अन्तश्चमत्कार) के सिद्धान्त को मानते हैं। 'चारुचर्वणे' से यह प्रगट होता है ये काव्य के आस्वादन में आनन्द के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इनकी दृष्टि से काव्य की व्याख्या, उसके अन्तर्गत प्रतिष्ठित औचित्य से ही नहीं हो सकती, क्योंकि औचित्य तत्त्व जानने के लिए गुण एवं गुणी, धर्म तथा धर्मी, अलंकार

तथा अलंकार्य, अवयव तथा अवयवी का ज्ञान आवश्यक है। अर्थात् ये रसापेक्षित गुण, अलंकार, रीति, वस्तुवर्णन, प्रबन्ध-विधान आदि के सिद्धान्त को मानते हैं। ध्वनि के अनेक भेदों के आधार पर इनके औचित्य के अनेक भेद प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार ये रस, ध्वनि एवं औचित्य के घनिष्ठ सम्बन्ध के सिद्धान्त को मानते हैं।

रस या भाव को ही साहित्य का मूल आधार स्वीकार करते हैं। काव्य एवं सदाचार के घनिष्ठ सम्बन्ध के सिद्धान्त के पृष्ठपोषक हैं। इनका काव्य-सिद्धान्त प्रकृतितः आदर्शवाद का प्रेमी है। देश-काल के औचित्य में राष्ट्रीयता एवं युग तत्त्व के सिद्धान्त सूत्र रूप में आ जाते हैं। काव्य में समानुपातिकता, सन्तुलन, संगति, मर्यादा, उपयुक्तता योग्य-संविधान उचित सम्बन्ध (काव्य के विभिन्न तत्त्वों में परस्पर उचित सम्बन्ध फिर काव्य से उनमें से प्रत्येक का उचित सम्बन्ध तथा काव्य का लोक से उचित सम्बन्ध) के सिद्धान्त को ग्राह्य कहते हैं। औचित्य की सीमा काव्य के सभी तत्त्वों को स्पर्श करती है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र काव्य में पूर्णता, संश्लिष्टता के सिद्धान्त को लेकर चलते हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि क्षेमेन्द्र को काव्य के अन्तरङ्ग दर्शन का सिद्धान्त मान्य है। वर्सफोल्ड द्वारा प्रतिपादित सैद्धान्तिक समीक्षा के मुख्य सिद्धान्त सत्य (Truth) अवयवसंगति (symmetry) एवं आदर्शीकरण (idealisation) क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त के भीतर आ जाते हैं। काव्य के सत्य का अर्थ ऐतिहासिक घटना, तिथि, या पात्र की यथार्थता उतनी नहीं है जितनी उनके भीतर छिपी हुई आत्मानुभूति का कलात्मक चित्रण। ऐतिहासिक सत्य, घटनायें, पात्र, परिस्थितियाँ तो स्थूल और एककालीन होने के कारण अभाव में परिणत हो जाती हैं किन्तु उनसे ध्वनित होनेवाली सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रकट होता रहता है जिससे उसी प्रकार की घटनायें, पुरुष, परिस्थितियाँ बार बार अभिव्यक्त होती रहती हैं। कवि के सत्य तथा इतिहासकार के सत्य में महान अन्तर होता है। कवि ऐतिहासिक कथानक का आधार लेकर अपने काव्य में

आध्यात्मिक सत्य की रक्षा करता है। किन्तु इतिहासकार इतिहास लिखते समय सदा भौतिक सत्य की रक्षा में प्रयत्नशील रहता है। काव्य में औचित्य की स्थापना के लिए कवि सत् की विजय तथा असत् की हार दिखाता है किन्तु इतिहासकार इसके लिए बाध्य नहीं। दार्शनिक दृष्टि से कवि जीवन सम्बन्धी किसी नये सत्य का चित्रण रमणीय ढङ्ग से कर सकता है। इस दार्शनिक सत्य की कसौटी साहित्य में सदा जीवन के तथ्यों या मानव के महान विश्वासों की अनुरूपता ही मानी जायगी। इस सत्य का स्वरूप-चित्रण काव्यरूपों के अनुसार बदलता रहता है। इतिहासकार का सत्य देखने, सुनने, सीखने समझने आदि बौद्धिक क्रियाओं से उद्भूत होता है। दार्शनिक का सत्य भी तार्किक क्रिया से उत्पन्न होता है किन्तु कवि का सत्य अनुभूति-प्रक्रिया से उत्पन्न होता है। कवि का सत्य वास्तविक (actual) नहीं वरन् विशिष्ट (Typical) कोटि का होता है किन्तु उसमें सामान्य मानव-मन की प्रकृति एवं क्रिया की अनुरूपता विद्यमान रहती है। इसलिए कवि के सत्य में किसी जाति का सत्य या देश का सत्य अथवा मानवता का सत्य निहित रहता है किन्तु इतिहासकार या दार्शनिक के सत्य में व्यक्ति, युग, देश, संस्कृति की सीमायें प्रायः अधिक रहती हैं। इसलिए अरस्तू की दृष्टि में कविता का सत्य इतिहास के सत्य से अधिक सूक्ष्म, व्यापक एवं उदात्त कोटि का होता है। उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि काव्य का सत्य बहुत ही व्यापक एवं नैतिक कोटि का होता है। क्षेमेन्द्र के तत्त्व, सारसंग्रह एवं प्रबन्धार्थ नामक औचित्य के भीतर उपर्युक्त प्रकार के सत्य का समावेश हो जाता है। अवयव-संगति (Symmetry) में काव्य के वाह्य-तत्त्व, काव्य के विशिष्ट स्वरूप एवं प्रयोजन के अनुसार आकर परस्पर उचित सम्बन्ध संवादित्व एवं संप्रतिपत्ति की सृष्टि करते हैं। इसके भीतर काव्याङ्गों का औचित्य आ जाता है।

वर्सफोल्ड का आदर्शीकरण (Idealisation) का सिद्धान्त रसौचित्य के भीतर आ जाता है।

औचित्य सम्प्रदाय के मूल्याङ्कन के लिए उसके गुण दोष पर विचार करना आवश्यक है। उन औचित्यवादियों का मत जिन्होंने औचित्य सिद्धान्त को साम्प्रदायिक रूप देने का प्रयत्न किया किसी प्रकार भी मान्य नहीं हो सकता। उन औचित्य सम्प्रदायवादियों ने रस या भाव के बिना भी औचित्य की सत्ता मानी है और उसे रसहीन काव्य का भी प्राण माना है। यह मत बहुत ही भ्रामक है। क्योंकि रस या भाव के बिना औचित्य की सत्ता सम्भव ही नहीं। दूसरे रस या भाव के बिना काव्य की सृष्टि ही नहीं हो सकती, तब औचित्य कहाँ और किस प्रकार से रहेगा। अतः औचित्य सम्प्रदाय की धारणा कभी भी मान्य नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि औचित्य सिद्धान्त को सम्प्रदाय विशेष का रूप देना बहुत ही अनुचित है। वस्तुतः औचित्य रस-सम्प्रदाय का एक विशेष सिद्धान्त है अतः इसे अलग सम्प्रदाय का रूप देना ठीक नहीं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ औचित्य-विचार-चर्चा में औचित्य सिद्धान्त को उसके यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न किया अर्थात् उसे रस सम्प्रदाय के एक सिद्धान्त विशेष के रूप में ही स्वीकार किया। अतः उनके औचित्य निरूपण के गुण-दोषों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

औचित्य विचार चर्चा में काव्य के सभी अंग-उपाङ्ग—शब्द, अर्थ, वाक्य, गुण, अलंकार, वृत्ति, छन्द, रस, वस्तु, प्रकरण, नाम आदि औचित्य की छत्रछाया में पनप कर अपनी सार्थकता सम्पादित करते हैं। ये सभी तत्त्व औचित्य से ही तेज, शक्ति, ज्योति, एवं जीवनी प्राप्त करते हैं। इस धारणा को उद्भावित करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है। औचित्य सिद्धान्त बहुत व्यापक सिद्धान्त है। ध्वनि, रस, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों की जब तू तू मैं मैं चल रही थी उस समय आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त द्वारा काव्य का इतना व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण रखा कि उसके भीतर काव्य के अन्य सिद्धान्तों का संश्लेषण (Synthesis) हो जाता है। यह सिद्धान्त अपनी प्रशस्तता

के कारण ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में सभी आचार्यों द्वारा किसी न किसी मात्रा में स्वीकृत हुआ है।

अलंकारवाद के पश्चात् संस्कृत साहित्य समीक्षा का दर्शन क्रमशः विशदतर होता गया, औचित्य तक आते-आते इसमें पर्याप्त व्यापकता आ गई है। क्षेमेन्द्र द्वारा निरूपित औचित्य सिद्धान्त की पृष्ठभूमि इतनी विशद दिखाई पड़ती है कि अन्य सभी सम्प्रदायों के सभी सिद्धान्त उसमें (पृष्ठभूमि में) प्रतिष्ठित किये जा सकते हैं। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि औचित्य सत्काव्य का सहज स्वभाव है। सत्काव्य के किसी अंग में या उसके पूर्ण रूप में सौन्दर्य है तो वह औचित्य के कारण ही। क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त शब्द एवं अर्थ, गुण तथा गुणी, अलंकार एवं अलंकार्य, ध्वनि और भाव में परस्पर उपकार्योपकारक वृत्ति पैदा करता है। औचित्य काव्य के प्राण—रस-तत्त्व का तो सबसे बड़ा उपकारक, पोषक एवं रक्षक है। क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त अलंकार-समीक्षा का अन्तिम मानदण्ड माना जाता है। औचित्य-विचार-चर्चा में निरूपित औचित्य सिद्धान्त किसी काव्य या कलाकृति में उसके इन्द्रियगोचर, बौद्धिक तथा भावात्मक सभी प्रकार के गुणों को समन्वित कर देता है। इस प्रकार उपर्युक्त निरूपित क्षेमेन्द्र का काव्य-दर्शन साहित्य के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग दर्शन का संश्लेषण उपस्थित करता है।

पश्चिम के आचार्यों ने भी औचित्य सिद्धान्त के विषय में समय समय पर स्फुट रूप में चर्चा की है। क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त या भारतीय समीक्षा में औचित्य तत्त्व की विशेषता जानने के लिए उन पश्चिमी आचार्यों के औचित्य सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। अरस्तू के काव्यशास्त्र में घटनौचित्य, दृश्यौचित्य, विशेषणौचित्य, रूपकौचित्य, भावौचित्य का उल्लेख मिलता है; इस प्रकार उसने काव्य के बहिरंग पक्ष के ही औचित्यों का अधिकांश मात्रा में विवेचन किया है। दूसरे उसने औचित्य के सीमित प्रकारों का उल्लेख किया है। होरेस की आर्टपोएटिका में आदर्शौचित्य, प्रकृत्यौचित्य, घटनौचित्य,

पात्रौचित्य, अभिनयौचित्य, वृत्यौचित्य का विवेचन मिलता है। होरेस ने औचित्य के अन्तरंग पक्ष पर विशेष वल दिया है। औचित्य के अन्तरंग तथा वहिरंग पक्ष का समन्वय उसके द्वारा नहीं हो सका, जैसा कि हमें औचित्य-विचार-चर्चा में मिलता है। लाङ्गिनस काव्य में भव्यता के सिद्धान्त को अपना कर भी औचित्य के वाह्य पक्ष—अलंकारौचित्य, शब्दौचित्य तक ही रह गये उसके अन्तरङ्ग भेदों एवं स्वरूपों तक उनकी पहुँच नहीं हो सकी। इधर अठारहवीं शताब्दी में पोप अपने ग्रन्थ (Essay on Criticism) में वर्णौचित्य पर विशेष वल देते हुए दिखाई पड़ते हैं। वर्सफोल्ड ने अपनी पुस्तक (Judgement in Literature) में (Symmetry) काव्यरूपौचित्य पर विशेष आग्रह किया है।

औचित्य सिद्धान्त को इतना व्यापक एवं महनीय रूप देने पर भी क्षेमेन्द्र औचित्य के नाम पर नया सम्प्रदाय चलाने का प्रयत्न करते हुए नहीं दिखाई पड़ते। इसी कारण वे अतिरेकतावादी होने से वच गये। उनके विवेचन में अतिव्याप्ति दोष नहीं आ सका। आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त में उपर्युक्त अनेक विशेषताओं एवं गुणों के रहते हुए भी हम उन्हें औचित्य सिद्धान्त के मौलिक उद्भावक का श्रेय नहीं दे सकते। 'औचित्य विचार चर्चा' के वल पर उन्हें सवसे अधिक श्रेय औचित्य सिद्धान्त के व्यापक, व्यवस्थित, तटस्थ एवं सन्तुलित विवेचन का ही मिलेगा। आचार्य क्षेमेन्द्र को किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रतिष्ठापक आचार्य होने का गौरव भले ही न मिले किन्तु साहित्य की सैद्धान्तिक समीक्षा के तटस्थ एवं स्वस्थ विचारकों में उन्हें कदाचित् शीर्ष स्थान मिलेगा क्योंकि उन्होंने अपने विवेचन में समीक्षा-स्वरूप के स्वस्थ दर्शन का प्रयत्न किया अपने अहं-प्रदर्शन का नहीं।

रस का इतिहास

संस्कृत साहित्य में रस के दो स्वरूप मिलते हैं। एक आविष्कारात्मक, दूसरा साहित्यशास्त्रीयचर्चात्मक। ऋग्वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा अन्य काव्य नाटकों में रस का आविष्कारात्मक रूप मिलता है। साहित्यशास्त्रियों के ग्रन्थों में इसका शास्त्रीय रूप मिलता है। रस के साहित्यशास्त्रीय स्वरूप के आविष्कर्ता का नाम बताना कठिन है, क्योंकि भरत के पूर्व रस पर लिखने वाले अनेक आचार्य हो गये हैं, जैसे आदिभरत, वृद्धभरत, सदाशिवभरत, वासुकिनारद, नंदिकेश्वर,[1] शिलालिन, कृशाश्व[2] आदि। किन्तु इन आचार्यों के ग्रन्थ अप्राप्य हैं, अतः इनका समय जानना कठिन है। भरत के पूर्ववर्ती रसाचार्यों के ग्रन्थों के अभाव के कारण भरत मुनि ही रससम्प्रदाय के आदिम आचार्य माने जाते हैं।

भावप्रकाश के एक श्लोक से विदित होता है कि भरत के पूर्व रस-विवेचन में विवाद का सबसे मुख्य विषय यही था कि रस भाव से उत्पन्न होता है या भाव रस से उत्पन्न होता है। आचार्य भरत की दृष्टि में भाव, स्थानभेद से रस को उत्पन्न करते हैं एवं रससे उत्पन्न भी होते हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में अपने मत की पुष्टि के लिए अपने पूर्ववर्ती रसाचार्यों का मत उद्धृत किया है जिनसे रस सम्बन्धी अनेक मार्मिक बातों का ज्ञान होता है।

---

१ काव्यमीमांसा में राजशेखर ने नंदिकेश्वर को भरत के पूर्व का रसाचार्य माना है।

२ शिलालिन एवं कृशाश्व का उल्लेख पाणिनी ने अष्टाध्यायी में नाट्याचार्य के रूप में किया है। इससे यह अनुमान होता है कि दोनों ने अपने नाट्य-शास्त्र के ग्रन्थों में रस की चर्चा अवश्य की होगी।

भरत की दृष्टि में नाटक की सहकारी वस्तुओं तथा आंगिक, वाचिक एवं आहार्य अभिनयों को सात्विक अभिनय अर्थात् रसोत्पत्ति में सहायक होना चाहिए। यही रस नाटक का मुख्यतम तत्व है। इनकी दृष्टि में सामाजिक पर भावात्मक प्रभाव डालना कविता या साहित्य का अन्तिम ध्येय है। कोई भी कविता या साहित्यिक कृति भावात्मक प्रभाव के बिना अपनी वास्तविक सत्ता से च्युत हो जाती है। भरत का प्रसिद्ध सूत्र रस-प्रक्रिया को संक्षेप में उपस्थित करता है। भरत की रस-प्रक्रिया में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संश्लेषण की प्रक्रिया निहित है। इसी संश्लेषण से रस उत्पन्न होता है। किन्तु इस संश्लेषण-प्रक्रिया का कोई स्पष्ट विवेचन भरत मुनि के सूत्र में नहीं मिलता। यद्यपि भरत मुनि के समय तक भारतवर्ष में आधुनिक मनोविज्ञान का आविष्कार नहीं हुआ था फिर भी उन्होंने अपने अन्तर्निरीक्षण द्वारा रस-प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक आधार तथा स्वरूप एवं कारण सूत्र रूप में उपस्थित किया है। भरत निरूपित रस-सूत्र एवं सिद्धान्त ही आगे चल कर रस-सम्प्रदाय के आचार्यों के विश्लेषण का मुख्य आधार बना। विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस की मानसिक स्थिति क्यों उत्पन्न होती है इसका कोई स्पष्ट विवेचन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। विभाव, अनुभव तथा संचारी कैसे रस उत्पन्न करते हैं? इसका अस्पष्ट उत्तर संयोग एवं निष्पत्ति शब्द से मिलता है। सूत्रगत इसी अस्पष्टता के कारण रस के परवर्ती आचार्यों द्वारा इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई।

भामह अलंकारमत के प्रतिनिधि आचार्य हैं। इनकी दृष्टि से काव्य में सबसे अधिक आवश्यकता तथा महत्ता अलंकार की है। इनके अलंकारों का मूल आधार वक्रोक्ति है। काव्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों बहुत आवश्यक हैं। काव्य में अलंकार को सर्वाधिक प्रधानता देने पर भी इन्होंने अपने विवेचन में रस की सर्वथा उपेक्षा नहीं की है। महाकाव्य के लक्षणों का उल्लेख करते समय उन्होंने इसमें सब रसों का रहना आवश्यक बतलाया है। भामह ने प्रेयस्, रसवत्,

रस का इतिहास

संस्कृत साहित्य में रस के दो स्वरूप मिलते हैं। एक आविष्कारात्मक, दूसरा साहित्यशास्त्रीयचर्चात्मक। ऋग्वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा अन्य काव्य नाटकों में रस का आविष्कारात्मक रूप मिलता है। साहित्यशास्त्रियों के ग्रन्थों में इसका शास्त्रीय रूप मिलता है। रस के साहित्यशास्त्रीय स्वरूप के आविष्कर्ता का नाम बताना कठिन है, क्योंकि भरत के पूर्व रस पर लिखने वाले अनेक आचार्य हो गये हैं, जैसे आदिभरत, वृद्धभरत, सदाशिवभरत, वासुकिनारद, नंदिकेश्वर,[1] शिलालिन, कृशाश्व[2] आदि। किन्तु इन आचार्यों के ग्रन्थ अप्राप्य हैं, अतः इनका समय जानना कठिन है। भरत के पूर्ववर्ती रसाचार्यों के ग्रन्थों के अभाव के कारण भरत मुनि ही रससम्प्रदाय के आदिम आचार्य माने जाते हैं।

भावप्रकाश के एक श्लोक से विदित होता है कि भरत के पूर्व रस-विवेचन में विवाद का सबसे मुख्य विषय यही था कि रस भाव से उत्पन्न होता है या भाव रस से उत्पन्न होता है। आचार्य भरत की दृष्टि में भाव, स्थानभेद से रस को उत्पन्न करते हैं एवं रससे उत्पन्न भी होते हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में अपने मत की पुष्टि के लिए अपने पूर्ववर्ती रसाचार्यों का मत उद्धृत किया है जिनसे रस सम्बन्धी अनेक मार्मिक बातों का ज्ञान होता है।

---

१ काव्यमीमांसा में राजशेखर ने नंदिकेश्वर को भरत के पूर्व का रसाचार्य माना है।

२ शिलालिन एवं कृशाश्व का उल्लेख पाणिनी ने अष्टाध्यायी में नाट्याचार्य के रूप में किया है। इससे यह अनुमान होता है कि दोनों ने अपने नाट्य-शास्त्र के ग्रन्थों में रस की चर्चा अवश्य की होगी।

उर्जस्वी अलंकारों के अन्तर्गत रस को समाहित करने का प्रयत्न किया है। इनके प्रेयस् अलंकार में मित्र-प्रेम तथा कृष्ण-विषयक भक्ति, उर्जस्वी में वीरों के स्वभाव की तेजस्विता, अहंकार तथा गर्व तथा रसवत् अलंकार में शृंगारादि रस स्पष्ट रहते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भामह काव्य में रस तत्त्व से परिचित जान पड़ते हैं। किन्तु उसका ठीक उपयोग, उसका उचित स्वरूप, उसकी वैज्ञानिक प्रक्रिया तथा प्रकृति उन्हें ज्ञात नहीं।

दण्डी पर भामह की अपेक्षा रस की छाप अधिक है इसी लिए वे भामह की अपेक्षा रस तत्त्व को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ दिखाई पड़ते हैं और काव्य में रस को भामह की अपेक्षा कुछ अधिक स्थान देते हैं। भामह रस का समावेश प्रेयस्, रसवत्, उर्जस्वी आदि कतिपय अलंकारों के भीतर करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु दण्डी इनसे एक क़दम आगे बढ़कर रस का समावेश अलंकार के साथ साथ गुण के भीतर भी करते हैं। दण्डी ने भी प्रेयस्, रसवत्, उर्जस्वी अलंकारों के भीतर रस का समावेश किया है। माधुर्य गुण का वर्णन करते समय दण्डी कहते हैं कि रसवत् रचना में माधुर्य गुण होता है।[१] प्रकारान्तर से इसे हम कह सकते हैं कि जहाँ माधुर्य गुण रहेगा वहाँ रस अवश्य रहेगा। इस प्रकार वे रस और गुण में अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अन्यत्र वे कहते हैं कि गुण किसी रचना का प्राण है। अतः यह बात स्पष्ट हो गई कि वे अप्रत्यक्ष रूप से रस को महत्त्व देते हैं। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि दण्डी रस को काव्य में मुख्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कभी रीति, कभी अलङ्कार तथा कभी गुण को ही काव्य का मुख्य तत्त्व मानते हुए दिखाई पड़ते हैं। एक स्थान पर वे अलंकारों का पर्यवसान रस में करते हुए दिखाई पड़ते[२] हैं तो दूसरे

---

१. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। येनमाद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः। (काव्यादर्श)

२. कामं सर्वेऽप्यलंकारः रसमर्थे निषिञ्चति। (वही)

स्थान पर रस का समावेश कतिपय अलंकारों के भीतर। इससे यह प्रगट होता है कि वे काव्य में रस की सत्ता एवं उपयोग मानते थे पर काव्य में उसकी प्रक्रिया, स्वरूप[1], स्थान आदि से अपरिचित थे। दण्डी ने रसों की संख्या आठ ही मानी है।

भामह एवं दण्डी के पश्चात् वामन ने रीति मत का स्वतंत्र रूप में प्रतिपादन किया। किन्तु वे अलंकार मत के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके। इसीलिए उन्होंने काव्य को रस से ग्राह्य होना न बतला कर अलंकार से ही ग्राह्य होना बतलाया[2] तथा काव्य के समस्त सौन्दर्यों को अलंकार के ही भीतर[3] देखने का प्रयत्न किया, उसके वर्ण्य, रस आदि के भीतर नहीं। अलंकार की इतनी प्रशंसा करने पर भी वामन उसे काव्य के भीतर गुण के समान महत्ता या स्थान न दे सके। इनकी दृष्टि से काव्य में शोभा की सृष्टि करने वाले तत्त्व गुण[4] ही हैं। अतः वे काव्य के नित्य धर्म हैं।[5] अलंकार तो काव्य की शोभा में अतिशयता लाने वाले तत्त्व हैं[6] अतः वे काव्य के अंगभूत धर्म न होकर केवल बाहर ही बाहर रहते हैं। इनके मत में काव्य यदि गुण विहीन है तो अलंकार से उसकी शोभा बिगड़ जाती है। इस प्रकार इनका अलंकार विषयक मत कुछ ठीक ठिकाने का नहीं जान पड़ता। वामन ने दण्डी के दस गुण—ओज-प्रसादादि का विस्तृत विवेचन किया है। वहाँ वे अर्थ-गुण को शब्द-गुण से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। इस प्रकार काव्य के वर्ण्य, भाव, या रस को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। आचार्य

---

१ दण्डी रस को केवल काव्यगत ही मानते हैं रसिकगत नहीं। इस प्रकार रस का अधूरा स्वरूप ही उपस्थित करते हैं।

२ काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। (काव्यालंकारसूत्र)

३ सौन्दर्यमलंकारः (वही)

४ काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः। (वही)

५ पूर्वे नित्याः। (वही)

६ तदतिशयहेतवः अलंकाराः। (वही)

वामन रस का समावेश कान्ति गुण के भीतर करते हैं[१]। वामन ने काव्य के अनित्य एवं गौण धर्म—अलंकार में रस का समावेश न करके, काव्य के नित्य एवं प्रधान गुण कान्ति के भीतर रस का अन्तर्भाव किया और इस प्रकार भामह, दण्डी आदि की अपेक्षा रस को अधिक उचित एवं महत्त्वपूर्ण स्थान दिया फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वामन ने काव्य में रस को उचित स्थान दिया, क्योंकि वे रस का समावेश कान्ति गुण के भीतर करते हैं और गुण को रीति का प्राण तथा रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं और अन्त में रीति का स्वरूप बहुत व्यापक कर उसके भीतर रस, गुण, अलंकार आदि तत्त्वों को समाहित कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि वामन भी काव्य में रस को उचित स्थान तथा महत्त्व नहीं दे सके, उसकी प्रक्रिया स्पष्ट नहीं कर सके।

उद्भट अलंकारमत के अनुयायी होते हुए भी दण्डी की अपेक्षाकृत रस के अधिक पृष्ठपोषक हैं। इन्होंने रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी अलकारों के अतिरिक्त समाहित के भीतर भी रस का सन्निवेश किया है। इनकी दृष्टि में जहाँ रस, भाव, रसाभास, भावाभास दबी या अविकसित अवस्था में रहते हैं वहाँ समाहित अलंकार की सृष्टि होती है।[२] इस प्रकार रस के स्वरूप को पहचानने में इन्होंने भी गड़बड़ी की है। किन्तु इनकी रसयुक्त अलंकार की व्याख्या दण्डी, भामह तथा वामन की अपेक्षाकृत रस के अधिक निकट है। शान्त रस का उल्लेख तथा रसों की संख्या के भीतर उसका समावेश उद्भट ने सर्वप्रथम किया। विभाव, भाव, स्थायी-संचारी आदि की भी व्याख्या इन्होंने की है। किन्तु इसमें कोई नवीनता नहीं है। भारतीय नाट्यशास्त्र की टीका भी इन्होंने लिखी है किन्तु उसमें इनकी मौलिकता का कोई पुट नहीं है।

अभिनव भारती से विदित होता है कि भट्टलोल्लट का समय उद्भट के

---

१ दीप्तरसत्वं कान्तिः। (वही)

२ रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम्। काव्यालंकारसंग्रह।

पश्चात् आता है। ये भरत सूत्र के प्रथम व्याख्याकार हैं। इनकी रस-व्याख्या इनके मीमांसा-दर्शन से उद्भूत हुई है। इन्होंने भी नाटक के प्रसंग में ही रस की चर्चा की है। ये रस को विषयगत अर्थात् नायकगत मानते हैं। वह (रस) अभिनय के माध्यम से प्रेक्षक में पहुँचता है। इसे और व्यापक करके हम कह सकते हैं कि रस प्रत्यक्ष मानव जीवन में भी है। यह जगत-जीवन के पात्रों के व्यवहारों में भी है। इनका रस मत उत्पत्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्त इन्हें रसोत्पत्तिवादी इसलिए मानते हैं कि भट्टलोल्लट की दृष्टि में रस प्रथम नायक में उत्पन्न होता है। फिर अनुभाव, व्यभिचारी आदि से विकसित तथा पुष्ट होता है। दर्शक, नायक में उत्पन्न रस का आरोप, अभिनय कौशल के कारण नट में करता है। यही आरोप उसके आनन्द का कारण होता है। प्रेक्षक नट नटी को सामने कुशलतापूर्वक अभिनय करते हुए देखता है। उनकी कुशलता एवं सजीवता के कारण वह उनमें ही नायक नायिका का आरोप कर लेता है अर्थात् सहानुभूति द्वारा उन्हीं को दुष्यन्त शकुन्तला समझ लेता है। रंगमंच पर नट नटी के रूप में दुष्यन्त शकुन्तला को रस ग्रहण करते देख कर यही समझता है कि वास्तविक दुष्यन्त शकुन्तला रस ग्रहण कर रहे हैं। और उनकी रस दशा देखकर स्वयं भी रसानुभव करने लगता है। ये भी स्थायी भाव को वासना रूप में नायक में स्थित मानते हैं। स्थायी भाव, विभाव द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। इनकी दृष्टि में स्थायीभाव और विभाव में उत्पाद्योत्पादक सम्बन्ध है। अनुभाव, स्थायीभाव के उत्पन्न होने के वाह्य चिह्न या प्रमाण हैं। स्थायीभाव और अनुभाव में अनुमाप्य अनुमापक सम्बन्ध है। स्थायी और व्यभिचारी का सम्बन्ध पोष्य पोषक का है। निष्पत्ति का अर्थ इनकी दृष्टि में उत्पत्ति है इसी लिए इस मत का नाम उत्पत्तिवाद पड़ा। निष्पत्ति की अवस्था में व्यभिचारी घनीभूत हो जाते हैं। संयोग का अर्थ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी का स्थायीभाव से सम्बन्धित होना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्पत्तिवाद रस के एकाङ्गी

स्वरूप को उपस्थित करता है। इस मत द्वारा विवेचित रस-प्रक्रिया काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से ही अधिक सम्बन्ध रखती है वास्तविक रसप्रक्रिया से कम।

भट्टलोल्लट के पश्चात् रुद्रट का समय आता है। ये प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने रस का विवेचन स्वतंत्र रूप में किया है। इनकी दृष्टि में रस ही काव्य को सरस बनाता है[1]। ये कवियों को काव्य में रस लाने का आदेश देते हैं[2]। इनकी दृष्टि में शृंगार रस सर्वश्रेष्ठ रस है। इन्होंने सर्वप्रथम वीर रस के युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर तीन भेद किए हैं। ये नव रस के अतिरिक्त प्रेयस् रस को दशम रस मानते हैं। ये दो मित्रों के बीच असाधारण उत्कट प्रेम को प्रेयस् रस मानते हैं[3]। इनकी दृष्टि में सामान्य भाव आस्वाद्ययोग्य होने पर रस-परिपाक के योग्य हो जाते हैं। आचार्य रुद्रट व्यभिचारी भावों को स्थायी भाव की क्षमता रखने पर रस परिपाक के योग्य मानते हैं। इनके मत में शब्दार्थ काव्य के शरीर हैं। अलंकार उसके अनित्य भूषण हैं। रस सौन्दर्यादि के समान काव्य के सहज गुण या धर्म हैं[4]। रीति इनकी दृष्टि से रस का परिपोष करती है। इस प्रकार इन्होंने काव्य के अन्य तत्त्वों से रस का श्रेष्ठत्व सिद्ध किया है।

भरत सूत्र के दूसरे प्रसिद्ध व्याख्याकार श्री शंकुक का समय उद्भट के पश्चात् आता है। ये नैयायिक थे अतः इन्होंने न्याय के प्रसिद्ध सिद्धान्त अनुमान की प्रक्रिया द्वारा रस सूत्र की व्याख्या की है। इन्होंने भी अभिनय के माध्यम से रसानुभूति की प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है। अनुमितिवाद उत्पत्तिवाद से एक कदम आगे है

---

१ सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्। (काव्यालंकार)

२ तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसेन युक्तम्। (वही)

३ स्नेहप्रकृतिः प्रेमान् संगतशीलार्यनायको भवति। (वही)

स्नेहस्तु साहचर्यात् प्रकृतेरुपचार संबन्धात्। (वही)

४ रसस्तु सौन्दर्यादिवत् सहजो गुणः॥ (वही)

क्योंकि इसमें रस आत्यन्तिक रूप से विषयगत नहीं वरन् कुछ विषयीगत भी माना गया है। क्योंकि नट नटी का अभिनय कौशल प्रेक्षक के रसानुमिति में महत्त्वपूर्ण योग देता है। शंकुक ने रस-प्रतीति न मान कर चित्र-तुरंग-न्याय के आधार पर इसका अनुमान ही संभव बतलाया है। इनकी दृष्टि में मूलभाव नायक नायिका में हैं। उनके अनुकृत भाव का अनुमान प्रेक्षक नट और नटी के माध्यम से करते हैं। नट नटी का अभिनय-सौन्दर्य इस अनुमान को संभव बनाता है। सामाजिक, नट-नटी में उनके अभिनय-कौशल के कारण नायक नायिका के स्थायी भावों की उत्पत्ति, पुष्टि, का बार-बार अनुमान, अनुमान की अलौकिकता के कारण आनन्दित हो जाता है। श्री भट्ट लोल्लट गुप्त जी के शब्दों में राम के चरित को स्वयं काव्यमय मानते हैं किन्तु श्री शंकुक कवि की सौन्दर्य-भावना को राम के काव्य-रूप का मूल आधार मानते हैं। अनुमितिवाद भी रस की सत्ता प्रेक्षक में न मान कर कवि-निरूपित नायक में ही मानता है। ये निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति लेते हैं एवं संयोग का अर्थ विभाव का सम्बन्ध एक ओर अनुभाव तथा व्यभिचारी से तथा दूसरी ओर स्थायी से मानते हैं। संक्षेप में इनका संयोग स्थायी एवं विभाव का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। अनुमितिवाद में रस और विभाव का सम्बन्ध अनुमाप्य तथा अनुमापक का है। भट्टलोल्लट के समान शंकुक भी रस को वाच्य ही मानते हैं।

शंकुक के पश्चात् रुद्रभट्ट का समय आता है। इन्होंने काव्य के प्रसंग में रस का विवेचन अपने ग्रन्थ शृंगारतिलक में किया है। इनकी दृष्टि से काव्य के भीतर रस तत्त्व की सबसे अधिक महत्ता है। इनके मत में काव्य, रस के बिना उसी प्रकार अरमणीय है जैसे चन्द्र के बिना रात्रि।

आनंदवर्द्धन

भरत के पश्चात् भामह, दंडी, वामन आदि के समय में काव्य में रस-तत्त्व अप्रधान हो गया था। इसको आनंदवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य

की आत्मा कह कर फिर प्रसिद्ध स्थान दिया। आनन्दवर्द्धन ध्वनि-प्रधान काव्य को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं और, ध्वनियों में, रस-ध्वनि को सर्वश्रेष्ठ। प्रकारांतर से इसका तात्पर्य यही हुआ कि रस-प्रधान काव्य सर्वश्रेष्ठ होता है। आनंदवर्द्धन के रस-ध्वनि को प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण कहने का कारण यह है कि अंततोगत्वा वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों का पर्यवसान रस-ध्वनि में ही होता है। इनके सामान्य सिद्धांत की दृष्टि से काव्य की आत्मा ध्वनि मान लेने पर भी विशिष्ट दृष्टि से रस तत्त्व ही काव्य की आत्मा निश्चित होता है। ध्वन्यालोक के भीतर सर्वप्रथम अलंकार, रीति, गुण, दोष, वक्रोक्ति, औचित्य आदि सभी काव्य तत्त्वों का समन्वय रस या ध्वनि के द्वारा किया गया। उस समन्वय सूत्र का ग्राहक-तत्त्व रस ही घोषित किया गया है। इस प्रकार रस-तत्त्व में अन्य तत्त्वों का विलीनीकरण सर्वप्रथम आनंदवर्द्धन ने किया। अभी तक पाठक या श्रोता की मनःस्थिति पर विचार नहीं हुआ था। इस पर भी आनंदवर्द्धन ने अपना मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इन्होंने रसानुभूति की प्रक्रिया को व्यंजना-प्रक्रिया द्वारा सिद्ध करके रस-प्रक्रिया के मनोवैज्ञानिक आधार को स्पष्ट किया। काव्य के प्रत्येक तत्त्व—वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण, प्रबंध सभी के अंतर्गत ध्वनि की सत्ता सिद्ध कर रस की व्याप्ति काव्य के प्रत्येक अंग या तत्त्व में दिखलाई। इसी कारण आनंदवर्द्धन काव्य में रस या ध्वनि तत्त्व को अंगी तत्त्व मानते हैं तथा अन्य तत्त्वों को अंग। अलंकार, रीति आदि के प्रयोग पर उन्होंने अपना जो मत दिया है इससे सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि इनके विवेचन के समय रस-तत्त्व पर ही मुख्य रूप से थी, जैसा कि नीचे के दिए हुए ध्वन्यालोक के इन श्लोकों से स्पष्ट होता है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्न निर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥१॥
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥२॥

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥३॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलंकारवर्गस्यांगत्व साधनम् ॥ ४ ॥

अलंकार-प्रयोग के समय रस की हानि न हो, उसके लिए स्वतंत्र रूप से यत्न न करना पड़े, अलंकार प्रतिभा से आविर्भूत हो अर्थात् भाव से भरे हुए हों, रस की दृष्टि से जब अलंकार की आवश्यकता हो तब वह उसका अंगभूत होकर आवे, योग्य स्थान पर अलंकार का ग्रहण हो, अयोग्य स्थान पर उसका त्याग हो तथा कवि को अलंकार का व्यसन न हो। रीति के विषय में भी आनंदवर्द्धन का मत काव्य में रस की मुख्यता को ही सिद्ध करता है:—

गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान (आनंदवर्द्धन)। आनन्द ने प्रबन्धकार कवि को प्रबन्धरचना के समय रस की ओर दृष्टि रखने का आदेश स्पष्ट रूप में दिया है। इनकी दृष्टि से रस को काव्य का मुख्य प्रयोजन बना कर उसके निष्पत्यर्थ शब्दों एवं अर्थों का उपनिबन्धन करना कवि का मुख्य कर्तव्य है। ध्वनिकार ने रस की चर्चा काव्य तथा नाटक दोनों प्रसंगों में की है और रस को दोनों के भीतर जीवितभूत का स्थान दिया है।

अग्निपुराण

अग्निपुराण को कुछ आचार्य भरत के पहले की रचना सिद्ध करते हैं, किन्तु उसमें भरत के परवर्त्ती आचार्यों भामह, दण्डी, आनंदवर्द्धन आदि द्वारा निरूपित काव्य तत्त्वों का संकलन एवं विवेचन है। इससे सिद्ध होता है कि अग्निपुराण का रचनाकाल आनंदवर्द्धन के पश्चात् का है। इसमें सभी काव्य-तत्त्वों का समभाव से विवेचन है। किन्तु निष्कर्ष रूप में रस की ही महत्ता के प्रतिपादन की ओर विशेष झुकाव दिखाई पड़ता है। अग्निपुराणकार ने अलंकाररहित कविता को

विधवा स्त्री के समान मानकर भी वक्रोक्ति-प्रधान काव्य में रस को ही प्राण का स्थान दिया है। अग्निपुराणकार ने अपने रस की परिभाषा में रस के स्वरूप को दार्शनिक रूप प्रदान किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अग्निपुराणकार एक बहुत बड़े दार्शनिक रहे होंगे, इसलिए इन्होंने रस के ऊपर भी दर्शन का आवरण चढ़ाने का प्रयत्न किया। अग्निपुराण के निम्नांकित उदाहरणों से उपर्युक्त बातें भली-भाँति स्पष्ट हो जाती हैः—

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वन्दन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनंदः सहजस्तस्य व्यज्यतेस कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य चमत्काररसाह्वयाः॥
अलंकार रहिता विधवैव सरस्वती।
वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्॥

राजशेखर

राजशेखर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक काव्य-मीमांसा में काव्य-तत्त्वों का कोई विशद विवेचन नहीं किया है। किन्तु इसमें दिए हुए उनके काव्य-पुरुष के रूपक से काव्य तत्त्वों का अलग अलग स्थान निश्चित हो जाता है। उस रूपक में शब्दार्थ को काव्य-पुरुष का शरीर, अलंकार को भूषण एवं रस को आत्मा अभिहित किया गया है।

राजशेखर के पश्चात् भरतसूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार भट्टनायक का नाम रस के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। भट्टनायक सांख्य-मतानुयायी तथा तार्किक थे। इन्होंने सांख्य दर्शन के आधार पर रस की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। इनके द्वारा आविष्कृत रस का साधारणीकरण का सिद्धान्त अब तक माना जाता है। ये रस को काव्यगत तथा रसिकगत दोनों मानते हैं। इनकी दृष्टि से रस काव्य की आत्मा है। भट्टलोल्लट तथा शंकुक रस उत्पन्न करने की शक्ति

केवल काव्य में मानते हैं; भट्टनायक रसनिष्पत्ति की शक्ति काव्य तथा रसिक दोनों में मानते हैं। काव्य तथा रसिक के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की दृष्टि से तथा काव्यगत प्रेषणीयता को उद्घाटित करने की दृष्टि से भुक्ति-सिद्धान्त उत्पत्तिवाद तथा अनुमितिवाद से एक श्रेणी आगे है। रसिक की रसानुभूति में उत्पन्न होने वाली बाधा को भट्टनायक ने सर्वप्रथम अपने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा दूर किया। करुण रस की सन्तोष जनक तार्किक व्याख्या भी सर्वप्रथम भुक्तिवाद द्वारा उपस्थित की गई। आचार्य भट्टनायक ने सर्वप्रथम नाटक तथा काव्य के तत्त्वों की व्याख्या करके यह बतलाया कि किस प्रकार गुण, रीति वृत्ति, अलंकार, अभिनय, संगीत आदि रसानुभूति में सहायक सिद्ध होते हैं। रस के इतिहास में अभिनवगुप्त का नाम परवर्ती आचार्यों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भरतसूत्र के व्याख्याकारों में इनका नाम सर्वोपरि है। भरतसूत्र की इनकी व्याख्या सर्वाधिक विशुद्ध है। वह भरत मुनि के मत से सबसे अधिक मिलती जुलती है। भट्टनायक की रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया को इन्होंने अधिक स्पष्ट, तात्विक तथा मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया। इनका मत काव्य रचना तथा सहृदय की रसानुभूति के बीच किसी मध्यवर्ती शक्ति को नहीं मानता। रसनिष्पत्ति विषयक इनका मत अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। आगे चल कर यही मत सर्वमान्य हुआ। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने इन्हीं के मत का अनुगमन किया। ध्वनि और रस का संश्लेषण इन्होंने सर्वोत्तम ढंग से किया है। इन्होंने सर्वप्रथम यह बात बतलाई कि नाटक और काव्य दोनों में एक ही प्रकार का रस विद्यमान है। दोनों से एक ही प्रकार का रस सहृदय को अनुभव होता है। इन्होंने शान्त रस को प्रधानता दी है। अन्य रसों का समावेश उसी के भीतर करने का प्रयत्न किया है। अभिनव गुप्त ने रस के मनोवैज्ञानिक आधार एवं दार्शनिक स्वरूप का विवेचन बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि तथा विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया है। अभिनवगुप्त रस को एक विशिष्ट प्रकार का मानसिक अनुभव मानते हैं। संस्कार या वासना रूप में स्थायी

भावों की सत्ता प्रत्येक सहृदय में वर्तमान है। वही, काव्यगत चित्रित उचित विभाव, अनुभाव आदि के साक्षात्कार से रस रूप में परिणत होता है। सहृदय को काव्यगत तथा नाट्यगत वस्तुओं का अनुभव साधारणीकृत रूप में होता है। लोचनकार ने सर्वप्रथम रसभोक्ता की शक्तियों, विशेषताओं, गुणों आदि का बहुत ही स्पष्ट तथा व्यापक स्वरूप उपस्थित किया। काव्य-रस के आस्वादन की सभी समस्याओं का सुझाव इन्होंने तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया। काव्य के ध्वन्यात्मक पक्ष की स्पष्ट तथा मनोवैज्ञानिक व्याख्या विवेचनात्मक ढंग से उपस्थित करने का श्रेय सर्वप्रथम अभिनव गुप्त को ही है।

कुंतक

कुंतक ने अपनी वक्रोक्ति-धारणा के भीतर पूर्व निरूपित सभी काव्य तत्त्वों का समावेश करने का प्रयत्न किया है। कुंतक का रस के ऊपर इतना अधिक आग्रह है कि वे रसवत् को सब अलंकारों का प्राण मानते हैं तथा उसी की उपस्थिति में काव्य को सारवान समझते हैं। कुंतक की दृष्टि में निरंतर रस-धारणा करने से ही कवि की वाणी अमर होती है। उनके मत में काव्यानुभूति काल का प्रयोजन भी रस-निष्पत्ति या आनंद-प्राप्ति ही है जिससे अन्तश्चमत्कार उत्पन्न होता है। कुन्तक काव्य के सभी मार्गों में पाये जानेवाले औचित्य तथा सौभाग्य नामक सामान्य गुण को रस-पोषक समझते हैं। कुंतक की वक्रोक्ति कवि-व्यापार से उत्पन्न होती है; इधर रस भी कवि-व्यापार से उत्पन्न होता है। एक ही व्यापार से उत्पन्न होने के कारण दोनों में घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है। कुंतक की वक्रोक्ति की जन्मदात्री प्रतिभा है, इधर रस भी भावना की प्रेरणा से उत्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों में बहुत साम्य है। कुन्तक ने रस के विषय में ऐसी बातें कही है जो इनके पूर्व औरों ने नहीं कही थीं—जैसे, रस कल्पना क्रिया के विशिष्ट व्यापार की उपज है। रस किसी विच्छिन्न (Isolated) उद्दीपन से उत्पन्न नहीं होता। वह किसी सुविकसित घटना या परिस्थिति में उद्भूत होता है। रस के विभाव किसी

परिस्थिति में संश्लिष्ट रूप में रखे जाने पर ही अर्थ युक्त होते हैं। रस कोई विच्छिन्न अनुभूति नहीं, वरन् भाव विशेष का सर्वाङ्गीण समन्वित विकास है। प्रबन्धवक्रता में तो कुन्तक ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि भाव या रस का स्रोत कोई घटना या परिस्थिति होती है। इस प्रकार दोनों में बहुत कुछ साम्य दिखाई पड़ता है। कुन्तक को काव्य में रस की महत्ता एवं आवश्यकता अधिकाधिक मात्रा में स्वीकृत है, किन्तु वह रस-वादियों के समान निरपेक्ष रूप में नहीं। ये रस का उपयोग वक्रोक्ति की रमणीयता उद्‌घाटित करने के लिए चाहते हैं। इनका कहना है कि मूल वस्तु को सुन्दर या विचित्र रूप दे दिया तो वह रस-युक्त हो गई। इस प्रकार इनके द्वारा निरूपित वक्रोक्ति और रस में कई स्थानों पर अभेद दिखाई पड़ता है। भामह, दंडी, वामन के समान वे रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वि इत्यादि को अलंकार नहीं मानते, वरन् इनका संबंध वर्ण्य से निरूपित कर इन्हें रस सिद्ध करते हैं। इनकी दृष्टि में सचेतन पर अचेतनत्व और अचेतन पर सचेतनत्व का आरोप करने से प्रसंगों में रसोद्दीपन की शक्ति आ जाती है। वक्रोक्तिकार की दृष्टि में जिस अर्थ से सहृदयों का चित्त आह्लादित हो वही काव्य के उपयुक्त है। इस प्रकार वे वक्रोक्ति के निरूपण में रस के पृष्टपोषक ही सिद्ध होते हैं। रसवादियों से इनका मुख्य मतभेद यही है कि ये रस को काव्य की आत्मा न कहकर वक्रोक्ति को कहते हैं। रसवादियों के सिद्धान्त में काव्य-तत्त्वों का समन्वय-सूत्र रस में दिखाई पड़ता है। कुंतक के काव्य-सिद्धांत में काव्य-तत्त्वों का समन्वय-सूत्र वक्रोक्ति में दिखाई पड़ता है।

महिम-भट्ट

महिम-भट्ट अपने ग्रन्थ व्यक्ति-विवेक में ध्वनि-वाद के विरुद्ध मत रखने पर भी काव्य में रस की प्रधानता मानते हैं। नैयायिक होने के कारण इन्होंने रस-प्रक्रिया की व्यंजना-पद्धति का खंडन करके रसनिष्पत्ति-अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। रस को ये ज्ञान-स्वरूप मानते हैं।

इन्होंने वस्तु-ध्वनि; अलंकार-ध्वनि तथा रस-ध्वनि—सबका समावेश अनुमान के भीतर करने का प्रयत्न किया है। महिमभट्ट ने रस के दार्शनिक स्वरूप का अधिक विवेचन किया है। इनकी दृष्टि में रसानुभूति चरम स्थिति में आत्मा के आनन्दस्वरूप की विशुद्ध एवं अविकृत अनुभूति है।[१]

भट्टतौत ने अपने प्रसिद्ध-ग्रन्थ काव्यकौतुक में रस-प्रक्रिया के अनुमानवादी आलोचकों—श्री शंकुक, महिमभट्ट के मत का प्रबल रूप से खंडन किया है। भट्टतौत का मत शंकुक के "अनुकरणरूपो रसः" के विरुद्ध है। भट्टतौत का कहना है कि अनुमान हेतु की विशुद्धि पर आश्रित रहता है। परंतु रसोन्मीलन के अवसर पर हेतु की सत्ता रहने पर भी उसकी शास्त्रीय-विशुद्धि में कमी रहती है। दूसरे अनुमान-प्रक्रिया से सिद्ध ज्ञान कभी आह्लाददायक नहीं हो सकता। ये शांत-रस को सब रसों में प्रधान मानते हैं। इनके मत की छाप इनके शिष्य अभिनवगुप्त पर पर्याप्त मात्रा में पड़ी है।

भट्टतौत के पश्चात् दशरूपककार धनंजय का समय आता है। इन्होंने स्पष्ट कहा है कि मेरा ग्रन्थ दशरूपक रसाश्रित ग्रन्थ है। इनके रूपकों का भेद रस-भेद के आधार पर किया गया है। धनंजय रस-निष्पत्ति में भरत के अनुयायी जान पड़ते हैं। इन्होंने आठ ही स्थायी भावों की सत्ता स्वीकार की है। ये शांत-रस को अभिनय के प्रतिकूल मानते हैं, अतः नाटक में उसको स्थान नहीं देते। इनके भाई धनिक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यनिर्णय में रस-विवेचन के प्रकरण में भट्टनायक का अनुगमन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने रस के विषय में एक बड़ी मनोवैज्ञानिक बात बतलाई है। वह यह है कि कोई भाव आस्वाद्यमान होने से स्थायी भाव नहीं हो सकता। किसी भाव को स्थायीभाव का पद प्राप्त करने के लिए सहृदय की मूल मनःस्थिति (Basic Mental state) के भीतर एक अवयव का स्थान प्राप्त करना होगा।

---

१ अस्मन मते तु समवेदनम् इवानन्दघनम् आस्वाद्यते।

भोज

दशरूपककार के पश्चात् भोज ने रस की धारणा में बहुत बड़ा परिवर्त्तन उपस्थित किया। भोज की दृष्टि में काव्य के अन्तर्गत गुण, अलंकार एवं निर्दोषता के साथ रस होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। ये प्रबंध के अर्थ-गुणों में रसभाव-निरन्तरत्व को अन्यतम मानते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य में रस की महत्ता इन्हें स्वीकार है। रस के ऊपर 'शृंगार प्रकाश' इनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ये शृंगाररस को ही समस्त रसों में सर्वप्रधान रस मानते हैं। इनके द्वारा निरूपित शृंगार की धारणा अन्य साहित्याचार्यों की शृंगार-संबंधी धारणा से भिन्न है। ये शृंगार को अभिमानात्मक मानते हैं। यहाँ अभिमान का अर्थ अस्मिता का आस्वादन है। अनुकूल परिस्थिति में विभावानुभावादि से जो अभिमान अर्थात् अहं--प्रिय भावना मन में उत्पन्न होती है वही रस है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भोज की यह रस संबंधी धारणा बहुत ही मनोवैज्ञानिक तथा नवीन है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'शृंगार-प्रकाश' में भाव, विभाव, अनुभावादि की भी चर्चा की है; किन्तु उसमें कोई नवीनता नहीं है। भरत के आठ रसों में इन्होंने शांत, प्रेय, उद्धत और उदात्त इन चार रसों की संख्या और जोड़ दी है। किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि इन्होंने मूल रस एक ही माना है—शृंगार; और उसका अर्थ है अस्मिता का आस्वादन। भोज द्वारा निरूपित इस शृंगार-धारणा के भीतर अन्य सभी रसों का समावेश हो जाता है। निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि भोज ने शृंगार रस को बहुत ही व्यापक रूप प्रदान किया।

क्षेमेन्द्र की औचित्य दृष्टि रसपोषक है। इन्होंने औचित्य को काव्य का सबसे व्यापक तत्त्व माना, पर रस की उपेक्षा नहीं की। क्षेमेन्द्र की प्रसिद्ध पुस्तक औचित्य-विचार-चर्चा में औचित्य तत्त्व रस-पोषक रूप में ही वर्णित है। इनके द्वारा निरूपित औचित्य तत्त्व रसजीवित है, काव्यजीवित नहीं। काव्य की आत्मा तो क्षेमेन्द्र की दृष्टि में भी

रस ही है। इनके मत में भी रस के कारण ही काव्य की प्रसिद्धि सार्थक होती है। काव्य में औचित्य की रक्षा से ही रस निष्पत्ति संभव है। औचित्य भंग से रसभंग हो जाता है। जो जिसके अनुरूप हो उसके साथ उसे रखने का भाव ही औचित्य है। काव्य के सभी तत्त्वों में पारस्परिक अनुरूपता की रक्षा से काव्य में औचित्य की रक्षा संभव है। अंग एवं अंगी रस के औचित्य का भी वर्णन इन्होंने किया है।

क्षेमेन्द्र के पश्चात् मम्मट का नाम रस के इतिहास में उल्लेखनीय है। मम्मट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' में रस और ध्वनि दोनों तत्त्वों की ओर अपना झुकाव प्रदर्शित किया है। इन दोनों तत्त्वों में भी ध्वनि की ओर इनका झुकाव अधिक है। इसी लिए ये ध्वनि-प्रतिष्ठापकाचार्य के नाम से अभिहित हैं। काव्य में ध्वनि के साथ रस का तत्त्व भी इनकी दृष्टि से प्रमुख है। इन्होंने काव्य-गुणों एवं दोषों का निरूपण रस की कसौटी पर निश्चित किया है। इनकी काव्य-परिभाषा में अलंकार एवं रीति-मत का; काव्य-वर्गीकरण, रस-निरूपण एवं शब्द-व्यापार-विवेचन में ध्वनि-मत का; दोष एवं गुण-विवेचन में रसमत का प्रभाव दिखाई पड़ता है। काव्य-प्रयोजन का निरूपण करते समय मम्मट ने रसास्वादन-जन्य आनन्द को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में किसी नवीन काव्य-तत्त्व का आविष्कार नहीं किया है, वरन् अपने पूर्वाविष्कृत सभी काव्य-तत्त्वों का समन्वय कर दिया है, इसी लिए इनको साहित्य-क्षेत्र में समन्वयवादी आचार्य भी कहते हैं।

मम्मट के पश्चात् रस के विकास में शारदातनय के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाव-प्रकाश' का नाम उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ के नाम से ही यह विदित होता है कि इस ग्रन्थ के लेखक रस-मत के कट्टर अनुयायी हैं। 'भाव-प्रकाश' नाट्य-शास्त्र संबंधी ग्रन्थ है। इसमें नाटक के प्रसंग में रस की चर्चा की गई है। इसमें भाव, अनुभाव, स्थायी-भाव, व्यभिचारी-भाव, सात्त्विक-भाव आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

शारदातनय के पश्चात् रस के इतिहास में हेमचन्द्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ

'काव्यानुशासन' का नाम उल्लेख करने योग्य है। इसमें कुल आठ अध्याय हैं, दूसरे अध्याय में रस की विस्तृत चर्चा की गई है। इसमें स्थायी-भाव तथा व्यभिचारी-भाव का विवेचन बहुत ही शास्त्रीय कोटि का है। इन्होंने गुण, दोष एवं अलंकार की परीक्षा रस की कसौटी पर की है। इनकी दृष्टि से रस के बाधक तत्त्व काव्य-दोष हैं तथा रस के साधक तत्त्व काव्य-गुण; एवं अलंकार रस के अंग हैं। इनकी दृष्टि में अलंकार रसोपकारक होने पर ही काव्य में स्थान पा सकते हैं, रस-बाधक होने पर नहीं। भामह, वामन तथा दंडी द्वारा निरूपित काव्य-तत्त्वों को ये काव्य में स्वतंत्र स्थान नहीं देते। आनंदवर्द्धनाचार्य का प्रसिद्ध सिद्धान्त—"ध्वनि काव्य की आत्मा है"—इन्हें मान्य नहीं। रस- विवेचन में अधिकांश मात्रा में ये अभिनवगुप्त के अनुयायी जान पड़ते हैं।

हेमचन्द्र के पश्चात् इनके शिष्य-द्वय—रामचंद्र एवं गुणचंद्र का नाम उल्लेखनीय है। इनका प्रसिद्ध-ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' है, जो नाटक के प्रसंग में रस की चर्चा करता है। अभी तक सभी आचार्य रस को आनंदात्मक मानते थे, किन्तु इन्होंने रस को सुख-दुःखात्मक माना है। नाट्यदर्पण के भीतर शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत एवं शांत की गणना सुखात्मक रस के भीतर की गई है तथा रौद्र, भयानक, करुण एवं वीभत्स की दुःखात्मक के भीतर। इन्होंने शांत रस को भी नाटक के भीतर स्थान दिया है।

इसके पश्चात् 'रसार्णवसुधाकर' नामक रस-संबंधी ग्रन्थ का पता चलता है। यह नाट्य-विषयक ग्रन्थ है। इसके रचयिता शिङ्गभूपाल, भरत एवं धनंजय के अनुयायी जान पड़ते हैं। इनके अनुसार स्थायी-भाव आठ ही हैं। ये नाटक में शांत-रस की सत्ता नहीं मानते।

'रसार्णवसुधाकर' के पश्चात् शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' नामक ग्रन्थ रस के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ मुख्यतः संगीत का विवेचन करता है। उसी प्रसंग में रस की भी चर्चा की गई है। इनकी दृष्टि से संगीत को सदा रस-प्रधान होना चाहिए। इन्होंने

अपने विवेचन में अधिकांश मात्रा में भरत के मत का अनुसरण किया है। फिर भी रस-निष्पत्ति, शांत-रस, स्थायी भाव, व्यभिचारी-भाव आदि पर इनके मत स्वतंत्र कोटि के हैं। नाटक में शांत-रस की सत्ता इन्हें मान्य है। भक्ति-रस को ये रस नहीं मानते।

इसके पश्चात् भानुदत्त के रस-संबंधी दो प्रसिद्ध ग्रन्थ मिलते हैं—एक है 'रसतरंगिणी' जिसमें रस की विस्तृत चर्चा प्राचीन आचार्यों के अनुसार की गई है; दूसरा ग्रन्थ है 'रसमंजरी' जिसमें शृंगार का विवेचन किया गया है। दोनों ग्रन्थों में रस ही काव्य का प्रधान तत्त्व माना गया है।

इसके पश्चात् साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का नाम रस के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। काव्य-परिभाषा में रस-तत्त्व का समावेश इन्होंने सबसे पहले किया है—'वाक्यंरसात्मकं काव्यम्'। वात्सल्य रस को ये स्वतंत्र रस की सत्ता प्रदान करते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्य' रसात्मकं काव्यम्' कहते हुए अन्य काव्यमतों का खंडन किया है। इसी प्रकार इन्होंने रस-निष्पत्ति, रसानंद एवं रस-स्वरूप का बहुत ही दार्शनिक एवं गंभीर विवेचन उपस्थित किया है।

विश्वनाथ के पश्चात् रूपगोस्वामी का नाम उल्लेखनीय है। इनका रस-संबन्धी ग्रन्थ 'भक्ति रसामृतसिन्धु' रस-क्षेत्र में एक नवीन दृष्टि उपस्थित करता है। ये भक्ति-रस को ही एक मात्र रस मानते हैं। भक्ति-रस के उन्होंने दो मुख्य भेद किए हैं। इनके भीतर सभी रसों का समावेश हो जाता है। मुख्य भक्ति-रस के भीतर इन्होंने शांत, प्रीति, प्रेयस्, वत्सल, मधुर एवं शृंगार का समावेश किया है तथा गौण के भीतर हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, एवं वीभत्स का। इनकी दृष्टि में भागवतादि पुराणों में भक्तिभावना रसत्त्व को पहुँच जाती है। इनकी दृष्टि से कृष्ण-रति भक्ति का स्थायी-भाव है तथा अन्य रस भक्ति के अंगभूत हैं। इन्होंने शान्त रस को भक्ति के भीतर अंतर्भूत किया है। श्रीकृष्ण को रति का आलंबन मान कर शृंगार को

भक्ति-रस के भीतर परिगणित कर दिया है। भक्ति-रस के भेदों में ये मधुरा-भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। मधुरा-भक्ति का स्वतंत्र-विवेचन इन्होंने 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थ में किया है।

इसके पश्चात् मधुसूदन सरस्वती ने १६ वीं सदी के अंत में 'श्रीभगवद्भक्ति-रसायन' नामक ग्रन्थ लिखा। इनकी दृष्टि से भी भक्ति-रस के भीतर नौ रसों का समावेश हो जाता है। भक्ति को केवल भाव माननेवाले आचार्यों का इन्होंने घोर खंडन किया है।

इसके पश्चात् 'रस-प्रदीपकार' का नाम उल्लेखनीय है। 'रस प्रदीप' नामक ग्रन्थ संक्षेप में रस-निरूपण की सामग्री उपस्थित करता है जो रस-तत्त्व को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। इन्होंने काव्य की व्याख्या 'चमत्कारविशेषकारित्वं सुखविशेषकारित्वं' के रूप में की है। इनकी दृष्टि से रस ही काव्य का सबसे प्रमुख तत्त्व है। इन्होंने प्रसिद्ध आचार्य नारायण के मत—"अद्भुत ही एक मात्र रस है, इसी की सत्ता सब रसों में है"—का घोर खंडन किया है। रसानुभूति की प्रक्रिया में ये व्यंजना-व्यापार को मानते हैं। व्यंजना-व्यापार के विरोधी आचार्यों—विशेषतः भट्टलोल्लट एवं श्री शंकुक का इन्होंने घोर खंडन किया है। रस-सिद्धान्त में ये अभिनवगुप्त के अनुगामी जान पड़ते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की रस परंपरा के अंतिम आचार्य हैं। इन्होंने 'भग्नावरणचित'[1] के रूप में रस की दार्शनिक व्याख्या की है। सहृदय की तुलना सविकल्पक योगी से करके रस के दार्शनिक स्वरूप को बहुत स्पष्ट कर दिया है। इन्होंने रस-निष्पत्ति, रसानंद, रस-संख्या आदि के गौण एवं प्रधान प्रश्नों की अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रस-गंगाधर में विस्तृत चर्चा की है।

पण्डितराज ने अभिनव गुप्त आदि अभिव्यक्तिवादी आचार्यों की

१—भग्नावरणाचिद्विशिष्टो इत्यादिः स्थायी भावो रसः।

रस-व्याख्या का दार्शनिक दृष्टि से अधिक परिष्कार कर दिया है। ये भी रसानन्द को परमानन्द मानते हैं।[१]

जगन्नाथ के मत में रमणीय व्यंग्यार्थ ही काव्य का वास्तविक स्वरूप है। काव्य में अलंकार, रीति, गुण आदि का स्थान गौण है। ये ध्वनि के भेदों में रस-ध्वनि को ही सबसे अधिक रमणीय मानते हैं। इनकी दृष्टि से काव्य की आत्मा रस ही है। इनके मतानुसार शांत-रस श्रव्य एवं दृश्य दोनों काव्यों में स्वतंत्र रस का स्थान पा सकता है। इन्होंने काव्य या नाटक में आठ ही रस माननेवाले आचार्यों के मतों का घोर खंडन किया है।

———

१—आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः। अनन्तःकरणवृत्ति-रूपत्वात्।

रस सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय को समुचित ढंग से समझने के लिए काव्य में रस की परिभाषा, स्वरूप, कार्य, महत्त्व, स्थान, प्रक्रिया आदि पर विचार करना आवश्यक है। रस शब्द की व्युत्पत्ति 'रस्यते इति रसः' से ज्ञात होता है कि वह आस्वादन की वस्तु है। काव्य क्षेत्र में रस का पारिभाषिक रूप सबसे पहले भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरत मुनि ने स्वयं रस की परिभाषा का प्रश्न उठा कर उसका उत्तर दिया है:—

"अत्राह—रस इति कः पदार्थः ?" (रस कौन पदार्थ है।)

उत्तर :—आस्वाद्यत्वात् रसः (आस्वादनीय होने से रस है।)

यहाँ फिर प्रश्न उठता है किसका आस्वादन होता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में इसका भी उत्तर मिलता है "बुधाः आस्वादयन्ति मनसा स्थायिभावान्।"

"नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् सुमनसाः प्रेक्षकाः स्थायिभावानास्वादयन्ति।"

आस्वादनार्थ स्थायी भावों का प्रसुप्तावस्था से जगना आवश्यक है। उन्हें कौन जगाते हैं ? विभावादि। उनके जगने का प्रमाण क्या है ? अनुभावों की उत्पत्ति। अर्थात् सहृदय के स्थायी भाव ही उचित वातावरण पाकर रस रूप में परिणत होते हैं। भरत की दृष्टि में काव्यगत व्यक्ति अथवा रसिक के हृदय-संवाद से सम्बन्ध रखने वाला अर्थों का मूल भाव ही रस है:—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥

यह उचित वातावरण विभाव, अनुभाव, संचारी के संयोग से

उत्पन्न होता है। इसी तथ्य को भरत मुनि ने अपने प्रसिद्ध सूत्र के भीतर रखने का प्रयत्न किया है।

विभावानुभावसंचारीभावसंयोगात् रसनिष्पत्तिः।

नाना भावों अर्थात् विभाव, अनुभाव, संचारी के संश्लिष्ट रूप धारण करने पर स्थायी भाव रस को प्राप्त होते हैं।

"नानाभावोपगता अपिस्थायिनोभावाः रसत्वमाप्नुवन्ति ॥"

अर्थात् रसानुभूति कोई विचित्र अनुभूति नहीं वरन् भाव विशेष का सर्वांगीण समन्वित विकास है।

इस तथ्य को समझाने के लिए भरत मुनि ने एक उपमा (analogy) भी दी है—विभावानुभाव व्यभिचारी परिवृत्तः स्थायी भावो रसनाम् लभते नरेन्द्रवत्।

अर्थात् प्रमुख स्थायी मनोवृत्तियाँ विभाव, अनुभाव संचारी आदि के संयोग से रसत्व को वैसे ही प्राप्त होती है जैसे राजा अपनी प्रजा और मंत्री आदि के संयोग से नरेन्द्रत्व को प्राप्त होता है। अपने मत की पुष्टि के लिए आचार्य भरत ने अन्य लेखक की सम्मति भी उद्धृत की है :—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
अस्वादयन्ति भुञ्जाना भुक्तं भुक्तविदो जनाः।
भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥

उपर्युक्त मतों के उद्धरण के पश्चात् भरत मुनि ने फिर प्रश्न उठाया है कि रस का आस्वादन किस प्रकार किया जाता है। इसका उत्तर पहले उन्हीं के शब्दों में लीजिए :—

"यथा हि नाना व्यञ्जन संस्कृतमन्नं भुञ्जाना
रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाप्यधिगच्छन्ति
तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावाना
स्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः"

भरत मुनि के उपर्युक्त उत्तर में एक बात ध्यान देने की है कि सामाजिक की दृष्टि से व्यंजनों या भावों का भोग रस नहीं है वरन् भोगजन्य आनन्द रस है। भुक्तविद जन के विषय में भोग (खाने) की क्रिया से भोजनोपरान्त का आनन्द भिन्न है तद्वत् सहृदय दर्शक के सम्बन्ध में नाटक देखने की क्रिया से उसके भावों के आस्वादन सम्बन्धी कार्य से रसानुभूति भिन्न है। अर्थात् सामाजिक की भावानुभूति का आस्वादनजन्य आनन्द ही रस है। रस केवल मनोवेग नहीं, केवल उसका आस्वादन नहीं वरन् उसका आस्वादन जन्य आनन्द है। इस आनन्द का भोक्ता कौन है? भरत मुनि के शब्दों में—"आस्वादयन्ति सुमनसाः प्रेक्षकाः" अर्थात् सहृदय दर्शक ही भावों का आस्वादन करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि सहृदय पुरुषों के हृदय में संस्कार, अनुभव, निरीक्षण, शिक्षा आदि के कारण वासना रूप में स्थित रति आदि स्थायी भाव ही रंगमंच पर कुशल अभिनेताओं के अभिनय द्वारा प्रस्तुत किये गये विभावादिकों से उपयुक्त वातावरण पाकर जग जाते हैं। इन्हीं जगे हुए स्थायी भावों का आस्वादनजन्य आनन्द रस नाम से अभिहित होता है। उपर्युक्त विवेचना से यह बात स्पष्ट हो गई कि भरत मुनि अपने परिभाषा-सम्बन्धी सूत्र तथा उसके विवेचन में रस की प्रकृति तथा प्रक्रिया पर विशेष बल देते हैं।

अग्निपुराणकार काव्य द्वारा उत्पन्न 'चैतन्यचमत्कार' को रस नाम से अभिहित करते हैं।

> अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
> वेदान्त्येषु वन्दन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
> आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
> व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य-चमत्काररसाह्वया।

वेदान्त आदि में जिस परमब्रह्म को अक्षर, सनातन, अज, विभु, चैतन्य, ज्योति आदि नामों से अभिहित किया गया है उसका सहज

स्वभाव आनन्दस्वरूप है। उस आनन्द प्रभा की अभिव्यक्ति काव्य या नाटक के रसास्वादनजन्य आनन्द में चैतन्य चमत्कार के रूप में होती है। इसी को पारिभाषिक पदावली में रस कहते हैं। अर्थात् काव्य द्वारा चेतना का विस्फार ही रस का वास्तविक स्वरूप है। रस द्वारा चेतना का अमित या अलौकिक विस्तार तथा तज्जन्य अलौकिक आनन्द ही रसके स्वरूप को ब्रह्म स्वरूप की तुलना के योग्य बनाता है या रस की अनुभूति को ब्रह्मानन्द की अनुभूति के समान करता है। काव्यप्रकाशकार भी इस मत का समर्थन करते हुए दिखाई पड़ते हैं—"ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्"।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि अग्निपुराणकार अपनी परिभाषा में रस के दार्शनिक स्वरूप का सूत्ररूप में संकेत करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद में ब्रह्म का रस स्वरूप कहा गया है। कदाचित् इसी उक्ति के आधार पर आगे के साहित्य-शास्त्रियों ने रसानन्द की तुलना ब्रह्मानन्द से की। क्षेमराज की दृष्टि में अभेदमय आनन्द ही रस है। इसी को अभिनवगुप्त ने और पल्लवित किया है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में वासनात्मक रूप में स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद विगलित हो जाने पर आनन्दस्वरूप हो जाती हैं। इनका आनन्द इनकी दृष्टि में ब्रह्मानन्द के तुल्य होता है। एक स्थान पर अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि भाव ही आत्मचैतन्य में विश्रान्ति पाने पर रस प्रतीत होते हैं :—

'निरवच्छिन्न स्वात्म परामर्श स्वात्मविश्रान्तिः।'

अभिनवगुप्त की रस परिभाषा से उनकी उपर्युक्त उक्ति और अधिक स्पष्ट हो जाती है—

"आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थमुच्यते।"

अर्थात् आत्मा की अनुभूति का आस्वादन ही काव्य में रस कहा जाता है। उपर्युक्त परिभाषा में रस के परिणाम पर बल है। महिमभट्ट

की दृष्टि में काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति अपनी चरम स्थिति में आत्मा के आनन्द स्वरूप की विशुद्ध एवं अविकृत अनुभूति है।

"अस्मन मते तु समवेदनम इवानन्दघनम् आस्वाद्यते।"

महिमभट्ट की परिभाषा में रस के दार्शनिक स्वरूप पर अधिक बल दिया गया है। भट्टनायक की दृष्टि में रस लोकसामान्य प्रकाशानन्दमय एवं आत्मचैतन्यस्वरूप है। इसके आस्वादन में सामाजिक का दृष्टि-कोण न तो वैज्ञानिक जैसा होता है और न नीतिवादी जैसा, वरन् एक आनन्दभोक्ता सदृश होता है :—काव्ये रसयिता सर्वो, न बोद्धा, न नियोगभाक्। पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में अज्ञानरूप आवरण से रहित विशिष्ट चैतन्य किसी स्थायीभाव से युक्त होने पर रस की संज्ञा प्राप्त करता है[1]। चैतन्य के ऊपर पड़े हुए स्वार्थ के आवरण विभावादि व्यापार द्वारा भग्न हो जाते हैं। चेतना की इस मुक्तावस्था में रत्यादि स्थायीभाव परम शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित होकर परमानन्द की वर्षा करते हैं। यह रसानन्द लौकिक सुख या आनन्द से भिन्न कोटि का होता है क्योंकि लौकिक सुख या आनन्द में वैयक्तिक मन की वृत्तियों का योग रहता है किन्तु रसानन्द विशुद्ध चैतन्य रूप तथा अन्तःकरण (वैयक्तिक-मन) की वृत्तियों से रहित होता है। विभावादि विषय संवलित होने के कारण यह आनन्द तन्मयीभवन होते हुए भी योगी के निर्विकल्प-समाधि जन्य आनन्द से भिन्न होता है। इसी लिए पण्डितराज ने सहृदय की तुलना सविकल्पक योगी से की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पण्डितराज की उपर्युक्त रस-परिभाषा में अभिनवगुप्त की रस-परिभाषा का दार्शनिक दृष्टि से कुछ परिष्कार पाया जाता है।

रसानुभूति लोकानुभूति की विशेषताओं से संयुक्त रहती है। उसमें किसी प्रकार के व्यक्तिबद्ध तत्त्व की अनुभूति नहीं रहती।[2] रसदशा

---

१. भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावो रसः। (रस गंगाधर)

2. *Aesthetic experience is characterised by freedom from all elements of individuality* (*Philosophy of Aesthetic Pleasure*)

में आत्मा अपने आनन्द स्वरूप को अधिकाधिक मात्रा में विभासित करता है। इसीलिए शुक्ल जी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा को रस-दशा कहते हैं। रस स्थायी भावों से भिन्न होते हैं।[१] इसलिए रसों का नाम स्थायी भावों से अलग रखा गया है। रस में भावों का परिष्कार होता है। स्थायी भाव में वैयक्तिकता रहती है किन्तु रस दशा में भावों की स्थिति छन कर (परिष्कृत होकर) सात्विक रूप में आती है। उदाहरणार्थ करुण रस को लीजिए। करुण रस का स्थायी भाव शोक है। शोक निज की इष्ट हानि पर होता है और करुणा दूसरों की पीड़ा पर होती है। इसी अन्तर को लक्ष्य करके काव्यगत पात्रके क्षोभ की व्यंजना द्वारा उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने शोक रस न कह कर करुण रस कहा है। रसोद्दीप्ति में मुख्य वस्तु आलम्बन है, और आलम्बन भी विशेष व्यक्ति होता है क्योंकि रस व्यक्ति से होता हुआ आता है, जाति से नहीं। आलम्बन, काव्यगत पात्रों से व्यक्तिगत सम्बन्ध रखते हुए भी अपने लोकधर्म के कारण पाठक मात्र का आलम्बन हो जाता है तभी तो मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालता है तथा सहस्रों हृदय उसके भावों में मग्न हो जाते हैं। जैसे, रौद्र रस की सच्ची अभिव्यक्ति तभी होगी जब उसका आलम्बन लोक-पीड़क रूप में दिखाया जायगा। व्यक्तिगत अपकार करने वाले आलम्बन में क्रोध भाव ही तक रह जाता है। तात्पर्य यह कि भाव-विभाव दोनों पक्षों के सामञ्जस्य के बिना रसानुभूति पूर्ण नहीं हो सकती। रसानुभूति में सहृदय अपने भावों के विशुद्ध रूप का आस्वादन करता है अतः उसे सात्विक आनन्द मिलता है। यह आनन्दभोग सुख-दुःख के सिद्धान्त से परे रहता है क्योंकि सुख या दुःख का सम्बन्ध सहृदय की वैयक्तिक अस्मिता से होता है इसीलिए इसमें राजसी या तामसी आनन्द अथवा राजसी या तामसी दुःख छिपा रहता है किन्तु रसानुभूतिजन्य आनन्द काव्य या जीवन में

१—स्थायी विलक्षणो रसः।

सहृदय की सामाजिक अस्मिता के आस्वादन से उत्पन्न होता है। काव्य अथवा जीवन में जब कभी वैयक्तिक अस्मिता से सम्बन्ध रखने वाले भावों का आस्वादन होता है तब रस नहीं उत्पन्न होता वह भाव या भावाभासा या रसाभास की स्थिति तक ही रह जाता है। रसानन्द में व्यक्तिसत्ता का लोकसत्ता में विलयन हो जाता है। इसी कारण सच्चा काव्यानन्द निर्वैयक्तिक कोटि का होता है। रसानन्द भारतीयों की दृष्टि में आत्मशक्ति की रमणीयता है, जिससे रसानुभूति काल में मानव-जीवन एवं जगत के भिन्न भिन्न रूपों, व्यापारों तथा तथ्यों के साथ सहृदय का प्रकृत सामंजस्य स्थापित हो जाता है। इसी शक्ति से सहृदय मानव जीवन एवं जगत के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करता चला आ रहा है और आगे भी करता रहेगा। कहने का तात्पर्य यह कि रसात्मक अनुभूति में पर प्रतीति की विशेषता के कारण शेष-सृष्टि के साथ रागान्वित सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता रहती है। इस रसात्मक अनुभूति के अभ्यास से कला या साहित्य के प्रति ही सहानुभूति की शक्ति नहीं बढ़ती वरन विश्व के चर-अचर, चेतन-अचेतन, सभी वस्तुओं के प्रति सहानुभूति, प्रेम, उदारता, मैत्री की भावना का विकास होता है। रसानन्द केवल मनोरंजन या मनोविनोद की ही वस्तु नहीं वरन् वह एक महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान वस्तु भी है, क्योंकि वह सौन्दर्यबोध की दृष्टि प्रदान करता है। हमारे भावों का परिष्कार तथा प्रसार करता है। मनोवृत्तियों पर चढ़े हुए आवरणों को अनावृत करता है, हमारी अन्तः प्रकृति को मानवता की उच्च भूमि की ओर उन्मुख करता है। हमारे रागात्मक सत्व[१] की रक्षा तथा विकास करता है। जीवन की परम वास्तविकताओं का आनन्दरूप से अनुभव कराता है।

---

1. *The Rasa, thus stands for supreme reality of the Universe, self luminous consciousness and perennial bliss.*

(Gangadhar Jha *Research Institute journal*—H. L. Sharma.)

साहित्य से रसानुभूति प्राप्त करने के लिए तीन बातों की परम आवश्यकता है।

१—साहित्यकार की रचना का काव्य-व्यापार एवं प्रक्रिया से उत्पन्न होना।

२—आलम्बन में लौकिक जीवन की अनुरूपता।

३—सहृदय में सच्ची सहृदयता की उपस्थिति[१]।

विश्वजीवन रूपी काव्य से रसानुभूति प्राप्त करने के लिए केवल पर प्रतीति की ही आवश्यकता है। आचार्यों द्वारा कवि की रसानुभूति भी सामाजिकों की रसानुभूति के सदृश ही बतायी गई है। कुछ दूर तक यह बात ठीक मानी जा सकती है किन्तु सर्वांश रूप में नहीं। काव्य रचना करते समय कवि की रसानुभूति सामाजिक की रसानुभूति के समान हो सकती है किन्तु विषय से प्रभावित होते समय या प्रेरणा ग्रहण करते समय उसकी अनुभूति सामाजिक की रसानुभूति के समान ही हो—यह सर्वसामान्य कवियों के लिए संभव नहीं। जिन महान कवियों के हृदय में पर प्रतीति सदैव वर्तमान रहती है, जो अपनी स्वार्थ-बद्ध दशा से सदैव मुक्त रहते हैं, उनकी अनुभूति तो सभी घड़ियों में रसदशा की ही होती है, चाहे वह विषय से प्रभावित होने की घड़ी हो या चाहे काव्य रचना की अथवा सर्वसामान्य जीवनचर्या की घड़ी हो। किन्तु सामान्य कवि अपने प्रत्यक्ष जीवन में राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, काम, अहं, लोभ आदि उन्हीं भावनाओं से भरा रहता है जो साधारण मनुष्यों में पाई जाती है, केवल उसमें भावुकता की शक्ति अधिक होने के कारण इन भावनाओं में क्षुब्धता तथा वेग की मात्रा किसी विषय से प्रभावित होने के समय उपस्थित हो जाती है। अतः विषय से प्रभावित होते समय ऐसे सामान्य कवियों की अनुभूति रसानुभूति कोटि भी न होकर मनोवैज्ञानिक प्रकार की होती है।

---

१. येषां काव्यानुशीलनाभ्यास वशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयी-भवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः। (अभिनवगुप्त)

रस का स्वरूप (१)

रस का स्वरूप समझने के लिए सर्वप्रथम रस के तत्त्वों का स्वरूप तथा उनके परस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। स्थायीभाव; विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी से परिवृत्त होने पर रसत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् रसचक्र में मुख्य चार तत्त्व हैं—स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव। सर्वप्रथम स्थायीभाव पर विचार करना चाहिए। स्थायीभावको अभिनवगुप्ताचार्य 'परिनिष्पन्न' मानते हैं। इससे जान पड़ता है कि भारतीयआचार्यों के स्थायीभाव की धारणा में नैसर्गिक प्रवृत्ति (instinct) का तत्त्व वर्तमान था। स्थायीभाव के बीजभूत तत्त्वों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ (instincts) और उनकी सहचर भावनायें (emotions) आती हैं जो जन्मजात होती हैं। गौण रूप से स्थायी भाव के साथ निबद्ध होने वाली साधित भावनायें हैं,[१] जो उपार्जित होती हैं। स्थायी-भाव (sentiment) एक प्रकार का सुसंघटित भावचक्र है जिसमें कोई न कोई नैसर्गिक प्रवृत्ति तथा उसकी सहचर भावना एवं कोई न कोई साधित भावना निबद्ध रहती है। एंजिल भी स्थायीभाव (sentiment) को स्थायी वृत्ति की संज्ञा देता है एवं उन्हें मानव की अपेक्षाकृत स्थायी प्रकृति का तत्त्व मानता है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में भी प्रवृत्तियाँ (instincts) और जीवनवेग भाव के अन्तर्गत आते हैं। भाव स्थायीभाव के अन्तर्गत परिगणित हैं। स्थायीभावों के अन्तर्गत केवल संस्कार (instincts) ही नहीं विचार भी आते हैं। तात्पर्य यह कि नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ (instincts) स्थायीभाव के चक्र

---

१ *They are almost akin to* व्यभिचारी भाव।

साहित्य से रसानुभूति प्राप्त करने के
आवश्यकता है।

१—साहित्यकार की रचना का काव्य
उत्पन्न होना।

२—आलम्बन में लौकिक जीवन की अ

३—सहृदय में सच्ची सहृदयता की

विश्वजीवन रूपी काव्य से रसानुभूति
प्रतीति की ही आवश्यकता है। आचा
भी सामाजिकों की रसानुभूति के सदृश
यह बात ठीक मानी जा सकती है किन्तु
रचना करते समय कवि की रसानुभू
समान हो सकती है किन्तु विषय से प्र
करते समय उसकी अनुभूति सामा
हो—यह सर्वसामान्य कवियों के
कवियों के हृदय में पर प्रतीति सदै
बद्ध दशा से सदैव मुक्त रहते हैं
में रसदशा की ही होती है, चाहे
हो या चाहे काव्य रचना की
हो। किन्तु सामान्य कवि
क्रोध, काम, अहं, लोभ आ
साधारण मनुष्यों में पाई
अधिक होने के कारण इन
किसी विषय से प्रभावित हो
विषय से प्रभावित होते स
रसानुभूति कोटि भी न होकर र

---

१. येषां काव्यानुशीलनाभ्यास
भवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः स

सताने वाले पर क्यों चढ़ जाती है? पशु-पक्षी, मनुष्य आदि की वेदना देखकर उसके नेत्र क्यों सजल हो जाते हैं? उपर्युक्त प्रश्नों के कार्यों में बालक में क्रमशः आत्मसंरक्षण की प्रवृत्ति, सामाजिक प्रवृत्ति, एवं नवयुवक में क्रमशः काम प्रवृत्ति, वात्सल्य प्रवृत्ति, क्रोध प्रवृत्ति एवं करुणा प्रवृत्ति काम करती हुई दिखाई पड़ती है। बाल्यावस्था में कुतूहल, संग्रह, उत्साह, सर्जन, विस्मय, भय, विकर्षण, सर्जनात्मक, सामाजिक, हास्य की प्रवृत्ति, प्रौढ़ावस्था में काम, क्रोध, वात्सल्य, करुणा, उत्साह की प्रवृत्ति एवं वृद्धावस्था में त्याग, तितिक्षा की प्रवृत्ति सबसे अधिक बलशाली दिखाई पड़ती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ एक साथ ही एक ही काल में प्रगट नहीं होतीं। जीवन के विकास के साथ वे प्रगट होती हैं किसी प्रवृत्ति विशेष का वेग किसी विशिष्ट अवस्था में अधिक प्रबल रहता है। अन्यों की शक्ति उस अवस्था में निर्बल रहती है। कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो मानव जीवन के परवर्ती काल में उत्पन्न होती हैं।

ध्येय प्राप्त करना सहज प्रवृत्ति का साध्य है। अपने साध्य की प्राप्ति के लिए वह बुद्धि, भावना, इच्छाशक्ति तथा कल्पना से काम लेती है। बाह्य वस्तुओं से इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर सहृदय के मनोव्यापार के सर्वप्रथम तीन रूप प्रगट होते हैं—सहज प्रवृत्ति, प्रेरणा तथा भावना। इनमें चक्षुता, स्थिरता तथा सहेतुकता लाने के लिए इच्छाशक्ति, बुद्धि एवं कल्पना की सहायता आवश्यक है। किसी एक विशेष नैसर्गिक प्रवृत्ति की प्रेरणा की उत्कटता, तीव्रता, निष्ठा एवं भावात्मकता ही रसिक में वृत्तिवैशिष्ट्य उत्पन्न करती है। इसी वृत्तिवैशिष्ट्य के परिणामस्वरूप कोई शृंगारी रुचि का, कोई वीर रस की प्रवृत्ति का; कोई हास्य प्रिय एवं कोई करुण स्वभाव का हो जाता है। सामान्यतः मनुष्य में कोई न कोई विशिष्ट नैसर्गिक प्रवृत्ति एक विशेष काल में प्रधान रहती है; दूसरी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ भी उस काल में काम करती हैं, पर गौण रूप में। इसी कारण वह उस काल विशेष में अपनी वृत्ति-वैशिष्ट्य से सम्बन्ध रखने वाली कविताओं को ही अधिक पसन्द करता है।

में प्रमुखतत्त्व का कार्य करती हैं। अतः स्थायीभाव का स्वरूप समझने के लिये नैसर्गिक प्रवृत्तियों का ठीक ज्ञान आवश्यक है।

नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ—(*Instincts*)

नैसर्गिक प्रवृत्ति मनुष्य या पशु की मस्तिष्क-निर्मिति का वह मुख्य तत्त्व[1] है, जिसे वह अपनी पूर्व परम्परा से प्राप्त करता है और जो बिना किसी पूर्व अनुभव या अभ्यास के उसमें अपने वातावरण की किसी वस्तु के साथ व्यवहार करने की क्षमता, चेष्टा आदि उत्पन्न करता है। इन्हीं के कारण प्राणी अपने निकट की वस्तुओं पर अपना लक्ष्य केन्द्रित करता है, उनसे एक विशिष्ट प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रिया या प्रभाव ग्रहण करता है, उनके प्रति एक विशेष प्रकार का हृदय—संवाद प्रगट करता है। इन्हीं के कारण प्राणी मात्र को उनके समस्त व्यापारों एवं क्रियाओं की प्रेरणा एवं दिशा मिलती है। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का स्रोत किसी न किसी नैसर्गिक प्रवृत्ति में ढूँढ़ा जा सकता[2] है। बच्चा पैदा होते चिल्लाता क्यों है? भूख लगने पर रोता क्यों है? अपनी भुजाओं एवं पैरों को इधर उधर फेंकता क्यों है? दो माह का होते ही मुख में अंगूठा डाल कर चूसता क्यों है? प्यार करनेवाले व्यक्तियों को देखकर मुस्कराता क्यों है? छः सात महीने का होते ही वह फर्श पर रेंगने का प्रयास क्यों करने लगता है। प्रथम वर्ष के अन्त तक वह अपने सामाजिक वातावरण में सक्रिय लेन देन का व्यवहार क्यों करने लगता है? एक नवयुवक, एक नवयुवती को ही देखकर क्यों आकर्षित होता है? किसी अन्य के खेलते हुए सुन्दर स्वस्थ बालक को देख कर किसी दूसरे को गोद में उठाकर उसे चुम्बन देने की, प्यार करने की क्यों इच्छा होती है? मनुष्य की त्योरी मनुष्य पशु आदि के

---

1. *The mind is instinctive in essence.* (Macdougall)
2 *The energy displayed in every humau activity might in principle be traced back to some inborn disposition or instinct.* (वही)

सताने वाले पर क्यों चढ़ जाती है ? पशु-पक्षी, मनुष्य आदि की वेदना देखकर उसके नेत्र क्यों सजल हो जाते हैं ? उपर्युक्त प्रश्नों के कार्यों में बालक में क्रमशः आत्मसंरक्षण की प्रवृत्ति, सामाजिक प्रवृत्ति, एवं नवयुवक में क्रमशः काम प्रवृत्ति, वात्सल्य प्रवृत्ति, क्रोध प्रवृत्ति एवं करुणा प्रवृत्ति काम करती हुई दिखाई पड़ती है। बाल्यावस्था में कुतूहल, संग्रह, उत्साह, सर्जन, विस्मय, भय, विकर्षण, सर्जनात्मक, सामाजिक, हास्य की प्रवृत्ति, प्रौढ़ावस्था में काम, क्रोध, वात्सल्य, करुणा, उत्साह की प्रवृत्ति एवं वृद्धावस्था में त्याग, तितिक्षा की प्रवृत्ति सबसे अधिक बलशाली दिखाई पड़ती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ एक साथ ही एक ही काल में प्रगट नहीं होतीं। जीवन के विकास के साथ वे प्रगट होती हैं किसी प्रवृत्ति विशेष का वेग किसी विशिष्ट अवस्था में अधिक प्रबल रहता है। अन्यों की शक्ति उस अवस्था में निर्बल रहती है। कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो मानव जीवन के परवर्ती काल में उत्पन्न होती हैं।

ध्येय प्राप्त करना सहज प्रवृत्ति का साध्य है। अपने साध्य की प्राप्ति के लिए वह बुद्धि, भावना, इच्छाशक्ति तथा कल्पना से काम लेती है। बाह्य वस्तुओं से इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर सहृदय के मनोव्यापार के सर्वप्रथम तीन रूप प्रगट होते हैं—सहज प्रवृत्ति, प्रेरणा तथा भावना। इनमें चक्षुता, स्थिरता तथा सहेतुकता लाने के लिए इच्छाशक्ति, बुद्धि एवं कल्पना की सहायता आवश्यक है। किसी एक विशेष नैसर्गिक प्रवृत्ति की प्रेरणा की उत्कटता, तीव्रता, निष्ठा एवं भावात्मकता ही रसिक में वृत्तिवैशिष्ट्य उत्पन्न करती है। इसी वृत्तिवैशिष्ट्य के परिणामस्वरूप कोई शृंगारी रुचि का, कोई वीर रस की प्रवृत्ति का; कोई हास्य प्रिय एवं कोई करुण स्वभाव का हो जाता है। सामान्यतः मनुष्य में कोई न कोई विशिष्ट नैसर्गिक प्रवृत्ति एक विशेष काल में प्रधान रहती है; दूसरी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ भी उस काल में काम करती हैं, पर गौण रूप में। इसी कारण वह उस काल विशेष में अपनी वृत्ति-वैशिष्ट्य से सम्बन्ध रखने वाली कविताओं को ही अधिक पसन्द करता है।

प्रायः देखा जाता है कि कुछ लोगों को शृंगार रस की कविता रुचिकर प्रतीत होती है, तो कुछ को करुण रस की। कुछ रसिक हास्य रस में अधिक रुचि लेते हैं तो कुछ वीर रस में। इस प्रधान वृत्ति के वनने में निम्नाङ्कित तत्त्व क्रियाशील दिखाई पड़ते हैं।

(१) युग की प्रवृत्ति।

(२) उस व्यक्ति की भौतिक परिस्थिति।

(३) शारीरिक अवस्था आवश्यकता आदि के कारण किसी विशिष्ट नैसर्गिक प्रवृत्ति का उस व्यक्ति में प्रबल होना :

(४) प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में एक विशिष्ट प्रकार की शिक्षा।

नैसर्गिक प्रवृत्ति (instinct) विषय (object) के दर्शन से प्राथमिक भावना के रूप में जागृत होती है, फिर साधित भावनायें इसमें मिलकर इसे स्थायी भाव का रूप देती हैं। तात्पर्य यह कि प्राथमिक भावनायें (emotions) प्रसुप्तावस्था में नैसर्गिक प्रवृत्ति के (instinct) रूप में रहती हैं। किसी एक सहज प्रवृत्ति के साथ एक या अनेक सहचर भावनायें उत्पन्न हो सकती हैं। जब वे संख्या में अनेक तथा विरोधी कोटि की होती हैं तब भावशवलता का उद्भव होता है। नैसर्गिक प्रवृत्तियों का अभिव्यंजन चिह्न शरीर पर देखने से आस-पास के लोगों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। किसी नाटक के नायक एवं नायिका के अभिनय करनेवाले नट एवं नटी के शरीर पर किसी सहज-प्रवृत्ति के अभिव्यंजन का चिह्न देखकर सामाजिक भी तदनुसार प्रत्युत्तर देते हैं। सहज प्रवृत्ति केवल शारीरिक या केवल मानसिक कोटि की न होकर मानसशरीरी कोटि की होती[१] है इसीलिए उसकी तृप्ति न होने पर शरीर एवं मन दोनों पर प्रभाव पड़ता है। नैसर्गिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति में प्रतिवन्ध होने पर भावनाओं का तूफान खड़ा हो जाता है; अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ बन जाती हैं; शरीर एवं

An instinct is an inherited or innate psycho-physical disposition—(*Hormic psychology* By P- S, Naidu)

मन दोनों अस्वस्थ हो जाते हैं। इसके प्रतिकूल उनकी संतृप्ति स्वाभाविक ढङ्ग से होने पर जीवन सब प्रकार से स्वस्थ रहता है। रस-निष्पत्ति की अवस्था में नैसर्गिक-प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का प्रभाव शरीर एवं मन दोनों पर दिखाई पड़ता है।

नैसर्गिक प्रवृत्तियों के रसात्मक व्यापार में मन के ज्ञानात्मक (cognition) भावात्मक (affection) एवं इच्छात्मक (conation) तीनों पक्षों के व्यापार का समावेश रहता है। आलम्बन तथा उद्दीपन का ज्ञान मन के ज्ञानात्मक-पक्ष (cognition) की प्रक्रिया से होता है। इस ज्ञान के पश्चात् भावनोत्पत्ति का क्रम आता है। तब मन का भावात्मक पक्ष कार्य करता है। इच्छात्मक पक्ष (conation) की प्रक्रिया में सहज प्रवृत्तियों के जगने पर आश्रय इच्छाशक्ति के सहारे एक विशिष्ट प्रकार से कार्य करता है[1] जिससे नैसर्गिक प्रवृत्ति का कार्य रसावस्था में परिमार्जित या उदात्त रूप में प्रगट होता है। रस सम्बन्धी कार्य या व्यवहार इस बात के प्रमाण हैं कि रस-प्रक्रिया में नैसर्गिक प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण हो जाता है। रस-प्रक्रिया में उपलब्ध नैसर्गिक प्रवृत्तियों की उदात्तता भारतीय जीवन की न जाने कितनी शताब्दियों की अनुभूति, साधना एवं दृढ़ इच्छाशक्ति की सहज उपज है। इससे तात्पर्य यह निकला कि सामाजिक विकास की प्रगति के अनुसार नैसगिक प्रवृत्तियों के अभिव्यक्ति-सम्बन्धी कार्य एवं व्यवहार में परिष्कार एवं परिमार्जन होता रहता है। भारतीय रसवाद इस बात को प्रमाणित करता है कि मनुष्य आदर्श प्राप्ति की ओर सदा से प्रयत्नशील है। उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति अनन्त सत्ता से एक होने के लिए उसे सदा से प्रेरित कर रही है। रस सिद्धान्त इस बात का भी प्रमाण उपस्थित कर रहा है कि वह इस प्रयत्न में बहुत दूर तक आगे भी बढ़ आया है। रसानुभूति काल में वह विश्वात्मा (Cosmic Spirit) से एक हो जाता है। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' उस अनन्त

1. *Conactive aspect is a fundamental aspect of the experience generated by the working of an innate propersity* (*Hormic psychology* by P. S. Naidu पृष्ठ ३६)

सत्ता या विश्वात्मा के तीन पक्ष हैं। रस में वे तीनों पक्ष समाहित हैं। रसानुभूति की अवस्था में सहृदय इन तीनों पक्षों से तादात्म्य स्थापित करता है। प्रयोग के अभाव में नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ प्रसुप्तावस्था में ही पड़ी रह सकती हैं या निर्बल अवस्था में ही पड़ी रह जाती हैं, अथवा कभी कभी उनका बिलकुल ह्रास हो जाता है। प्रयोग के अभाव में जल्लादों में करुणा की प्रवृत्ति मर जाती है, संन्यासियों में काम की भावना निर्बल हो जाती है, नास्तिकों में शान्तरस की नैसर्गिक प्रवृत्ति ही नष्ट हो जाती है।

ऊपर के विवेचन से यह भली भाँति स्पष्ट हो गया कि मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के तीन मुख्य पक्ष हैं :—

(१) वस्तु प्रत्यक्षीकरण का पक्ष (Perceptive aspect)
(२) भावात्मक पक्ष (Emotional aspect)
(३) क्रियात्मक पक्ष (Executive aspect)

उपर्युक्त पक्षों के आधार पर नैसर्गिक प्रवृत्तियों की कार्य-प्रक्रिया में निम्नाङ्कित अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं।

(१) वस्तु के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष की अवस्था (Perceptual stage)
(२) भावात्मक अवस्था (Emotional stage)
(३) भावाभिव्यक्ति की अवस्था (Expression of Emotion)
(४) क्रियात्मक अवस्था (Behavioural stage)
(५) नैसर्गिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति की अवस्था। (Expression of instinct)

नैसर्गिक प्रवृत्तियों के उपर्युक्त पक्ष एवं कार्य-अवस्थायें यहाँ इसलिए दिखाई गई हैं कि रस में भी ये उपर्युक्त पक्ष एवं कार्य-अवस्थायें पाई जाती हैं।

मानव की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ गत्यात्मक (elastic) कोटि की होती हैं, जानवरों के समान स्थिर कोटि की नहीं। इसी कारण शिक्षा एवं संस्कृति के विकास के साथ उनकी अभिव्यक्ति का ढंग भी विकसित होता रहता है। आजकल के पढ़े लिखे लोगों में नैसर्गिक प्रवृत्तियों

की अभिव्यक्ति का ढङ्ग इतना संयमित, परिमार्जित एवं सुसंस्कृत हो गया है कि उनको पहचानना कठिन हो जाता है। राजनीतिज्ञों का क्रोध, हास्य एवं मुस्कराहट तथा कभी कभी अलंकृत स्वागत के भीतर भी छिपा रहता है। कुंठित काम-वृत्ति वाले व्यक्तियों की काम-भावना ऐसे अनेक छद्म वेशों में प्रकट होती है कि उन्हें पहचानना सामान्य व्यक्ति के लिए असंभव हो जाता है। यह बात कई बार बलपूर्वक कही जा चुकी है कि मनुष्य की सभी प्रकार की क्रियाओं की मुख्य संचालिका उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ ही हैं। व्यक्ति एवं समाज के जीवन की सभी प्रकार की घटनाओं, परिस्थितियों, विशेषताओं, गुणों पक्षों आदि को उद्भूत करने वाली एवं उन्हें रूप देने वाली ये नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ ही हैं। व्यक्ति एवं समाज दोनों का निर्माण तथा विध्वंस इन्हीं की निर्माणात्मक तथा विध्वंसक कार्य-दिशा पर निर्भर है। मनुष्य के सभी प्रयत्नों, एवं चेष्टाओं का केन्द्र इनमें निहित है। मानव जीवन का रहस्य इन्हीं में छिपा है।

रसवाद में रसों की संख्या मुख्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों के आधार पर निरूपित जान पड़ती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए नीचे मुख्य रस तथा उनकी आधारभूत नैसर्गिक प्रवृत्तियों की तालिका उपस्थित की जा रही है:—

नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ		उन पर आधारित रस
१—काम	(Sex)	शृंगार
२—पलायन	(Flight)	भयानक
३—जिज्ञासा	(Curiousity)	अद्भुत
४—युद्ध प्रवृत्ति	(Selfassertion)	वीर
५—कलहेच्छा	(Pugnacity)	रौद्र
६—करुण	(Sympathy)	करुण
७—जुगुप्सा	(Repulsion)	वीभत्स
८—हास्य	(Mirth or laughter)	हास्य

९—दैन्य प्रवृत्ति या आत्म समर्पण	(Self submission)	शान्त
१०—पालनवृत्ति	(Parental instinct)	वात्सल्य

रसों की आधारभूत सहज प्रवृत्तियों से यह सिद्ध होता है कि संस्कृत साहित्य के रसवादी आचार्य मानव-मस्तिष्क के निर्माणकारी तत्वों से परिचित थे। यह बात दूसरी है कि यह जानकारी उन्हें स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intuition) से ही प्राप्त हुआ था। जिस प्रकार सहज प्रवृत्तियों की निश्चित संख्या के विषम में विद्वानों में मतभेद है[1] तद्वत् रसों की संख्या के विषय में भी। फिर भी मानव जीवन की प्रतिनिधि सहज प्रवृत्तियों के आधार पर रसों की नव संख्या ही अधिकांश आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुई है। काव्य में ९ रसों की सत्ता मानने का अर्थ है काव्य को जीवन की पूर्णता की दृष्टि से देखना।

(क) कतिपय मानस-शास्त्री सहज प्रवृत्तियों के चार ही प्रमुख भेद मानते हैं:—(१) आत्म संरक्षण (self preservation) (२) आत्मप्रतिष्ठा (self-assertion) (३) आत्माभिव्यक्ति (self expression) (४) आत्मनिर्माण (self creation)।

(ख) मैकडूगल उनके १४ प्रमुख भेद मानते हैं। परवर्ती काल में कुछ मानस-शास्त्री उनके ११८ भेद मानने लगे हैं।

(ग) भारतवासी संस्कृत आचार्य सहज प्रवृत्तियों के नव ही प्रमुख भेद मानते हुए दिखाई पड़ते हैं।

रस का स्वरूप (२)

भाव—(Emotion)

भाव (Emotion) किसी वाह्य परिस्थिति या वाह्य प्रतिक्रिया से उत्पन्न मन की वह क्षुब्ध दशा है जिसमें विषय बोध की धारणा निहित रहती है, जिससे सुखात्मक या दुखात्मक अनुभूति का बोध होता है, जिसमें प्रवृत्ति-उत्तेजन से, चेष्टा के लिए तत्परता रहती है, जिसका साध्य किसी न किसी इच्छा या संकल्प की पूर्ति रहती है, जिसमें मन की ही नहीं शरीर की भी एक विशिष्ट दशा हो जाती है। जैसे; क्रोध, अनिष्ट-कारी व्यक्ति या दुखद वस्तु के बोध से उत्पन्न होता है; इसमें दुखात्मक कोटि की वैयक्तिक अनुभूति होती है। क्रोध उत्पन्न होते ही आक्रमण करने, शस्त्र या हाथ तानने, कठोर शब्द कहने, दाँत पीसने आदि की चेष्टायें होती हैं। क्रोध का साध्य अपने आलम्बन का नाश या शासन रहता है; क्रोध की स्थिति में शरीर की विशिष्ट दशा हो जाती है; आँखें लाल हो जाती हैं; भौंहें चढ़ जाती हैं; नथुने फड़कने लगते हैं; रदपुट फड़कने लगते हैं; पाचन क्रिया वन्द हो जाती है। मानव जीवन के समस्त कार्यों के प्रवर्तक ये भाव ही हैं।[१] लोक रक्षक या लोक विध्वंसक सभी प्रकार के कार्य इन्हीं द्वारा प्रेरित होते हैं। इन्हीं भावों के वल से मनुष्य अचिन्तनीय परिस्थितियों का सामना करने में समर्थ होता है, इन्हीं के असंयमित होने पर नाना प्रकार की दारुण यातनाओं में फँस जाता है। इनका सदुपयोग या दुरुपयोग मनुष्य की वृत्तिवैशिष्ट्य पर निर्भर है। इन्हीं भावों के विशेष प्रकार के संघटन से मनुष्य

---

1. *Springs of actions are emotions. (Elements of Educational Psychology*, by L. R. Shukla, पृष्ठ ११३)

शीलवान माना जाता है। शील दशा में जीवन के स्थायी मूल्यों से सम्बन्ध रखने वाला अनुशासक भाव (Master sentiment) मनुष्य के चरित्र का नियंता बन जाता है। ऐसा व्यक्ति घर बाहर, कार्यालय, सिनेमाघर खेल का मैदान—सर्वत्र एक सा व्यवहार करता है। उसमें राष्ट्रीय, जातीय, पारिवारिक एवं वैयक्तिक कर्तव्यों से सम्बन्ध रखने वाले भाव द्वन्द्व नहीं उत्पन्न करते। सभी प्रकार के द्वन्द्वों को वह पर प्रतीति की अनुशासक भावना से मिटा देता है।

नैसर्गिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति ही भाव (emotion) नाम से अभिहित होती है। इसी कारण भावों का नामकरण एवं वर्गीकरण नैसर्गिक प्रवृत्तियों के आधार पर हुआ है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए नीचे मुख्य भावों तथा उनकी आधारभूत सहज प्रवृत्तियों की तालिका दी जा रही है :—

सहज प्रवृत्ति (Instinct)	भाव (Emotion)
(१) काम प्रवृत्ति	राग
(२) हास्य प्रवृत्ति	हास
(३) युद्ध-प्रवृत्ति	उत्साह
(४) जिज्ञासा	आश्चर्य
(५) सहानुभूति	शोक
(६) कलहेच्छा	क्रोध
(७) पलायन वृत्ति	भय
(८) घृणा प्रवृत्ति	जुगुप्सा
(९) पालन प्रवृत्ति	वात्सल्य, कोमल भाव
(१०) दैन्य प्रवृत्ति	अनाथता, अगतिकत्व

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ८ प्रधान भाव हैं:—क्रोध, भय, आश्चर्य, घृणा, प्रेम, शोक तथा उत्साह। इन्हीं को मूल भाव भी कहते हैं। इनसे उद्भूत प्रतिशोध वैर, दया, सहानुभूति, लज्जा ग्लानि, श्रद्धा,

विश्वास, आशा, कृतज्ञता, पश्चात्ताप आदि अनेक गौण भाव हैं। ये गौण भाव दूसरे भाव की अनुभूति के आश्रय से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए ये तद्भव भाव कहे जाते हैं। जैसे, श्रद्धा, विश्वास, कृतज्ञता आदि प्रेमभाव के आश्रित हैं। दया, सहानुभूति, कृपा आदि तद्भव भावों की अनुभूति के लिए दूसरे के शोक का अनुभव पहले आवश्यक है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि "मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं कह सकते, मन का वही वेग भाव कहला सकता है जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित हों।"[1] इच्छा भी एक प्रकार का मनोवेग है किन्तु वह भाव की स्थिति को नहीं पहुँचता क्योंकि उसका कोई अपना लक्ष्य नहीं होता। वह सदा दूसरे भावों के लक्ष्य को लेकर चलता है। इसी प्रकार चकपकाहट, घबराहट आदि भी भाव की स्थिति को नहीं पहुँच सकते। नैसर्गिक प्रवृत्तियों के समान भाव भी एक साथ या एक काल में प्रगट नहीं होते। वे विषय-बोध की विविधता एवं भिन्नता से विकसित होते हैं।

भावों की प्रकृति तथा स्वरूप-ज्ञान के लिए उनकी विशेषताओं का सिंहावलोकन आवश्यक है।

१—भाव, सहज-प्रवृत्तियों के रूप में अन्तस्संज्ञा में निहित रहते हैं। वे किसी उत्तेजनात्मक वाह्य परिस्थिति, वस्तु या व्यक्ति के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर जगते हैं।

२—अनुभाव उसकी अभिव्यक्ति के लक्षण हैं।

३—भाव जब विषय-बिम्ब से मन में उद्भूत होता है तब आलम्बन की अनुभूति के कारण उसके साथ अनेक विचार तथा भाव उत्पन्न होते हैं।

४—भावों की प्रकृति वैयक्तिक कोटि की होती है। रसावस्था में इनकी प्रकृति सामाजिक हो जाती है।

---

१ रस मीमांसा (आचार्य शुक्ल पृष्ठ १६८)

५—इनके अन्तराल में सुखात्मक या दुखात्मक अनुभूति छिपी रहती है।

६—क्रियामूलक चेष्टा की तत्परता भावाभिव्यक्ति का प्रधान लक्षण है।

७—परिस्थिति-परिवर्तन के साथ ही भाववृत्ति भी परिवर्तित हो जाती है।

८—प्रत्येक भावात्मक अनुभूति के साथ एक इच्छात्मक उत्तेजना रहती है।

९—किसी भाव की शक्ति, उत्तेजना की शक्ति पर निर्भर करती है।

१०—भाव उत्पन्न होने पर ग्रन्थीय क्रिया (glandular activity) आरम्भ हो जाती है।

११—भाव उत्तेजनात्मक परिस्थिति, मानसिक दशा, शारीरिक संवेदना एवं तत्परता को एक सूत्र में ग्रथित कर देता है।

१२—भावानुभूति-काल में सहभावी नाड़ियों की क्रिया के कारण नाना आंगिक परिवर्त्तन उपस्थित होते हैं।

१३—व्यक्ति की भावात्मक दशा का निर्णय उसके चेहरे की आकृति, संकेत, स्वर परिवर्तन आदि से काफी ठीक मात्रा तक किया जा सकता है।

१४—प्रत्येक भाव का वर्णन उत्तेजक बाह्य परिस्थिति, अनुभूति, प्रतिक्रिया काल की गति-तत्परता तथा आंगिक परिवर्तन के वर्णन-रूप में किया जा सकता है।

१५—व्यक्ति अपनी भावात्मक अभिव्यक्तिओं पर नियंत्रण अपने सामाजिक स्तर के विकास के साथ शनैः शनैः करता है। सहृदय की मानसिक स्थिति प्राप्त कर लेने पर उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति, प्रत्युत्तर आदि सामाजिक ढङ्ग के हो जाते हैं।

भावों की विशेषताओं की स्पष्टता के लिए सहज प्रवृत्ति से उसकी तुलना करना आवश्यक है। सहज प्रवृत्ति की प्रेरणा से होने वाली क्रिया एक निर्दिष्ट प्रणाली में होती है। किन्तु भाव के अनुसार होने

वाली क्रिया बहुरूपिणी होती है। सहज प्रवृत्ति या संस्कार, प्राणी में क्रिया काल में ही नहीं वरन् और काल में भी बना रहता है। भाव क्रिया के समय दिखाई पड़ता है, उसके पश्चात् प्रसुप्त काल में सहज-प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेता है। काव्यगत पात्रों के अधिकांश भावों की प्रतीति रस रूप में होती है, किन्तु सहज-प्रवृत्तियों की सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों की प्रतीति रस रूप में नहीं होती। सहज-प्रवृत्तियों का जीवन-प्रयत्न से सीधा तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखाई पड़ता है किन्तु भावों का जीवन प्रयत्न से सदा सीधा सम्बन्ध नहीं रहता। सहज-प्रवृत्तियों की क्रिया विषय-सन्निकर्ष काल में ही होती है किन्तु भाव के स्थिर रहने पर उसके पहले तथा पीछे भी क्रिया होती रहती है।

स्थायी भाव—(Sentiment)

जिस प्रकार एक भाव-विधान के भीतर मूल रूप में एक या कुछ सहज-प्रवृत्तियाँ रहती हैं उसी प्रकार भाव-प्रणाली के भीतर नीवँ रूप में कोई न कोई मूल भाव (primary emotion) रहता है तथा कुछ गौण या तद्भूत भाव भी उससे सम्बद्ध रहते हैं। अभिनवगुप्त ने स्थायी भाव को कहीं 'वासना' कहीं 'संविद्' कहीं 'चित्तवृत्ति' नाम से अभिहित किया है। स्थायी भाव, इनकी दृष्टि में सभी प्राणियों में स्वयं सिद्ध-रूप में रहते हैं। अतः प्राणी मात्र जीवन में जन्मकाल से ही उसके प्रमुख मानसिक अंग बनकर आते हैं। इससे विदित होता है कि स्थायी भाव का निरूपण करते समय अभिनव गुप्त के मन में सहज प्रवृत्तियों की भी धारणा वर्तमान थी। भारतीय शास्त्रकार स्थायी भाव को सहज जात मानते हुए दिखाई पड़ते हैं। शैण्ड महोदय भी स्थायी वृत्तियों को सहज जात मानते हैं। मैकडूगल स्थायी वृत्तियों (Sentiments) को उपार्जित मानते हैं। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक एवं मार्क्सवादी भी स्थायी भावों को नितान्ततः उपार्जित कहते हैं। स्थायी भावों की सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्ता देखने से जान पड़ता है कि उनके मूल तत्त्व अवश्य ही प्रकृत प्रदत्त हैं। साधित या गौण भावनायें

तथा इनकी अभिव्यक्ति के ढंगों को उपार्जित मानने में कोई बाधा नहीं क्योंकि इनका स्वरूप देश, काल तथा पात्र के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई पड़ता है। स्थायी भाव में प्राथमिक भाव एवं साधित भावनाओं का संघटन रहता है। प्राथमिक भाव अन्त तक टिकते हैं। साधित भावनायें अपने को प्राथमिक भाव में लय कर देती हैं। इस प्रकार स्थायी भाव में प्राथमिक भाव की ही प्रधानता रहती है। रसानुभूतिकाल में इसी प्राथमिक भाव का मुख्य रूप से आस्वादन होता है। रसास्वादन में साधित भावनाओं की भी कुछ मिठास रहती है किन्तु वह भोजन में चटनी ही के समान।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्थायी भाव ही रस स्थिति को पहुँच सकते हैं, भाव मात्र नहीं। अतः यहाँ प्रश्न उठता है कि किस प्रकार के भाव स्थायी भाव की पदवी को प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर के लिए उन लक्षणों को बताना आवश्यक है जो किसी भाव को स्थायी भाव की पदवी तक पहुँचने योग्य बनाते हैं:—

(१) उसे प्राथमिक भाव (primary emotion) होना आवश्यक है।

(२) उसमें सार्वभौमिक कोटि की आस्वाद्यमानता (Universal appeal) का रहना आवश्यक है।

(३) उसमें उत्कटता प्राप्त करने की क्षमता का रहना आवश्यक है।

(४) उसमें उदात्तीकरण की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है।

(५) उसमें उचितविषयनिष्ठत्व का रहना आवश्यक है।

(६) जो अनुकूल तथा प्रतिकूल—दोनों प्रकार की भावनाओं को अपने में ढँक लेने की क्षमता रखते हैं—अर्थात् जो प्रतिकूल भावना से नष्ट नहीं होते।

(७) इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्थायी भाव की संज्ञा को प्राप्त करने वाला भाव बहुत सबल होता है।

(८) जो बहुत देर तक सहृदय के चित्त में टिकने की क्षमता रखता है।

(९) जिसके आस पास अन्य साधित भावनायें इकट्ठी हो सकें।[1] (स्थायीभाव व्यभिचारियों को अपने पास खींच लाने की शक्ति रखता है)

(१०) यह उचित समय एवं सामग्री पाकर उदित होता है।

(११) स्थायीभाव के कम होने या बिलकुल नष्ट होने की भी संभावना रहती है।[2]

(१२) इन्हीं द्वारा मनुष्यों को पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

(१३) साहित्यदर्पणकार इन्हीं को 'आनन्दांकुरकंद' कहते हैं।

(१४) स्थायी दशा में भाव का अधिकार बुद्धि पर भी हो जाता है। अर्थात् निश्चयात्मिका वृत्ति भी भाव के आदेश पर चलने लगती है।[3]

विभाव

काव्य या नाटक में अथवा सामान्य जीवन में जो सहृदय के मन में स्थायी भावों को उठाते हैं या[4] उठे हुए भावों को उत्कर्ष-स्थिति में पहुँचाते हैं[5] उन्हें पारिभाषिक पदावली में विभाव कहते हैं। इन्हीं के द्वारा स्थायी भाव आस्वाद्यमान बनता है[6]। मानस शास्त्र की भाषा में इसे हम यों कह सकते हैं कि कोई भी चेतन प्राणी किसी विशिष्ट

१—स्थायी भाव में स्थायित्व का अर्थ किसी एक भाव का एक अवसर पर इस आधिपत्य के साथ रहना कि उसके उपस्थिति-काल में अन्य भाव या मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रगट हों। (रस मीमांसा शुक्ल जी पृष्ठ १७२)

२—वीतरागभयक्रोधस्थितिधीर्मुनिरुच्यते। (गीता)

३—रस मीमांसा (पृष्ठ १८८)

४—रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः (वाक्यप्रदीप)

५—उद्दीपनं उत्कर्षहेतुः (साहित्यरत्नाकर)

६—रत्यादीन स्थायिनः विभावयन्ति आस्वादयोग्यतां नयन्तीति विभावाः।

परिस्थिति, वातावरण या व्यक्ति के सम्पर्क में विशिष्ट प्रकार का भावात्मक प्रत्युत्तर देता है।[1] साहित्य में इसी सिद्धान्त का प्रयोग होता है। सहृदय काव्य या नाटक के पठन, श्रवण या दर्शन से तद्गत परिस्थितियों एवं पात्रों के प्रति विशिष्ट प्रकार की भावात्मक क्रिया प्रकट करते हैं। रसिकगत रस-निष्पत्ति के कारण ये विभाव ही हैं। इसीलिए विभाव को रस का कारण भी कहते हैं। भरत मुनि की दृष्टि में वाणी, अभिनय अथवा वर्णन से प्रगट होने वाले भाव जिनके द्वारा रसिक को प्रतीत होते हैं वे सब विभाव है।[2] विभाव के दो भेद हैं—आलम्बन तथा उद्दीपन[3]। भावों के प्रकृत आधार या विषय को आलम्बन कहते हैं।[4] इन्हीं को उद्देश्य में रख कर रति आदि भाव प्रवर्तित होते हैं। इसी लिए ये आलम्बन ज्ञान के प्रमुख कारण कहे जाते[5] हैं। आलम्बन के भीतर मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है।

सहृदय में जगे हुए भावों में उत्कर्ष लाने वाले हेतु को उद्दीपन कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है। आलम्बन का गुण, आलम्बन

---

1. *Western psychology always prefers to talk of a living organism as responding to some stimulus or as behaving in a particular way under some situation. To adopt the same terminology Darshak or Pāthak is the living organism emotionally responding to the situation in the drama, i.e., to the characters and the surroundings. The Vibhavās are the stimuli.*

२—विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति।
वहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः। (नाट्यशास्त्र)

३—विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः। (अग्निपुराण)

४—यस्याः चित्तवृत्तेः यो विषयः स तस्या आलम्बनम्। (रसगंगाधर)

५—आलम्बन विभावः स ज्ञानकारणमुच्यते। (सरस्वतीकंठाभरण)

की चेष्टा, आलम्बन का अलंकार तथा आलम्बन-तटस्थ उद्दीपन[१]। आलम्बन-तटस्थ उद्दीपन के भीतर वन, पहाड़, विद्युत, ऋतु आदि प्रकृति के विभिन्न अवयव आते हैं। उद्दीपन, भावोद्दीप्ति या रसोद्दीप्ति के निमित्त कारण माने जाते हैं। उद्दीपन अधिकांश स्थलों में रस या भाव को प्रदीप्त ही करता है जागृत नहीं करता। कायर को युद्ध स्थल में वीर रस का संचार नहीं होता। आजकल जिसे वातावरण (Environment) कहते हैं उसका समावेश विभाव अपने भीतर कर लेता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के भीतर मनोविज्ञान के दो प्रमुख तत्त्व Heredity and environment दोनों आ जाते हैं। सहृदय को आनुवंशिक (Heredity) रूप में वासनात्मक भाव मिले हैं। वातावरण (Environment) के तत्त्व आलम्बन एवं उद्दीपन उसे जगा कर एवं उत्कर्ष की स्थिति को पहुँचा कर रस रूप में परिणत करते हैं।

कवि कर्म के दो मुख्य पक्ष हैं:—विभाव पक्ष एवं भाव पक्ष। कवि एक ओर ऐसी सुन्दर वस्तुओं का चित्रण करता है जो उसके हृदय में भावों को उत्पन्न करती हैं या उत्पन्न हुए भावों को सम्वर्द्धित करती हैं। दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक रूपों की व्यंजना करता है। इन्हीं को क्रमशः विभाव एवं भाव पक्ष कहते हैं। काव्य में ये दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित हैं। जहाँ एक पक्ष रहेगा वहाँ दूसरा अवश्य रहेगा, चाहे उसका स्वरूप व्यक्त कोटि का हो या व्यंग्य कोटि का। काव्य में विभाव पक्ष ही सबसे मुख्य तत्त्व है। भावों के प्रकृत आधारों का कल्पना द्वारा पूर्ण प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला एवं आवश्यक कर्तव्य है। कवि-कल्पना का पूर्ण विकास विभाव के चित्रण में ही देखा जा सकता है। पर यहाँ कल्पना को कवि की अनु-

---

१ उद्दीपनं तदुत्कर्षहेतुस्तत्तु चतुर्विधम्
आलम्बनगुणश्चैव तच्चेष्टा तदलङ्कृतिः
तटस्थश्चेति विज्ञेयाश्चतुर्थोद्दीपनक्रमाः। (साहित्यरत्नाकर)

भूति के आदेश पर चलना चाहिए। विभाव का काव्य में इतना अधिक महत्त्व है कि अकेले ही उसका कलात्मक चित्रण काव्य बनने में समर्थ हो सकता है। यदि विभाव का वर्णन काव्य में अच्छी तरह कवि ने कर दिया तो फिर भाव की व्यंजना अपने आप हो जायगी। कभी कभी भाव की तीव्र व्यंजना के लिए विभाव के चित्रण में वर्ण्य वस्तुओं के मेल में अलंकार के माध्यम से दूसरी वस्तुएँ भी कवि रखता चलता है पर यहाँ कवि को बहुत सावधानी से काम लेना पड़ता है। अर्थात् उन दूसरी वस्तुओं से भी वे ही भाव उदित होने चाहिए जो वर्ण्य वस्तुओं से होते हैं।

अनुभाव* (Expression of Emotions)

मन या शरीर पर उत्पन्न होनेवाले भाव के संसूचनात्मक विकार को अनुभाव कहते हैं। ये अनुभाव उत्पन्न हुए स्थायी भाव का बोध कराते हैं इसीलिए इनका नाम अनुभाव है। भरत मुनि की दृष्टि में आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्तिसूचक वाणी, शरीर तथा मन

---

*१—अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः (दशरूपक। ४-१)

२—अनुभावोभावबोधकः (अमरकोश)

३—अनुभाव्यतेऽनेनवागङ्गसत्वकृतोऽभिनयः इति अनुभावः
वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्ग संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः (नाट्यशास्त्र। ७-१३)

४—स्थायिभावानां यानि कार्यतया प्रसिद्धानि तानि अनुभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते (रसगंगाधर पृष्ठ ३३)

५ क—स्थायिव्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनः अनुभवन् अनुभाव्यते साक्षात्कार्यते यैः ते अनुभावाः। (काव्यानुशासन) पृष्ठ ५६।

५ ख—ये रसान् अनुभावयन्ति, अनुभवगोचरतां नयन्ति तेऽनुभावाः (रसतरंगिणी पृष्ठ १०)

[शेष अगले पृष्ठ पर]

सम्बन्धी क्रियायें अनुभाव कही जाती हैं। इससे यह तात्पर्य निकला कि अनुभाव प्रायः भावोत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। इसी लिए पंडित राज जगन्नाथ अनुभावों को स्थायी भाव का कार्य मानते हैं। काव्यानुशासनकार के मत में अनुभाव सामाजिकों को रस का अनुभव कराते हैं। कतिपय आचार्यों की दृष्टि में इसके चार भेद हैं तथा कुछ के मत में दो। अनुभाव के चार भेद माननेवाले रसतरंगिणीकार तथा रसार्णवसुधाकरकार हैं। जिनके भीतर क्रम से शरीर, वाणी, बुद्धि तथा मन की क्रियायें आती हैं। साहित्यकौस्तुभ के टीकाकार इसके दो ही भेद मानते हैं:—अनुभाव तथा सात्विक भाव रस का प्रकाशक अन्तःकरण का विशेष धर्म सत्व है। सत्व से उत्पन्न होने के कारण ये सात्विक कहे जाते हैं। सात्विक भाव भी अनुभावों के समान रति आदि स्थायी भावों के कार्य होने तथा भावबोधकत्वरूप-धर्मैक्यता के कारण अनुभाव ही के अन्तर्गत परिगणित होने चाहिए। अनुभाव के स्वरूप की स्पष्टता के लिए सामान्य अनुभावों तथा सात्विक भावों का अन्तर जान लेना अप्रासंगिक न होगा।

---

६ (क)—स चानुभावः कायिकमानसाहार्यसात्विकभेदाच्चतुर्धा। (रसतरंगिणी—पृष्ठ १०)

(ख)—ते चतुर्धा चित्तगात्रवाग्बुद्ध्यारम्भसम्भवः (रसार्णवसुधाकर—१-१६०)

(ग)—अनुपश्चाद् भावो यस्य सोऽनुभावः कार्यम्। स च द्वेधा।—स्तम्भादिः स्मितकटाक्षादिश्च इति। स्तम्भादयः स्वतः प्रवर्तन्ते इति सात्विकाः।

स्मितादयो बुद्धिपूर्वका उत्पद्यन्ते इत्यानुभावः कथ्यन्ते कैश्चित्। स्वतो धीपूर्वकत्वं चेति धर्मभेदात् धर्मिभेदः। भावबोधकत्वरूपधर्मैक्यात् उभयेऽपि अनुभावाः संमता इति बोध्यम्। (साहित्यकौस्तुभ टीका पृष्ठ २६)

अनुभाव एवं सात्विक भाव का अन्तर

अनुभाव	सात्विक भाव
१—सामान्य अनुभावों का सम्बन्ध शरीर से है ये सहेतुक होते हैं इनमें बुद्धिपूर्वक प्रयत्न होता है। जैसे ललित, इनमें अंगों की सुकुमारता रहती है।	१—सात्विक भावों का सम्बन्ध मन से है। अतः ये आन्तर धर्म हैं। ये भाव उत्पन्न होने पर स्वयं प्रगट होते हैं। इनके लिए चेतन प्रयत्न नहीं करना पड़ता।
२—अनुभाव उत्पन्न होने पर शारीरिक हलचल रहती है। जैसे कुट्टुमित, लीला, विलास केलि आदि में।	२—सात्विक भावों के उत्पत्ति-काल में शरीर की मूल प्रकृति बदली रहती है। अर्थात् कुछ शरीरिक विकृति आ जाती है।
३—अनुभाव में मन की तन्मयता की उतनी आवश्यकता नहीं।	३—सात्विक भाव में मन की तन्मयता की आवश्यकता अधिक है। जैसे प्रलय नामक सात्विक भाव में मन की तन्मयता के कारण शरीर जड़ तुल्य हो जाता है।
४—अनुभाव सामान्य भावों के उत्पन्न होने पर प्रगट होते हैं।	४—सात्विक भाव बहुत शक्तिशाली भावों के उत्पन्न होने पर ही प्रगट होते हैं। जैसे, स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, अश्रु, प्रलय आदि सभी सात्विक भाव बहुत शक्तिशाली भाव के उत्पन्न होने पर ही प्रगट होते हैं।

साहित्य के आचार्यों ने अनुभाव को प्रायः रस के कार्य रूप में ही निरूपित किया है किन्तु वह कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में रस का कारण भी हो सकता है। जैसे, नीचे का उदाहरण देखिए—

टपटप टपकत सेदकन अंग अंग थहरात।
नीरजनयनी नयन मैं काहें नीर लखात।

स्वेद बिन्दु का टपकना, अंगों का कम्पित होना, आँखों में जल आना आदि अनुभावों द्वारा उक्त दोहे में आलम्बन, उद्दीपन आदि सूचित हो जाते हैं। श्रम, आवेग, चिन्ता, शंका आदि संचारियों का उद्बोध भी हो जाता है। इस प्रकार केवल अनुभावों द्वारा भी रस की व्यंजना हो जाती है।

संचारी-भाव

व्यभिचारी या संचारी भाव उस अल्पकालिक मानसिक स्थिति का नाम है जो विभाव से जाग्रत होकर अनुभाव विशेषों के माध्यम से व्यक्त होकर स्थायी भावों का पोषण करती हुई उन्हीं में विलीन हो जाती है। मनोवैज्ञानिक पदावली में इन्हें अस्थायी मनोवृत्ति कह सकते हैं। संचारी भाव कई रसों में संचरण करते हैं, इसी लिए कुछ आचार्यों ने इन्हें संचारी नाम दिया है। स्थायी भाव की उत्पत्ति में सहायक होने के कारण आचार्य मम्मट ने इन्हें सहकारी नाम से अभिहित किया है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने का उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है तो विजय की उत्सुकता, लक्ष्य की सफलता पर हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं। संचारी भाव की स्पष्टता के लिए स्थायी भाव से उसकी तुलना अपेक्षित है।

स्थायी भाव जातितः स्थिर कोटि का होता है किन्तु व्यभिचारी अस्थिर। एक में स्वामी की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है तो दूसरे में सेवक की। स्थायी भाव यदि सागर के समान है तो संचारी तरंग के समान। जैसे तरंग सागर में से उठकर फिर उसी में लय हो जाती है तद्वत्

संचारी स्थायी भाव से प्रवर्तित होकर फिर उसी में अपने को लय कर देते हैं। अधिकांश संचारियों का स्वयं में कोई आधार नहीं होता। वे प्रायः स्थायी के आलम्बन पर खड़े होते हैं। इसी कारण वे अपने धर्म का अर्पण स्थायी भाव में करते हैं। इसी लिए इनका व्यापार सदा स्थायी भाव के अनुकूल होता है। स्थायी और संचारी का आलम्बन प्रायः एक होता है। यदि कभी संचारी का आलम्बन स्वतंत्र हुआ भी तो उससे सहृदय का साधारणीकरण होना कठिन है क्योंकि वह विशेष कोटि का होता है। किन्तु इसके विरुद्ध स्थायी का आलम्बन सदा सामान्य कोटि का होता है[1]। इसी लिए संचारी के विषय स्थायी के आलम्बन से भिन्न होने पर आलम्बन नहीं कहे जाते।[2] स्थायी भावों को प्रगट होते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का अनुभव कर सकते हैं पर संचारी का अनुभव उसी रूप में नहीं कर सकते अर्थात् संचारी भाव रस रूप में परिणत नहीं हो सकते।

इसीलिए संचारी स्वतन्त्र रूप से आस्वाद्यमान नहीं होते, स्थायी के आस्वादन में केवल सहायता करते हैं। जब कभी स्वतन्त्र रूप में आते हैं तब केवल भाव स्थिति तक ही रह जाते हैं। स्थायी भाव एक स्वतन्त्र लक्ष्य रखते हैं अतः इच्छा, संकल्प एवं प्रयत्न की ओर प्रवृत्त

१—गर्व, लज्जा और असूया को छोड़कर अन्य संचारियों के आलम्बन या तो प्रधान भाव के ही आलम्बन होते हैं अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएँ। (रस मीमांसा—पृष्ठ २३२)

२—लज्जा, ईर्ष्या और गर्व के यद्यपि स्वतंत्र विषय होते हैं, पर उनकी ओर उतना ध्यान नहीं रहता जितना कारणों की ओर रहता है। 'आश्रय' का ध्यान तो कुछ रहता भी है, पर श्रोता या दर्शक का ध्यान कुछ भी नहीं रहता अतः स्वतंत्र विषय रखने पर भी ये आलम्बन प्रधान नहीं है। इनके विषय आलम्बन पद प्राप्त नहीं होते। आलम्बन वही विषय कहा जा सकता है जिसके प्रत्यय का बोध प्रधान होकर बना रहे। अतः आलम्बन, प्रधान भावों के ही विषय को कह सकते हैं। (रस मीमांसा—पृष्ठ २०७)

करते हैं। संचारी स्वतन्त्र लक्ष्य नहीं रखते अतएव ये स्थायी के लक्ष्य की ओर ही प्रवृत्त करते हैं। व्यभिचारी के भीतर साधित एवं संमिश्र के अतिरिक्त कुछ प्राथमिक भावनायें भी आती हैं किन्तु स्थायी के भीतर नैसर्गिक प्रवृत्तियों, प्राथमिक भावों एवं साधित भावनाओं का संघटन रहता है।

ध्यान देने की बात है कि एक ही भाव कभी स्थायी होता है, तो कभी व्यभिचारी। इसके दो मुख्य कारण हैं:—प्रथम विभाव की निर्बलता द्वितीय उस भाव की शक्तिहीनता। वस्तुतः स्थायी और व्यभिचारी में नैमित्तिक भेद है, नित्य भेद नहीं। किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात है कि स्थायी भाव तो व्यभिचारी हो सकते हैं, परन्तु सभी व्यभिचारी भाव स्थायी भाव की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। अन्य स्थायी भाव किसी एक स्थायी भाव के या अपने विभाव के निर्बल पड़ने पर या प्रमुख होने पर व्यभिचारी हो सकते हैं; किन्तु स्थायी व्यभिचारी भाव के अतिरिक्त अन्य व्यभिचारी भाव स्थायी भाव नहीं हो सकते। स्थायी भाव के भीतर उसके विरोधी भाव व्यभिचारी भाव में नहीं आ सकते जैसे शृंगार के भीतर वीभत्स, वीर के भीतर भयानक, रौद्र के भीतर करुणा, एवं सभी रसों के भीतर तितिक्षा व्यभिचारी रूप में नहीं आ सकता। जिसके प्रति शृंगार की भावना होगी उसके प्रति घृणा की भावना नहीं हो सकती। सच्चा वीर अपने आलम्बन से भयभीत नहीं होता। इसलिए उत्साह के साथ भय का संचार नहीं हो सकता। क्रोधी व्यक्ति क्रोध के क्षणों में अपने आलम्बन के प्रति करुणा नहीं कर सकता। इसी प्रकार त्याग या वैराग्य की भावना अन्य स्थायी भावों के साथ सहचर रूप में नहीं आ सकती क्योंकि अन्य स्थायी भाव इस व्यक्त जगत् के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने पर उदय होते हैं। किन्तु तितिक्षा की भावना इस जगत के साथ अनासक्ति होने पर जगती है।

रस पद्धति की बँधी लीक पर चलने वाले आचार्यों ने संचारियों की ३३ संख्या निश्चित की है। पर इनकी संख्या बढ़ सकती है।

बहुत सी ऐसी अल्पकालिक, मानसिक अवस्थाओं का चित्रण कवियों, उपन्यासकारों तथा कहानीकारों ने किया है जिनका नामकरण या विश्लेषण अभी आचार्यों द्वारा नहीं हो सका है तथा बहुत से ऐसे मन के वेग, अन्तःकरण की वृत्तियाँ, मानसिक एवं शारीरिक अवस्थायें मनुष्य के जीवन में घटित होती हैं जिनका अनुभव कदाचित् कवियों या आचार्यों में से भी किसी को न हुआ हो।

इसी कारण हिन्दी के कई आचार्यों ने ३३ संचारियों के अतिरिक्त कई नये संचारियों का नाम गिनाया है। निष्कर्ष यह कि संचारियों की संख्या ३३ से अधिक हो सकती है। इनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संचारियों के अन्तर्गत भाव के पास तक पहुँचने वाले स्वतंत्र विषययुक्त मनोविकार, मन के वेग, शारीरिक एवं मानसिक अवस्था में तथा कई अन्तःकरण वृत्तियाँ भी आती हैं। संचारियों के स्वरूप एवं व्याप्ति के बोध के लिए नीचे संचारियों की एक तालिका उपर्युक्त विभाजन के आधार पर दी जा रही है।

संचारी भाव[१]

स्वतन्त्र आलम्बन वाले भाव	मन के वेग	अन्तःकरण की वृत्तियाँ	मानसिक अवस्थायें	शारीरिक अवस्थायें
गर्व, लज्जा, ईर्ष्या	आवेग, अमर्ष, अवहित्था, औत्सुक्य, त्रास, हर्ष, विषाद	शंका, स्मृति, मति, चिन्ता, वितर्क, आशा, नैराश्य, विस्मृति।	दैन्य, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, स्वप्न, अलसता, उन्माद, संतोष, चपलता, निर्वेद, मृदुलता, धैर्य, क्षमा, असन्तोष, ग्लानि,	श्रम, अपस्मार मरण, निद्रा, विबोध, व्याधि

१ रसमीमांसा के आधार पर।

रस का स्वरूप (३)

[रस की प्रकृति तथा विशेषता]

रस के स्वरूप को ठीक ठीक समझने के लिए रसानुभूति की प्रकृति तथा विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है। रसानुभूति कोई विच्छिन्न अनुभूति नहीं, कोई अस्तव्यस्त भावावस्था नहीं, कोई असंगतिपूर्ण या औचित्यहीन भावस्थिति नहीं वरन् सहृदय के भाव विशेष का व्यवस्थित तथा संश्लिष्ट विकास है। रसानुभूति एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति है, जिसमें वास्तविक अनुभूति का उदात्त या अवदात स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है; जिसमें स्वस्थ सौन्दर्य सम्बन्धी भाव व्यवस्थित ढंग से प्रतिष्ठित रहते हैं। रसानुभूति काल में जीवन की समस्यायें सुलझी सी प्रतीत होती है, इसी कारण उस क्षण में वेद्यान्तर स्पर्शशून्यता आ जाती है; उस क्षण के भाव इतने सुन्दर एवं स्वयं में पूर्ण तथा महत्त्वशाली प्रतीत होते हैं, कि जीवन की वास्तविकता एक विशिष्ट रूप में अनावृत सी प्रतीत होती है। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में हम आन्तरिक समन्वय के सत्यों तथा मूल्यों से अभिज्ञ जान पड़ते हैं, पूर्णता की सुन्दर अन्विति से भरे हुए प्रतीत होते हैं। मानव जीवन की प्रकृति तथा परिभाषा से परिचित जान पड़ते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि सच्ची रसानुभूति के काल में भावों की व्यवस्था न रहती तो क्या उपर्युक्त विशेषतायें रसानुभूति में आतीं। उत्तर है—स्पष्ट नहीं, क्योंकि व्यवस्था या औचित्य के अभाव में रस भंग हो जाता है, सच्ची या वास्तविक रसानुभूति नहीं होती।

काव्य में अर्थ-ग्रहण मात्र से अथवा इति वृत्तात्मक कथन से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट गोचर वस्तुओं का ही होता है। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी गोचर एवं मूर्त रूप ही छिपे मिलते हैं। बिम्ब ग्रहण के लिए वस्तुओं या भावों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा उनके आस पास की परिस्थिति का

बहुत सी ऐसी अल्पकालिक, मानसिक अवस्थाओं का चित्रण कवियों, उपन्यासकारों तथा कहानीकारों ने किया है जिनका नामकरण या विश्लेषण अभी आचार्यों द्वारा नहीं हो सका है तथा बहुत से ऐसे मन के वेग, अन्तःकरण की वृत्तियाँ, मानसिक एवं शारीरिक अवस्थायें मनुष्य के जीवन में घटित होती हैं जिनका अनुभव कदाचित् कवियों या आचार्यों में से भी किसी को न हुआ हो।

इसी कारण हिन्दी के कई आचार्यों ने ३३ संचारियों के अतिरिक्त कई नये संचारियों का नाम गिनाया है। निष्कर्ष यह कि संचारियों की संख्या ३३ से अधिक हो सकती है। इनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संचारियों के अन्तर्गत भाव के पास तक पहुँचने वाले स्वतंत्र विषययुक्त मनोविकार, मन के वेग, शारीरिक एवं मानसिक अवस्था में तथा कई अन्तःकरण वृत्तियाँ भी आती हैं। संचारियों के स्वरूप एवं व्याप्ति के बोध के लिए नीचे संचारियों की एक तालिका उपर्युक्त विभाजन के आधार पर दी जा रही है।

संचारी भाव[१]

स्वतन्त्र आलम्बन वाले भाव	मन के वेग	अन्तःकरण की वृत्तियाँ	मानसिक अवस्थायें	शारीरिक अवस्थायें
गर्व, लज्जा, ईर्ष्या	आवेग, अमर्ष, अवहित्था, औत्सुक्य, त्रास, हर्ष, विषाद	शंका, स्मृति, मति, चिन्ता, वितर्क, आशा, नैराश्य, विस्मृति।	दैन्य, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, स्वप्न, अलसता, उन्माद, संतोष, चपलता, निर्वेद, मृदुलता, धैर्य, क्षमा, असन्तोष, ग्लानि.	श्रम, अपस्मार मरण, निद्रा, वियोग, व्याधि

१ रसमीमांसा के आधार पर।

रस का स्वरूप (३)

[रस की प्रकृति तथा विशेषता]

रस के स्वरूप को ठीक ठीक समझने के लिए रसानुभूति की प्रकृति तथा विशेपताओं पर विचार करना आवश्यक है। रसानुभूति कोई विच्छिन्न अनुभूति नहीं, कोई अस्तव्यस्त भावावस्था नहीं, कोई असंगतिपूर्ण या औचित्यहीन भावस्थिति नहीं वरन् सहृदय के भाव विशेष का व्यवस्थित तथा संश्लिष्ट विकास है। रसानुभूति एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति है, जिसमें वास्तविक अनुभूति का उदात्त या अवदात स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है; जिसमें स्वस्थ सौन्दर्य सम्बन्धी भाव व्यवस्थित ढंग से प्रतिष्ठित रहते हैं। रसानुभूति काल में जीवन की समस्यायें सुलझी सी प्रतीत होती है, इसी कारण उस क्षण में वेद्यान्तर स्पर्शशून्यता आ जाती है; उस क्षण के भाव इतने सुन्दर एवं स्वयं में पूर्ण तथा महत्त्वशाली प्रतीत होते हैं, कि जीवन की वास्तविकता एक विशिष्ट रूप में अनावृत सी प्रतीत होती है। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में हम आन्तरिक समन्वय के सत्यों तथा मूल्यों से अभिज्ञ जान पड़ते हैं, पूर्णता की सुन्दर अन्विति से भरे हुए प्रतीत होते हैं। मानव जीवन की प्रकृति तथा परिभाषा से परिचित जान पड़ते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि सच्ची रसानुभूति के काल में भावों की व्यवस्था न रहती तो क्या उपर्युक्त विशेषतायें रसानुभूति में आतीं। उत्तर है—स्पष्ट नहीं, क्योंकि व्यवस्था या औचित्य के अभाव में रस भंग हो जाता है, सच्ची या वास्तविक रसानुभूति नहीं होती।

काव्य में अर्थ-ग्रहण मात्र से अथवा इति वृत्तात्मक कथन से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट गोचर वस्तुओं का ही होता है। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी गोचर एवं मूर्त रूप ही छिपे मिलते हैं। बिम्ब ग्रहण के लिए वस्तुओं या भावों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा उनके आस पास की परिस्थिति का

बहुत सी ऐसी अल्पकालिक, मानसिक अवस्थाओं का चित्रण कवियों, उपन्यासकारों तथा कहानीकारों ने किया है जिनका नामकरण या विश्लेषण अभी आचार्यों द्वारा नहीं हो सका है तथा बहुत से ऐसे मन के वेग, अन्तःकरण की वृत्तियाँ, मानसिक एवं शारीरिक अवस्थायें मनुष्य के जीवन में घटित होती हैं जिनका अनुभव कदाचित् कवियों या आचार्यों में से भी किसी को न हुआ हो।

इसी कारण हिन्दी के कई आचार्यों ने ३३ संचारियों के अतिरिक्त कई नये संचारियों का नाम गिनाया है। निष्कर्ष यह कि संचारियों की संख्या ३३ से अधिक हो सकती है। इनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संचारियों के अन्तर्गत भाव के पास तक पहुँचने वाले स्वतंत्र विषययुक्त मनोविकार, मन के वेग, शारीरिक एवं मानसिक अवस्था में तथा कई अन्तःकरण वृत्तियाँ भी आती हैं। संचारियों के स्वरूप एवं व्याप्ति के बोध के लिए नीचे संचारियों की एक तालिका उपर्युक्त विभाजन के आधार पर दी जा रही है।

संचारी भाव[१]

स्वतन्त्र आलम्बन वाले भाव	मन के वेग	अन्तःकरण की वृत्तियाँ	मानसिक अवस्थायें	शारीरिक अवस्थायें
गर्व, लज्जा, ईर्ष्या	आवेग, अमर्ष, अवहित्था, औत्सुक्य, त्रास, हर्ष, विषाद	शंका, स्मृति, मति, चिन्ता, वितर्क, आशा, नैराश्य, विस्मृति।	दैन्य, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, स्वप्न, अलसता, उन्माद, संतोष, चपलता, निर्वेद, मृदुलता, धैर्य, क्षमा, असन्तोष, ग्लानि,	श्रम, अपस्मार मरण, निद्रा, विबोध, व्याधि

१ रसमीमांसा के आधार पर।

रस का स्वरूप (३)

[रस की प्रकृति तथा विशेषता]

रस के स्वरूप को ठीक ठीक समझने के लिए रसानुभूति की प्रकृति तथा विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है। रसानुभूति कोई विच्छिन्न अनुभूति नहीं, कोई अस्तव्यस्त भावावस्था नहीं, कोई असंगतिपूर्ण या औचित्यहीन भावस्थिति नहीं वरन् सहृदय के भाव विशेष का व्यवस्थित तथा संश्लिष्ट विकास है। रसानुभूति एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति है, जिसमें वास्तविक अनुभूति का उदात्त या अवदात स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है; जिसमें स्वस्थ सौन्दर्य सम्बन्धी भाव व्यवस्थित ढंग से प्रतिष्ठित रहते हैं। रसानुभूति काल में जीवन की समस्यायें सुलझी सी प्रतीत होती है, इसी कारण उस क्षण में वेद्यान्तर स्पर्शशून्यता आ जाती है; उस क्षण के भाव इतने सुन्दर एवं स्वयं में पूर्ण तथा महत्त्वशाली प्रतीत होते हैं, कि जीवन की वास्तविकता एक विशिष्ट रूप में अनावृत सी प्रतीत होती है। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में हम आन्तरिक समन्वय के सत्यों तथा मूल्यों से अभिज्ञ जान पड़ते हैं, पूर्णता की सुन्दर अन्विति से भरे हुए प्रतीत होते हैं। मानव जीवन की प्रकृति तथा परिभाषा से परिचित जान पड़ते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि सच्ची रसानुभूति के काल में भावों की व्यवस्था न रहती तो क्या उपर्युक्त विशेषतायें रसानुभूति में आतीं। उत्तर है—स्पष्ट नहीं, क्योंकि व्यवस्था या औचित्य के अभाव में रस भंग हो जाता है, सच्ची या वास्तविक रसानुभूति नहीं होती।

काव्य में अर्थ-ग्रहण मात्र से अथवा इति वृत्तात्मक कथन से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट गोचर वस्तुओं का ही होता है। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी गोचर एवं मूर्त रूप ही छिपे मिलते हैं। बिम्ब ग्रहण के लिए वस्तुओं या भावों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा उनके आस पास की परिस्थिति का

परस्पर संश्लिष्ट विवरण आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा यह संश्लिष्ट दृष्टि अधिक व्यापक तथा गंभीरता लाती है।

रसानुभूति में सहृदय के मन में विभाव, अनुभाव एवं संचारी का सम्बन्ध उसके स्थायीभाव से कल्पना-प्रक्रिया द्वारा इस प्रकार हो जाता है कि वे सब भावना के बल से मिल कर एक अखण्ड सौन्दर्य सत्ता के[1] रूप में प्रतीत होते हैं और वे एक विशिष्ट प्रकार के रूपात्मक[2] सौन्दर्य को प्रतिष्ठित करते हैं जो बहुत ही लावण्यशाली एवं व्यंजनात्मक कोटि का होता है, जो सहृदय के भावात्मक सत्व पर प्रभाव डालने वाला होता है। यह रूपात्मक सौन्दर्य सहृदय को आकर्षक एवं रमणीय प्रतीत होने के कारण उसके मन के भावात्मक पक्ष को द्रवीभूत कर अपने में रमा देता है। मन के रमने की क्रिया, कल्पना के माध्यम से विषयों के इन्द्रियगोचर होने से होती है। रस में वृत्तियों या भावों की सुन्दरता रूपात्मक ढंग से ही मन में उठती है। किसी के क्रोध, प्रेम, करुणा का स्मरण करते समय विशिष्ट प्रकार का रूप ही[3] सामने आ जाता है। यह रूप-विधान बाहर देखे हुए रूप, रंग, गति, आकृति आदि के आधार पर ही होता है। यह रूप विधान आचार्य शुक्ल की दृष्टि में ३ प्रकार का होता है—

१—काव्य का काम है विम्ब या मूर्तभावना उपस्थित करना। (आचार्य शुक्ल—चिन्तामणि; 'साधारणीकरण एवं व्यक्ति वैचित्र्यवाद')

२—रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूताः स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते। (साहित्यदर्पण—पृष्ठ ६,)

काव्य की कोई उक्ति पढ़ते या सुनते समय जब काव्य वस्तु के साथ साथ वक्ता या बोधव्य पात्र की कोई मूर्त भावना भी खड़ी रहती है तभी पूर्ण तन्मयता प्राप्त होती है।

(चिन्तामणि—'रसात्मक बोध के विविध रूप' पृष्ठ ३६६)

३—आचार्य शुक्ल (चिन्तामणि)

(१) प्रत्यक्ष रूप विधान।
(२) स्मृति-रूप विधान।
(३) कल्पित रूप विधान।

इन तीनों प्रकार के रूप-विधानों में भावों को जागरित करने की ऐसी शक्ति होती है कि वे भाव रस-कोटि में आ सकें। कल्पित रूप विधान द्वारा उद्दीप्त अनुभूति तो रसानुभूति मानी ही जाती है। प्रत्यक्ष या स्मृति द्वारा जागरित अनुभूति भी विशेष दशा में रसानुभूति की कोटि में आ जाती है। पर जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है वहाँ तक कल्पित रूप एवं व्यापार ही शब्द-संकेतों द्वारा मूर्त विधान करते हैं। पाठक या श्रोता इस रस का अनुभव, कल्पना द्वारा करते हैं। रसानुभूति काल में सहृदय का मन व्यक्तिगत योग-क्षेम, हानि लाभ, दुख-क्लेश को छोड़ कर रसके विषय के साथ रमता है। मन के रमने से उस वस्तु या विषय का महत्त्व तथा सन्देश भावात्मक रूप में मन में प्रविष्ट होता है। रस का विषय या अनुभूति अपनी सामाजिकता के कारण सहृदय के मन का विस्तार करती है। मन के विस्तार का अनुभव कला के माध्यम से आने के कारण सात्विक आनन्द की सृष्टि करता है। सौन्दर्यानुभूतिजन्य भावों के आस्वादन से उत्पन्न सात्विक आनन्द ही साहित्यिक पदावली में रस कहा जाता है।

रस की प्रकृति लोकसत्तात्मक कोटि की होती है। इसी कारण वे ही भाव रस की पदवी को पहुँचने वाले माने गये जिनमें 'सर्वजन' सुलभता वर्तमान है, जो सभी देशों तथा सभी धर्मों के सहृदयों को आस्वाद्यमान हो सकते हैं। रस की प्रधानता या श्रेष्ठता भी इसी व्यापकता की कसौटी से निश्चित की गई है। रस की यह प्रकृतिगत विशेषता साधारणी-करण के कारण आती है। आदर्श काव्यों में तो आलम्बन आश्रय का ही नहीं वरन् पाठक या श्रोता मात्र का आलम्बन हो जाता है। रस प्रधान यथार्थवादी काव्यों में भी कवि की अनुभूति इतनी सामाजिक कोटि की होती है कि उससे पाठक मात्र का साधारणीकरण हो जाता है। रस में साधारणीकरण का सिद्धान्त लोक हृदय की सामान्य

अन्तर्भूमि पर अवलम्बित है। इसी कारण साधारणीकरण की प्रक्रिया से सहृदय पाठक रस में मग्न होकर अपनी पृथक् सत्ता को भूल कर संसार के द्वन्द्वात्मक भावों की अनुभूति स्वार्थमुक्त रूप में करता है; अपने वैयक्तिक स्वार्थों की संकुचित सीमा से उठकर लोक सामान्य भावभूमि में विचरण करने लगता है। रसानुभूति पाठक या श्रोता के हृदय को मानवता की उच्च भूमि पर पहुँचाती है, जहाँ वह जाति धर्म देश काल की सीमा से ऊपर उठ कर मानव मात्र के सुख-दुख, हर्ष-क्लेश, विजय-हार का स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करता हुआ अपने हृदय को विश्व-हृदय में परिणत होता हुआ पाता है। विभिन्न रसों के स्थायी भावों का सम्बन्ध मानव मात्र से है अतः उन भावों से युक्त मनुष्य कविता या कला में उन्हें पाकर आनन्दित हो उठता है। ताजमहल को देखकर सभी देशों तथा सभी कालों के लोग आनन्दित होते हैं; शकुन्तला नामक नाटक के भावों का आस्वादन संस्कृत भाषा जानने वाले सभी देशों के सहृदय करते हैं; शेक्सपीयर के मैकबेथ का आनन्द अंग्रेजी जानने वाले हमारे देश के लोग भी लेते हैं; 'अरब की हजारों रातें' सभी देशों तथा कालों के सहृदयों को प्रभावित करती है। सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो; जो सृष्टि की अनेक विशेषताओं, विभिन्नताओं एवं विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को पहचान सके। इसी लोक हृदय में सामाजिक कवि के हृदय के मग्न होने की दशा का नाम रस-दशा है। रस-दशा के समय सामाजिक का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है; उसका अलग हृदय नहीं रहता; उसकी व्यक्ति सत्ता का परिहार हो जाता है। अर्थात् काव्य में वर्णित भावों, विचारों, आदर्शों या चित्रों को सामाजिक स्वार्थबद्ध रूप में नहीं देखता, अपनी कल्याणवासना या लाभेच्छा से आसक्त होकर उसमें मग्न नहीं होता वरन् शुद्ध मुक्त एवं तटस्थ रूप में उनका आस्वादन करता है। अपने वैयक्तिक व्यवसाय-लाभ वाले विकट कर्म की ओर किसी व्यक्ति का उत्साह रसात्मक नहीं होगा। पर लोक मंगलकारी या सामाजिक कल्याणकारी कर्म के प्रति उत्साह

रसात्मक कोटि का होगा। रौद्र रस में आलम्बन का चित्रण जब तक इस रूप में नहीं होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-प्रदर्शक मात्र होगा। रस में लोकसत्तात्मक (Cosmic) प्रकृति होने के कारण ही कवि या सामाजिक शेष सृष्टि के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध के स्थापन तथा निर्वाह में समर्थ होता है; जगत के विभिन्न रूपों, व्यापारों, तथ्यों, भावों तथा विचारों के साथ सामंजस्य-स्थापन में समर्थ होता है; रसानुभूति की इसी विशेषता के कारण सामाजिक तथा कवि जगत के साथ तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होते हैं; इसी कारण कविता मनुष्य की स्वार्थमयी पशुवृत्ति को उदात्त करती है, भावात्मक सत्ता का प्रसार करती है, मनुष्यता की रक्षा में समर्थ होती है, व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति कराती है, बुद्धि की प्रक्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमिका पर पहुँचता है उसी भूमि पर रसानुभूति द्वारा हमारा हृदय भी पहुँचता है[1]। इसी विशेषता के कारण रस लोकोत्तर या ब्रह्मानन्द सहोदर कोटि का कहा जाता है। इसके लोकोत्तर होने का तात्पर्य इस जगत से सम्बन्ध न रखने वाली कोई स्वर्गीय वस्तु नहीं है।

रसानुभूति की प्रकृति मनुष्य की आदर्शात्मक प्रकृति से मिलती है। मनुष्य की आदर्शात्मक प्रकृति भेद से अभेद की ओर, एक से अनेक की ओर ले जाती है, उसमें क्रमशः हृदय-प्रसार होता है। रसानुभूति भी हृदय-प्रसार की प्रतीक मानी जाती है। रसानुभूति में हमारा जीवन कई गुना बढ़ कर संसार में व्याप्त हो जाता है; हमारे भावों एवं मनोविकारों का क्षेत्र कई गुना विस्तृत हो जाता है; हमारे हृदय में प्राणिमात्र से सहानुभूति रखने की क्षमता आ जाती है। जगत की भिन्न भिन्न वस्तुओं में अधिकाधिक ऐक्य का दर्शन कर हम अपने जीवन और जगत के बीच सार्थकता का सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।

---

१ चिन्तामणि—आचार्य शुक्ल

रस, व्यंजना की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है, अतः उसकी प्रकृति व्यंजनात्मक होती है। रस की प्रकृति व्यंजनात्मक होने के कारण ही अभिव्यक्त अंश कवि की अनुभूति अथवा अभिव्यंग्य का एक खण्ड होता है। रस की प्रकृतिगत यही विशेषता काव्य को रमणीयता प्रदान करती है। इसी विशेषता के कारण रस युक्त पदार्थ अभिनव शोभा संवलित हो जाते हैं[१]। सामाजिक, अभिव्यंग्य होने वाले अनेक नवीन विचारों तथा भावों में रम जाता है। क्षण क्षण में अभिनवता को प्राप्त होने वाला अभिव्यंग्य तत्त्व[२] सामाजिक के मन को अन्य अर्थों की ओर से हटा कर अपनी ओर खींच लेता है। रस की व्यंजनात्मक प्रकृति यह स्पष्ट कर देती है कोई सौन्दर्यशाली वस्तु या कृति निरवधि काल तक के लिए आनन्द दायक क्यों सिद्ध होती[३] है। उसमें नवीन दृष्टि एवं अव्यय शोभा क्यों भर जाती है[४]।

व्यंजनात्मक प्रकृति के कारण रस का स्वरूप इतना व्यापक हो जाता है कि काव्य का कोई अंश, पात्र या घटना प्रत्येक युग में एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करती रहती है। वह अंश या पूरी कृति वैयक्तिक, पारिवारिक, नागरिक, सामाजिक, विश्वात्मक आदि अनेक प्रकार के जीवनों का सन्देश सूचित करती रहती है। तुलसी के राम प्रत्येक युग के लिए एक नवीन सन्देश देने में समर्थ हैं। राम के जीवन में कवि ने ऐसा रस भरा है कि उससे वैयक्तिक सामाजिक—सब प्रकार के जीवनों के लिए सन्देश मिलता रहता है।

---

१. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः। (आनन्दवर्धन)

२. क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैतितदेव रूपं रमणीयतायाः।

३. *A thing of beauty is joy for ever*—Keats

४. *Rasa when realized in any form of art transforms the objective to a new vision and invests our perception with inexhaustible charm.* (H. L. Sharma—Gangadhar Jha Research Institute Journal)

व्यञ्जनात्मक प्रकृति के कारण रस में साहचर्य का सिद्धान्त आ जाता है। साहचर्य सिद्धान्त आने के कारण रस में संगति, सन्तुलन, व्यवस्था, अनुपात आदि गुण स्वयमेव आ जाते हैं। व्यञ्जनात्मक प्रकृति रस को सूचकता, नवनवोन्मेषशालीनता, प्रभविष्णुता नामक विशेषताओं से संपृक्त कर देती है। रसाभिव्यक्ति में लोकोत्तरता लाने का एक कारण उसकी व्यंजनात्मक प्रकृति भी है।

रस प्रकृति की सर्वाधिक विशेषता उसकी आनन्दात्मकता है। मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की प्राप्ति। उसके सभी प्रयत्नों के साध्य में ज्ञात या अज्ञात रूप से इन तीनों में से कोई एक तत्त्व अवश्य ही समाहित रहता है अतः सत्यं शिवं अथवा सुन्दरं की अनुभूति के साथ ही कलाकार के अन्तःकरण में आनन्द का एक अलौकिक स्रोत लहराने लगता है। उस आनन्द को जब कलाकार का हृदय समेट नहीं पाता तब वह कला के रूप में मानो बाहर फूट पड़ता है। सत्यं शिवं सुन्दरं से आप्लुत कला के उस अलौकिक रूप को देख, सुन या पढ़कर सभी सहृदयों के मन में आनन्द का स्रोत लहराने लगता है। सभी सहृदयों के मन में भावनाओं का एक ही तार न्यूनाधिक अन्तर से समाया है। अतः सहृदय कलाकृति में अपनेपन को पाकर अथवा भरत मुनि के शब्दों में निज-हृदय-संवाद को पाकर, या भोजराज के शब्दों में अस्मिता का आस्वादन कर, या अभिनव गुप्त के शब्दों में वासना संवाद को प्राप्त कर आनन्दित हो उठता है। रसानन्द वस्तुतः कलाकृति से मानसिक तृप्ति उत्पन्न होने पर सहृदय के मन में उत्पन्न होता है। यह मानसिक तृप्ति क्यों उत्पन्न होती है? इसके भिन्न भिन्न कारण भिन्न भिन्न आचार्यों द्वारा बताये गये हैं। अरस्तू ने रसानन्द या मानसिक तृप्ति का कारण भावशुद्धि (Katharasis) बतलाया तो भरत मुनि ने हृदय-संवाद; भोजराज ने अस्मिता का आस्वादन माना तो अभिनव गुप्त ने वासना-संवाद, भट्टनायक ने साधारणीकृत भावों का आस्वादन समझा तो मम्मट ने अलौकिक चमत्कार; विश्वनाथ ने सत्वोद्रेक माना तो पंडित राजजगन्नाथ ने अज्ञाना-

वरण का अनावरण; वामनराव जोशी ने ज्ञानानन्द माना तो फड़के ने सविकल्पक समाधि; आचार्य शुक्ल ने हृदय की मुक्तावस्था कहा तो किसी अन्य आचार्य ने आत्मा का क्रीड़ात्मक आविष्कार। उपर्युक्त सभी आचार्यों के बताये हुए कारणों में 'सत्यं' 'शिवं' 'सुन्दरं' का ही तत्त्व किसी न किसी रूप में समाया है। पाठक जन मेरे कारण को दार्शनिक कारण मान सकते हैं अतः मैं इन्हीं तत्त्वों को मनोवैज्ञानिक भाषा में रखना आवश्यक समझता हूँ। जब सहृदयों[१] के मन का भावात्मक पक्ष मृदुल ढङ्ग से काम करता है तब वे संतृप्त रहते हैं[२]। अब प्रश्न यह उठता है कि सहृदयों के मन का भावात्मक पक्ष कब मृदुल ढङ्ग से काम करता है? उत्तर है—जब सहृदय के मन में उच्चतर भाव अविरुद्ध एवं संगतिपूर्ण ढङ्ग से कार्य करते हैं[३]; जब उसकी शारीरिक तथा मानसिक क्रियायें स्वस्थकर एवं वैधिकी ढङ्ग से परिचालित होती हैं; जब वह चेतना के वरदान से समन्वित सौन्दर्य का दर्शन कर हृदय के बन्धनों को खुलता हुआ पाता है; जब वह जीवन के सारवान् पदार्थों की प्राप्ति की ओर प्रयत्न करते हुए मानव मन से सुहृद-सम्पर्क स्थापित कर सात्विकता का अनुभव करता है; जब वह जीवन के मर्मों एवं वास्तविकताओं को संसार के कर्मक्षेत्र के भीतर पहचान कर आनन्दित होता है। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि

---

१ सहृदय का अर्थ मनोवैज्ञानिक पदावली में सुव्यवस्थित (Well organised) एवं संश्लिष्ट (Unified) व्यक्तित्व वाला स्वस्थ व्यक्ति है, जिसमें सहानुभूति (Sympathy) का तत्त्व सबसे अधिक रहता है।

२ *When we find that the sentimentative structure of mind is working smoothly then we are mentally satisfied.*

(Hormic Psychology, By P. S. Naidu.)

३ *Happiness arises from the harmoneous operation of higher sentiments of a well organised and unified personality.*

(वही)

रस प्रसङ्ग में आनन्द शब्द का अर्थ व्यक्तिगत सुख-भोग नहीं वरन् आत्मशक्ति की रसनीयता का आनन्द[1] है, स्वाकार[2] से अभिन्न होने का आनन्द है, चित्त के विस्तृत होने का आनन्द है[3], हृदय की मुक्तावस्था[4] का आनन्द है, अलौकिक चमत्कार जन्य आनन्द[5] है। करुण रस प्रधान नाटकों में वस्तुतः दुख का ही अनुभव होता है किन्तु वह दुख दूसरे का होता है इसलिए चित्त विस्तृत हो जाता है। निज के दुख से दुखी होने पर चित्त संकुचित होता है; हृदय में मुक्तिदशा नहीं आती, वह व्यक्तिवद्ध रहता है इसलिए आनन्द नहीं उत्पन्न होता क्योंकि आनन्द के लिए हृदय की मुक्तावस्था आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसी प्रकार वैयक्तिक लाभ या अधिकार सुख अथवा सहज प्रवृत्तियों की साध्य प्राप्ति उत्पन्न सुख से आनन्द परे की वस्तु है। क्योंकि वैयक्तिक सुख में आसक्ति की भावना रहती है, किन्तु रसानन्द में तटस्थता रहती है। सुख सौन्दर्य की भावना से अनुशासित नहीं होता पर रसानन्द सौन्दर्य की भावना से नियन्त्रित होता है। इसमें भावों की क्षुब्धता, क्षिप्रता, चंचलता रहती है किन्तु रसानन्द मनुष्य की स्थायी प्रकृति से सम्बन्ध रखता है अतः इसमें भावों का अत्यधिक वेग या चंचलता नहीं रहती। इस प्रकार रसानन्द सुख दुख की भावना से परे की वस्तु है।

रसानन्द वर्णनीयतन्मयीभवनकोटि (Contemplative Type) का होता है। रसानन्द निर्वैयक्तिक (impersonal) कोटि का होने के कारण सभी सहृदयों को अपने में रमाने की क्षमता रखता है। भावों

---

१. रसनीयतयात्मशक्तेः। हीरालाल शर्मा द्वारा उद्धृत (गङ्गाधर झा रीसर्च इन्सटिच्यूट में)

२. स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः। } (साहित्यदर्पण)

३. सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः। } (साहित्यदर्पण)

४. आचार्य शुक्ल (चिन्तामणि)

५. लोकोत्तरचमत्कार प्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः। (साहित्यदर्पण)

में निर्वैयक्तिकता की जितनी कमी होगी उनमें उतनी ही रसात्मकता की कमी होती जायगी। शुक्ल जी रसानन्द के आस्वादन को भावयोग कहते हैं और उसे कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष रखते हैं। उनकी दृष्टि में उपासना भी भावयोग का एक अंग है। वस्तुत: उपासना का अर्थ उपास्य वस्तु का ध्यान करना ही है। भावयोग में जो वस्तु दूर है उसका वर्णन पढ़ या सुन कर हम उसकी मूर्ति-कल्पना द्वारा अपने मन में लाकर उससे उद्भूत मार्मिक भावों, विचारों, अर्थों, सन्देशों, तथ्यों को अपने मन में लाकर उसमें तन्मय हो जाते हैं। इसी तन्मयता को कुछ आचार्य सविकल्पक समाधि कहते हैं। इस तन्मयता की स्थिति में रसानन्द प्राप्त होता है; अतः वह तन्मयीभवन कोटि का कहा जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि सहृदय में तन्मय होने की शक्ति क्यों और कैसे आती है। सभी सहृदयों के मन में भावनाओं का तार एक सा है। इन्हीं भावनाओं के उदात्त स्वरूप का चित्रण काव्य में रस रूप में रहता है। सभी सहृदय भावनाओं के उदात्त स्वरूप की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे हैं। अत: काव्य में भावनाओं की उदात्तता को देख कर वे उसमें रम जाते हैं। स्थायीभाव हमारे यहाँ पुरुषार्थ साधक माने गये हैं। यदि ये स्थायी भाव सहृदय में न हों तो वह अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न न करे। सहृदय इन पुरुषार्थों के उदात्त स्वरूप का चित्रण काव्य में पाकर इसलिए रमता है कि वह भी इन्हें प्राप्त करना चाहता है। दूसरे शब्दों में इसी बात को हम कह सकते हैं कि हम काव्य में अपने वास्तविकपन को आदर्श एवं कलात्मक रूप में पाते हैं इसलिए रमते हैं।

सहृदय में काव्य में तन्मय होने की शक्ति का नाम अभिनव गुप्त ने 'वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता' रखा है। वर्णनीय में तन्मय होने की योग्यता कल्पनात्मक दृष्टि से आती है। जिसमें कल्पनात्मक दृष्टि नहीं वह रस नहीं ले सकता। जब कोई सहृदय किसी कलाकृति का आनन्द लेता है तब वह अपनी कल्पना शक्ति से उस कृति के विभाव, अनुभाव एवं संचारियों को तथा घटनाओं, परिस्थितियों एवं दृश्यों को सामने

लाने में समर्थ होता है। तदनन्तर उनमें अपने जीवन की अनुरूपता पा कर रमता है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी बात सिद्ध हो गई कि काव्य की रसानुभूति में कल्पना का सबसे अधिक महत्त्व होता है; अथवा इसी को रस-प्रकृति की दृष्टि से कह सकते हैं कि वह कल्पनात्मक प्रकार की होती है। रस दार्शनिक दृष्टि से आत्मिक शक्तियों का भावात्मक स्वरूप है जिससे जीवन में संगति एवं समन्वय की व्यवस्था होती है। इसी कारण रस का वास्तविक दर्शन सत् समन्वय की वास्तविक दृष्टि में निहित माना जाता है। रस विश्व की परमोच्चचेतना का प्रतीक कहा जाता है। विश्व की परमोच्च चेतना में महान ही नहीं, महत्तर एवं महत्तम कोटि के समन्वय समाये रहते हैं; अतः रस में भी महान ही नहीं महत्तर एवं महत्तम कोटि का भी समन्वय निहित माना जायगा। इसी कारण कला अथवा साहित्य द्वारा रस के माध्यम से नवीनतर, महत्तर एवं महत्तम कोटि के समन्वय ध्वनित किये जाते हैं और इसीलिए कला या साहित्य में महत्तर या महत्तम कोटि का दार्शनिक सत्य निहित माना जाता है। रस या आनन्द द्वारा स्थापित भावात्मक समन्वय से काव्य में उदात्तता आती है। इस प्रकार रस की प्रवृत्ति तथा प्रकृति- उदात्त एवं समन्वयात्मक सिद्ध होती है। रस में समन्वयात्मक प्रकृति होने के कारण ही भरत मुनि ने उसे 'हृदय संवादी'[1] माना है तथा मम्मट रस-स्वरूप का निरूपण करते समय रस स्वरूप की अनेक विशेषताओं में एक प्रमुख विशेषता—सब हृदयों का समन्वय भी मानते हैं[2]। भावों के समन्वय की भित्ति पर ही औचित्य सिद्धान्त स्थित है जिसके भङ्ग से रस-भङ्ग होता है। भावों के समन्वय में बहुत से गूढ़ भाव घनीभूत होकर एक सूत्र में ग्रथित हो जाते हैं जिससे रस सृष्टि होती है।

रस की प्रकृति समन्वयात्मक होने के कारण ही कला का सबसे

---

१. योऽर्थो हृदय संवादी तस्य भावो रसोद्भवः (भरत)

२. सकल हृदय संवादभाजाः साधारण्येन (मम्मट)

महत्त्वपूर्ण प्रयोजन आत्मा के विभिन्न स्वरूपों[१] में समन्वय स्थापित करना माना गया है। समाज में प्रत्यक्ष जीवन में रस की समन्वयात्मक प्रवृत्ति एवं प्रकृति की विरोधी शक्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ घृणित भद्दी एवं कुत्सित समझी जाती हैं। उनका विरोध समाज भयानक क्रान्तियों, युद्धों एवं विप्लवों के रूप में करता रहता है। रस में भाव एवं विभाव का विषय एवं विषयी का तथा हृदय एवं बुद्धि का समन्वय आवश्यक है। भाव एवं विभाव पक्ष के सामंजस्य का विवेचन भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावसंचारीभावसंयोगात्‌रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या के अवसर पर रस-प्रक्रिया नामक अध्याय में पर्याप्त मात्रा में हुआ है। अतः पुनरुक्ति के भय से यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि रस में पूर्णतया मग्न होने के लिए यह आवश्यक है कि किसी भाव का कोई विषय (आलम्बन) इस रूप में लाया जाय कि वह सामान्यतः सबके लिए उसी भाव का आलम्बन हो सके; सहृदय मात्र के भावात्मक सत्व पर प्रभाव डाल सके। साधारणीकरण की प्रक्रिया से भाव एवं विभाव का संयोग अथवा समन्वय सरलता से हो जाता है। किसी काव्य में किसी नायक का किसी अत्यन्त कुरूपा नायिका से प्रेम हो सकता है; पर उस कुरूपा स्त्री के वर्णन से श्रृंगार रस का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता; अतः वह वर्णन भाव-व्यंजक मात्र होगा। इसी प्रकार रौद्र रस में किसी दुराचारी पुत्र का सज्जन माता पर क्रोध हो सकता है पर वह वर्णन रौद्र रस का संचार नहीं करा सकता। प्रत्यक्ष जीवन में कुछ आलम्बनों के साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है। ऐसे आलम्बनों के साथ हमारा जैसा भाव रहता है, वैसा ही बहुत से सहृदयों का होता है, तब वे प्रत्यक्ष जीवन में रस निष्पत्ति कराने में समर्थ होते हैं। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में कविता हृदय पर नित्य प्रभाव डालने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने ला कर बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य घटित

---

१. आत्मा के विभिन्न स्वरूपः—वैयक्तिक, सामाजिक एवं विश्वात्मक।

करती है[१]। रस दशा में सृष्टि की बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य दूसरे शब्दों में विषय एवं विषयी का समन्वय ही तो है। रसदशा अनुभूति की वह अवस्था है जिसमें विषयी के मस्तिष्क का प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ सम्बन्ध विषय से स्थापित हो जाता है। सहृदय का व्यक्तित्व विषय (आलम्बन) के मर्मस्थल में प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार विषय एवं विषयी में समन्वय स्थापित हो जाता है, दोनों एक हो जाते हैं।

परिणाम स्वरूप विषय एक विशिष्ट भाव का निर्झर बन कर विषयी के हृदय में रस प्रवाहित करने लगता है। यदि रस-दशा में विषय एवं विषयी में समन्वय न होता तो उस घड़ी में विषयी के व्यक्तित्व का परिहार न होता, उसकी पार्थक्य बुद्धि का लोप न होता। उसका हृदय लोकहृदय न बन पाता। तथा कविता अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ न होती। रसानुभूति के लिए सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण तत्त्व पर-प्रतीति माना जाता है। सहृदय की पर-प्रतीति का अर्थ ही है विषय के साथ विषयी का समन्वय। काव्य योग की उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए सहृदयों को प्रतिक्षण पर पर-प्रतीति होती रहती है इसी कारण वे प्रतिक्षण दूसरों की अनुभूति जानने में समर्थ रहते हैं। रस दशा की ऐसी उच्च स्थिति पर पहुँचे हुए सहृदय किसी का भी आर्त क्रन्दन सुनकर करुणा से विह्वल हो जाते हैं। किसी निरपराधी या निर्बल पर अत्याचार होते देख कर क्रोध से तिलमिला जाते हैं, किसी भी प्राणी की पीड़ा देख कर अश्रुधारा में मग्न हो जाते हैं, किसी भी सत्पुरुष का अपमान देखकर क्षुब्ध हो जाते हैं। क्या मनुष्य, क्या प्रकृति—कहीं भी सौन्दर्य का दर्शन कर मुग्ध हो जाते हैं। काव्य को योग इसीलिए माना गया है कि विषयी विषय के साथ समन्वय के अभ्यास से अपनी आत्मा को विश्वात्मा के रूप में परिणत होता हुआ पाता है। जब यह बात सिद्ध हो गई कि सहृदय का सहृदय रसानुभूति के अभ्यास से सृष्टि के

---

१. 'कविता क्या है' (चिन्तामणि)

विभिन्न विषयों के साथ समन्वय के अभ्यास से लोक हृदय या विश्व हृदय बन जाता है तब यह कहने की विशेष आवश्यकता ही नहीं कि रसानुभूति द्वारा सहृदय सृष्टि के विभिन्न रूपों, विचारों तथा भावों से सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ होता है। रस में हृदय तत्त्व एवं बुद्धि तत्त्व का समन्वय रहता है। रस में किसी वस्तु या विषय के साथ सहृदय का तादात्म्य होता है। विषय के प्रभाव तथा उत्तेजना में हृदय पक्ष काम करता है, विषय के प्रत्याभिज्ञान में बुद्धि तत्त्व कार्य करता है। इस प्रकार साधारणीकरण की स्थिति तक आते आते रसानुभूति में हृदय एवं बुद्धि दोनों का समन्वय हो जाता है। कवि और सामाजिक दोनों को रसानुभूति काल में कल्पना से काम लेना पड़ता है। कल्पना, हृदय और बुद्धि दोनों की अन्तर्वर्तिनी शक्ति है। वह सक्रिय होने के लिए दोनों की ओर देखती है। हृदय एवं बुद्धि दोनों की प्रकृति एवं शक्ति ग्रहण करके वह आगे बढ़ती है। गहरे भाव कल्पना को उत्तेजित करते हैं और दृश्य विधायक रूप सामने लाते हैं। बुद्धि विचारों द्वारा कल्पना को ज्योतिर्मय कर देती है। इस प्रकार रसानुभूति काल में कवि तथा सामाजिक दोनों को हृदय एवं बुद्धि दोनों तत्त्वों की संयोगात्मक क्रिया से काम लेना पड़ता है। रसानुभूति काल में अर्थ (meaning) ही सहृदय को प्रेरित एवं उत्तेजित करते हैं। अर्थ ही सौन्दर्य-रूप में देखे जाते हैं; क्योंकि काव्य में वस्तु या व्यक्ति तो प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित रहते हैं; उनसे व्यंजित अर्थों के लिए ही काव्य पढ़े या अभिनय रूप में देखे जाते हैं। सारवान विचारों की उपस्थिति ही सौन्दर्यात्मक प्रभाव को मूल्यवान बनाती है। पंडित राज जगन्नाथ ने रसको अज्ञानावरण को दूर करने वाला विशिष्ट चैतन्य दर्शन कहा है। साहित्यदर्पणकार ने उसे चिन्मय, लोकोत्तर चमत्कारस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप बतलाया है। भोज ने उसे अस्मितास्वादन रूप माना है। इन आचार्यों के रस स्वरूप सम्बन्धी इन मतों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि रस में बुद्धितत्त्व अनिवार्य रूप से वर्तमान रहता है। रसानुभव वास्तविकता

की दृष्टि प्रदान करता है।[1] इस कथन से भी यही तात्पर्य निकलता है कि रस में बौद्धिक तत्त्व वर्तमान रहता है। अभिनवगुप्त के मत से रसानुभूति काल में तन्मयता का रहना आवश्यक है। रस स्वरूप की कतिपय विशेषताओं—जैसे, तन्मयता या वेदान्तरस्पर्शशून्यता, स्वाकारवदभिन्नता, चिन्मयता आदि से यह ज्ञात होता है कि रसानुभूति एक बहुत मूल्यवान वस्तु है। किन्तु बुद्धि तत्त्व के अभाव में कोई वस्तु मूल्यवान् नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि रस में बुद्धि तत्त्व अवश्यमेव वर्तमान रहता है। रसानुभूति में सहृदय केवल भावना का ही तटस्थ रूप से आस्वादन नहीं करता वरन् विचार (ideas), अर्थ (meanings), मूल्य का भी आस्वादन करता है।[2] यह मत भी इस बात को प्रमाणित करता है कि रस में हृदय एवं बुद्धि दोनों का सामंजस्य रहता है। अभिनवगुप्त निरूपित सहृदय के स्वरूप की दो विशेषतायें—'विशदीभूते मनोमुकुरे' तथा 'हृदयसंवादभाजाः' भी यही सिद्ध करती हैं कि रसानुभूति काल में हृदय एवं बुद्धि दोनों तत्त्व कार्य करते हैं। सच्ची रसानुभूति की घड़ियों में ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है और ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।[3]

समन्वयात्मक प्रकृति के कारण ही रस अपने भीतर काव्य के समस्त प्रयोजनों का समन्वय कर लेता है; वह (रस) प्रगति एवं परम्परा दोनों की रक्षा में योग देता है; पूर्ण के चिन्तन में तल्लीन करता है; समस्त औचित्यों की रक्षा में समर्थ होता है; अपने ध्वनित संदेशों से परिजन, पुरजन, पड़ोसी, सम्बन्धी, देशवासी किम्बहुना प्राणी मात्र के साथ सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता प्रदान करता है।

---

1. *Aesthetic experience gives an insight into reality.*—
(*A Critical survey of Indian Aesthetics—by* H. L. Sharma)

2. *We do not have more feelings in aesthetic experience but also values, meanings and ideas which are enjoyed disinterestedly.*
(*The Nature of Aesthetic Experience—By* D. P. S. Shastri)

३. आचार्य शुक्ल। (चिन्तामणि—प्रथम भाग)

रस प्रकृति की अनेक विशेषताओं में सात्विकता भी उसकी एक प्रमुख विशेषता मानी गई है। रजोगुण एवं तमोगुण से असंस्पृष्ट अन्तः-करण के धर्म को सत्व कहते हैं जो बाहरी विषयों से चित्तवृत्तियों को हटा देता है। अन्तःकरण का यह धर्म रसोपयुक्त विभाव अनुभावादि के परिशीलन से उद्बुद्ध होता है। अन्तःकरण में रजोगुण तथा तमो-गुण के दबने से एवं सत्वगुण के सुन्दर स्वच्छ प्रकाश होने से रस का साक्षात्कार होता है। रस की सात्विक प्रकृति से संकुचित चित्त द्रवीभूत होकर साधारणीकृत भावों में ढलकर विस्तार का अनुभव करता है। सहानुभूति का तत्त्व रस में सात्विकता की विशेषता पैदा करने का मूल कारण है। सहज मनोवृत्तियों की तृप्ति की भावना में राजसी या तामसी गुण निहित रहते हैं किन्तु रस तो सहज मनोवृत्तियों की तृप्ति से पृथक कोटि का है; अतः इसमें सात्विकता रहती है। वैयक्तिक सुख-दुख में आसक्ति की भावना छिपी रहती है किन्तु रसानन्द तो सुख दुख की भावना से परे की वस्तु है; अतः इसमें आसक्ति की भावना नहीं रहती। और जहाँ आसक्ति नहीं रहती वहीं सात्विकता रहती है।

राजसी एवं तामसी वृत्तियों में व्यक्तित्व का परिहार नहीं होता, स्वार्थबद्धता रहती है। रस में व्यक्तित्व का परिहार होता है, हृदय मुक्तदशा में रहता है, वह संकुचित स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है, अतः इसमें सात्विकता अपने आप आ जाती है। रसानुभूति निर्वैयक्तिक कोटि की होती है; इसमें भावों के विशुद्ध रूप का आस्वादन होता है अतः यह सात्विक प्रकार की होती है। सात्विकता का अभाव हुआ कि रसाभास या भावाभास पैदा हुआ।

रस की प्रकृति में विश्व की परम वास्तविकता का पुट रहता है। विश्व की परम वास्तविकता किसी वस्तु, घटना, या वर्ण्य को परम सामा-जिक दृष्टि से देखता है। रस की लोकसत्तात्मक (Cosmic) प्रकृति के विवेचन के समय यह बात पर्याप्त मात्रा में कही जा चुकी है कि रस में परम सामाजिक चेतना वर्तमान रहती है। रस में निहित वास्तवि-कता काव्य के आलम्बनों या घटनाओं के माध्यम से प्रगट होती है इसी

कारण काव्य का नायक हमारे दैनिक जीवन के व्यक्तियों से अधिक वास्तविक प्रतीत होता है। वह वास्तविकता का रहस्य सूचित करता हुआ ज्ञात होता है। मानस के सीता और राम सामान्य जीवन के स्त्री-पुरुष से अधिक वास्तविक हैं। राम और सीता दोनों विश्व की परम वास्तविकता के प्रतीक रूप में चित्रित किए हुए जान पड़ते हैं। इसे कवि ने भी प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है।

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा—
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

राम सृष्टि के अशेष कारण स्वरूप हैं जिनकी माया के वश में ब्रह्मादि देवता तथा राक्षस दोनों हैं। जिनकी सत्ता के ज्ञान से सारा संसार रज्जु में सर्प के भ्रम के समान मिथ्या प्रतीत होता है। जिनका चरण, संसार रूपी सागर को पार करने के लिए एक मात्र नौका है। रामके लिए उपर्युक्त प्रयुक्त प्रत्येक विशेषण इस बात की सिद्ध कर रहा है कि वे जीवन की परम वास्तविकता के प्रतीक हैं। इसी प्रकार सीता भी जगत की वास्तविक शक्ति की प्रतीक हैं।

कवि अपनी कल्पना शक्ति से अनुभूति वेला में जगत के वाह्य विषयों को सामान्य दृष्टि से वहुत अधिक सूक्ष्म रूप में देखता है; उनके अन्तराल में प्रविष्ट हो जाता है, उनके इन्द्रियगोचर रूप से परे पहुँच जाता है। उन विषयों के इन्द्रियगोचर रूपों से परे पहुँचने की प्रक्रिया में कवि अपनी चेतना द्वारा उनका रूप इतनी अधिक मात्रा में परिष्कृत एवं परिवर्तित कर देता है मानो उसने उनकी स्वतंत्र सत्ता एवं स्वतंत्र वाह्य रूप को विलकुल अस्वीकार कर दिया है। कवि का यह अस्वीकरण इस वात को सिद्ध करता है कि विषय की वाह्य आकृति एवं प्रकृति केवल उसके आंशिक सत्य को प्रगट करने में समर्थ थी। ऐसा जान पड़ता है कि कवि को उस वस्तु के वाह्य ढाँचे या रूप में कोई विशेष रुचि नहीं थी। उसकी मुख्य रुचि विषय से ध्वनित या प्रादुर्भूत सिद्धान्त से

थी और इसी कारण उस विषय को अपनी कल्पना के सहारे इतने पूर्ण रूप में चित्रित करने का प्रयत्न करता है कि उसकी रुचि वाले सारे सिद्धान्त उस चित्रित विषय से ध्वनित हो जायँ। विषय के इसी पूर्णत्व का प्रत्यभिज्ञान कवि का उद्देश्य रहता है और इसी पूर्णत्व की दृष्टि से वह वस्तुओं को देखने तथा अनुभव करने का प्रयत्न करता है। तुलसी के राम का स्वरूप इसी पूर्णता को व्यंजित करता है। यह पूर्णता कवि को उन पुराणों इतिहासों अथवा काव्यों से प्राप्त नहीं हुई थी जो मानस के स्रोत ग्रन्थ माने जाते हैं वरन् वह कवि की चेतना की उपज है। किसी वस्तु की पूर्णता के प्रत्यभिज्ञान काल में कवि की चेतना का साधारणीकरण विश्व चेतना से हो जाता है अतः वह उस वस्तु को अपनी वैयक्तिक स्वार्थ दृष्टि से नहीं देखता वरन् विश्वात्मक या सामाजिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है। विश्वात्मक या सामाजिक दृष्टि रखने के कारण ही वह उस वर्ण्य वस्तु की वास्तविकता को पकड़ लेता है उसके मार्मिक संदेश को ग्रहण कर लेता है। यदि रसानुभूति वास्तविकता की दृष्टि नहीं प्रदान करती है तो इसका तात्पर्य यही है कि कलाकार की अनुभूति वैयक्तिक कोटि की है, व्यक्तिवैचित्र्य से भरी है और सामाजिक को उसकी कृति के पठन, श्रवण या अभिनय-दर्शन द्वारा उसके रहस्यमय अन्तरावलोकन का अवसर मिलता है। पर कवि का व्यक्तिवैचित्र्यमय वैयक्तिक जीवन जिसका सहृदय के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, किसी को प्रभावित कैसे करेगा? किसी को रुचिकर कैसे प्रतीत होगा? हम उसे जानने की इच्छा ही क्यों करेंगे क्योंकि वह हमारे किसी प्रयोजन का नहीं है।

किन्तु यदि हम कवि की रसानुभूति में रुचि लेते हैं, रमण करते हैं, आनन्द पाते हैं तो इसका तात्पर्य यही है कि कवि-चित्रित सौन्दर्य से ऐसे रमणीय विचार, भाव, सिद्धान्त उद्भूत होते हैं जो हमारे लिए बहुत ही उपयोगी होते हैं; हमारी बुद्धि, कल्पना एवं भावना को संतृप्त करते हैं, हमारे आदर्श एवं सिद्धान्त के अनुकूल होते हैं। इसीलिए यह बात कही जाती है कलाकृति में चित्रित सौन्दर्य का स्वरूप, बाह्य जगत के

सौन्दर्य से अधिक वास्तविक होता है। तभी तो हम रसानुभूति के क्षणों में सभी बातों को भूल ऐसे तन्मय हो जाते हैं मानो जीवन की सभी समस्यायें सुलझ गई हैं, हम ऐसे प्रकाश का अनुभव इस मार्मिक रूप में करते हैं मानो अज्ञान का सारा आवरण उस काल के लिए दूर हो गया है; उन क्षणों के भाव एवं विचार इतने सुन्दर, स्वयं में पूर्ण, महत्त्वशाली एवं प्रभविष्णु प्रतीत होते हैं कि जीवन की वास्तविकता एक विशिष्ट रूप में अनावृत्त सी प्रतीत होती है। कवियों को क्रान्त-दर्शी एवं मंत्रद्रष्टा कहने का भी यही अर्थ है कि रसानुभूति में जीवन की वास्तविकता छिपी रहती है। काव्य के प्रयोजन—शिवेतररक्षा, सद्यः परिनिर्वृत्ति आनन्द कान्तासम्मितउपदेश भी इस बात को प्रमाणित करते हैं कि कवि की अनुभूति में वास्तविकता छिपी रहती है अन्यथा काव्य अशिव से रक्षा न कर पाता, तुरत आनन्द न दे पाता तथा कान्ता-सम्मित उपदेश देने में भी समर्थ न हो पाता।

रस की प्रकृति एवं स्वरूप को जानने के लिए रस के अधिकारी (सहृदय) के स्वरूप एवं प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। रस के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने तथा अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय की जो विशेषतायें बताई हैं उनसे उसके स्वरूप एवं प्रकृति का ज्ञान हो जाता है। अतः भरत मुनि एवं अभिनवगुप्ताचार्य निरूपित सहृदय की विशेषतायें यहाँ दी जा रही हैं—

प्रथम भरत निरूपित सहृदय की विशेषतायें देखिए:—

चारित्राभिजनोपेताः शान्तिवृत्त श्रुतान्विताः।
यशोधर्मरताश्चैव मध्यस्था वयसान्विताः
षडङ्गनाट्यकुशलाः प्रबुद्धाः शुचयः समाः।
चतुरातोद्यकुशला नेपथ्यज्ञाः सुधार्मिकाः।
देशभाषा विधानज्ञाः कलाशिल्प विचक्षणाः।
चतुराभिनयज्ञाश्च सूक्ष्मज्ञा रस भावयोः।
शब्दच्छन्दोविधानज्ञाः नानाशास्त्र विचक्षणाः।
एवं विधास्तु कर्तव्याः प्रेक्षका नाट्यदर्शने।

अव्यग्रैरिन्द्रियैः शुद्ध ऊहापोह विशारदः।
व्यक्तदोषोऽनुरागी च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः।
यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः॥

सहृदय में आभिजात्य वृत्ति होनी चाहिए। उसकी प्रकृति में शान्ति का निवास हो। वह बहुश्रुत एवं बहुपठ हो। यश, धर्म में रत रहने का उसका स्वभाव हो। वह तटस्थ प्रकृति का हो। वह अवस्था में भी अधिक हो जिससे जगत एवं जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति रखता हो। षडङ्ग अर्थात् कल्प, निरुक्त, व्याकरण, शिक्षा, छन्द एवं ज्योतिष का ज्ञान रखता हो। नाट्य अर्थात् अभिनय में कुशल हो। वह सदा जागरूक एवं पवित्र वृत्ति रखता हो। आतोद्य आदि वाद्यों के प्रयोग में निपुण हो, उनके मर्म को जानता हो। वह पात्रों के वेशभूषा अलंकार सजावट का ज्ञान रखता हो, उसे धार्मिक चरित्र का होना आवश्यक है। उसे देश की राष्ट्रभाषा साहित्यिक भाषा एवं विभाषाओं से भी परिचित होना चाहिए। उसे कलाशिल्प का भी ज्ञान होना आवश्यक है। उसे रंगमंच का ज्ञान हो। वह रस एवं भाव के सूक्ष्म भेद को जानता हो। वह शब्द एवं छन्द के विधान की कला को जानता हो। उसे नाना शास्त्रों का सामान्य ज्ञान हो। वह अव्यग्र स्वभाव का हो। वह किसी वस्तु के तटस्थ मूल्याङ्कन में दक्ष हो। वह किसी वस्तु के गुण प्रदर्शन में ही नहीं वरन् दोष दिखाने में भी रमता हो। जो जगत के सुखात्मक दृश्यों परिस्थियों एवं भावों में तुष्टि पाता हो एवं शोक सम्बन्धी घटनाओं, दृश्यों में शोक पाता हो तथा जो समाज के दैन्य को देख कर दीनता का अनुभव करता हो वह नाटक के प्रेक्षक होने का अधिकारी है।

अब अभिनवगुप्त निरूपित सहृदय के स्वरूप को देखिये—येषां काव्यानुशीलनाभ्यासविशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता ते हृदय संवादभाजः सहृदयाः। (लोचन)

इसकी व्याख्या पहले कई बार हो चुकी है अतः यहाँ पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं। उक्त दोनों आचार्यों द्वारा निरूपित सहृदय के स्वरूप को देखकर अब यह स्पष्ट हो गया कि रस केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं, केवल दिल बहलाने की हलकी वस्तु नहीं, कोई तमाशे की अद्भुत चीज़ नहीं। यह उपर्युक्त विशेषताओं से रहित साधारण जन के आस्वादन की वस्तु नहीं, वह कोरी कल्पना की कृति नहीं, वह कोरी भावुकता की सृष्टि नहीं, उसमें तो मनुष्यता की उच्च भूमि आनन्द से लहरा रही है, उसमें जीवन की उच्च वास्तविकतायें ज्योतिर्मय हो रही हैं। उसमें स्वस्थ सौन्दर्य विभासित हो रहा है, उसमें अनुभूति का उदात्त स्वरूप प्रतिविम्बित हो रहा है। उसमें जीवन की परिभाषा स्पष्ट हो रही है, जगत की गंभीर समस्यायें सुलझाव पा रही हैं, उसमें अवगाहन करने से जीवन के अनेक मानसिक रोग अपसारित होते हुए प्रतीत हो रहे हैं। अतः वह एक गंभीर, ठोस, मूल्यवान, स्थायी एवं आनन्दमयी वस्तु है। ऐसे रस के स्वरूप का सान्निध्य जो प्राप्त नहीं करता, वह अभागा है, पुच्छ विषाण रहित पशु है।

रसप्रक्रिया

रस निष्पत्ति-प्रक्रिया के आवश्यक उपादानों—स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का विवेचन हो चुका है। इस सामग्री से प्रेक्षक या पाठक में रस कैसे उत्पन्न होता है, इसका विश्लेषण आगे किया जायगा। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से रस कैसे उत्पन्न होता है, इस पर भरत मुनि का प्रसिद्ध रस-सूत्र "विभावानुभाव संचारीभाव संयोगात्-रस निष्पत्तिः" प्रकाश डालता है। भरत के इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' इन्हीं दो शब्दों पर टीकाकारों में मतभेद उत्पन्न हुए। अतएव भरत की दृष्टि में इन दोनों शब्दों का क्या अर्थ है—यह जान लेना आवश्यक है। भरत मुनि ने 'संयोग' शब्द का अर्थ 'उपगताः' लिया है और 'उपगत' का शाब्दिक अर्थ है निकट जाना।[1] अब प्रश्न यह उठता है कि कौन किसके निकट जाया जाता है। विभावादिकों के समीप स्थायी भाव आता है अर्थात् विभावादिकों की उपयुक्त सामग्री से सुपुप्त स्थायी भाव जाग्रत होकर रसस्थिति को प्राप्त होता है।

अब रससूत्र के निष्पत्ति शब्द को लीजिए। भरत के ही वाक्यों से यह स्पष्ट प्रगट होता है कि निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है न कि उत्पत्ति :—

एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपंचाशद्भावाः प्रत्यवगतव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।

ऊपर कहे हुए ४९ भाव काव्य में रस की अभिव्यक्ति के कारण समझे जाने चाहिए। इन तीनों की सहायता से रस की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः विभाव, अनुभाव तथा संचारी की सहायता से रस

---

१. नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।

(नाट्यशास्त्र)

नामक किसी नयी वस्तु का जन्म नहीं होता वरन् पहले से ही वर्तमान परन्तु सुपुप्त अवस्था में पड़ी कोई वस्तु इन तीनों की सहायता से विकसित होकर अभिव्यक्त होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि विकसित होकर रसत्व को प्राप्त होने वाली वह वस्तु कौन सी है?

इस प्रश्न का उत्तर भी भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में मिल जाता है। भरत कहते हैं कि विभावों से जाग्रत एवं सात्विक और व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।[1] व्यभिचारी भाव अस्थिर मनोवृत्तियाँ हैं एवं स्थायीभाव स्थिर मनोवृत्तियाँ। सात्विक भाव एवं अन्य अनुभाव स्थायीभाव के रस रूप में पहुँचने के लक्षण हैं। भरत मुनि ने स्थायी भाव को राजा और शेष को उसका परिचारक बतलाते हुए इस बात को और पुष्ट कर दिया है। जिस प्रकार सभी मनुष्यों के आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि शरीर में समानता होते हुए भी उनमें से कोई एक कुल, शील, विद्या आदि विशेषता से युक्त पुरुष ही राजा होने की क्षमता रखता है और शेष दूसरे अल्पबुद्धि पुरुष उसके अनुचर होते हैं। उसी प्रकार विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव परिजन के समान स्थायी भाव के आश्रित होते हैं और स्थायीभाव सबका स्वामी होता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि परिजनों से घिरा हुआ राजा रूपी स्थायी भाव ही रस संज्ञा प्राप्त करता है।[2]

१—एवं नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावारसत्वमाप्नुवन्ति।

(नाट्यशास्त्र)।

२—यथाहि समानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरसमानाः समानप्रत्यया अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वयुक्ता राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैवचा-न्येऽल्पबुद्धयस्तेपामनुचराभवन्ति तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी-भावो रसनामलभते नरेन्द्रवत्।

अब प्रश्न यह होता है कि रस-निष्पत्ति किसके लिए होती है। रस का आस्वादन कौन करता है[1]। भरत का उत्तर यह स्पष्ट कहता है कि रस सहृदय प्रेक्षक में उत्पन्न होता है। नाटक में रसास्वादन सहृदय सामाजिक करता है और यह आस्वादन सहृदय में सुषुप्त स्थायी भाव की अभिव्यक्ति में निहित है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि रसास्वादन की योग्यता सहृदय प्रेक्षक में ही रहती है। भरत द्वारा प्रयुक्त 'सुमनसः' विशेषण इस बात को स्पष्ट कर देता है कि उसका हृदय विशाल रहता है। सभी स्थायी भाव उसके अन्तःकरण में सुषुप्तावस्था में रहते हैं। वह सहानुभूतिपूर्वक नाटक को देखता है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि जब कुशल अभिनेता रंगमंच पर अनुकार्य के भिन्न भिन्न कार्यों एवं मानसिक अवस्थाओं का अभिनय करते हुए सहृदय सामाजिक के हृदय-संवादी-भावों एवं अर्थों द्वारा उसके स्थायी भाव को क्रमशः जाग्रतः उद्दीप्त एवं विकसित और पुष्ट करते हैं तब रस की अभिव्यक्ति होती है। अब भरत मुनि के रससूत्र के भीतर निहित रस-प्रक्रिया की व्याख्या यों की जा सकती है। सहृदय प्रेक्षक के सुषुप्त स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी के संयोग से रसत्व को प्राप्त होकर आनन्ददायी प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार लवण, मरिच, अम्ल, गुड़ आदि अनेक प्रकार के औषधि द्रव्यों के संयोग से एक प्रकार का स्वादिष्ट आपानक बन जाता है उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत की दृष्टि में रस अपने भिन्न भिन्न उपादानों की संस्थिति मात्र से ही उत्पन्न नहीं होता वरन् सब तत्त्वों की संश्लिष्ट स्थिति (organic unity) से अभिव्यक्त होता है। भरत की रस-प्रक्रिया के सूत्र में संक्षिप्तता एवं गूढ़ता होने के कारण ही टीकाकारों की व्याख्या में अनेक भेद हुए। भरत सूत्र के 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' शब्द पर अनेक मतमतान्तर मिलते

---

१. आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकः।

हैं। भरत के रससूत्र के टीकाकारों की व्याख्याओं में मतभेद के ३ मुख्य कारण थे।

१—सूत्र के भीतर प्रयुक्त 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' शब्दों की गूढ़ता।

२—टीकाकारों का अपने भिन्न-भिन्न दार्शनिक मतों की दृष्टि से रससूत्र की व्याख्या करने का प्रयत्न करना[1]।

३—टीकाकारों के सम्मुख रस के दो विभिन्न स्वरूपों का रहना[2]।

'संयोग' और 'निष्पत्ति' को लेकर चार भिन्न-भिन्न मत खड़े हुए। रस-प्रक्रिया को ठीक समझने के लिए इन चारों मतों का ज्ञान आवश्यक है। तिथिक्रम से वे मत इस प्रकार हैं:—(१) भट्टलोल्लट का रसोत्पत्तिवाद (२) श्री शंकुक का रसानुमितिवाद (३) भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा (४) अभिनव गुप्त का रसाभिव्यक्तिवाद।

उत्पत्तिवाद

क्रम के अनुसार सर्वप्रथम भट्टलोल्लट के रसोत्पत्तिवाद पर विचार करना चाहिए। इनकी दृष्टि में भरत के रस-सूत्र में 'संयोग' का अर्थ है सम्बन्ध। अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव—तीनों के साथ स्थायीभाव का सम्बन्ध। स्थायीभाव और विभाव में उत्पाद्य—उत्पादक भाव होता है क्योंकि विभाव के संयोग से स्थायीभाव उत्पन्न होते हैं[3]।

१—भट्टलोल्लट ने मीमांसा दर्शन की दृष्टि से, शंकुक ने नैयायिक की दृष्टि से, भट्टनायक ने सांख्य मत की दृष्टि से एवं अभिनव गुप्त ने वेदान्त मत की दृष्टि से रस को समझाने का प्रयत्न किया है।

२—भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक के सम्मुख नाट्य रस था। अभिनव गुप्त ने रस की व्याख्या के समय नाट्यरस एवं काव्यरस दोनों को सामने रखा है।

३—स्थायिनः विभाव संयोगात् जनिताः।

अनुभाव उस उत्पन्न हुए भाव का अनुमान कराते हैं[१]। अतः दोनों में संयोग का अर्थ है अनुमाप्य—अनुमापक सम्बन्ध। व्यभिचारी, स्थायी भाव के पोषक होते हैं[२]। अतः स्थायी और व्यभिचारी दोनों में पोष्य-पोषक सम्बन्ध है। इनके मत से भरत ने निष्पत्ति का अर्थ लिया है उत्पत्ति। इसी लिए इस मत का नाम उत्पत्तिवाद पड़ा। विभावों की सहायता से अनुकार्यों (पात्रों) में रत्यादि स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं[३]। अनुभाव के सम्बन्ध से निष्पत्ति का अर्थ है अनुमिति। दुष्यन्तादि का अभिनय करने वाले नटों के अनुभावों से सामाजिक उनमें स्थायी भाव की उत्पत्ति का अनुमान कर लेते हैं। व्यभिचारी भाव के सम्बन्ध से निष्पत्ति का अर्थ है पुष्टि। इस प्रकार सूत्र का अर्थ हुआ—विभावादि की सहायता से उत्पन्न तथा अनुभावादि की सहायता से अनुमित स्थायी भाव ही व्यभिचारी भावों की सहायता से पुष्ट होकर रसत्व को प्राप्त होता है। इस प्रकार स्थायी भाव ही अनुकार्य में रस रूप में उत्पन्न होते हैं। अभिनय में कुशल नट अनुकार्य की वेश-भूषा, आकृति, क्रिया आदि द्वारा ऐसा अभिनय करता है कि प्रेक्षक को नट (अनुकर्ता) में ही अनुकार्य का भान होने लगता है और वह उस अनुकर्ता में ही रस की उत्पत्ति का आरोप करने लगता है। मूलतः रस उत्पन्न होता है अनुकार्य के जीवन में। अनुकर्ता में तो रसोत्पत्ति का आरोप किया जाता है। अनुकर्ता अनुकार्य से भिन्न है, परन्तु अभिनय-कौशल-जन्य रूप, आकृति; क्रिया, वेश आदि की समानता के कारण यह आरोप किया जाता है। इस वाद में स्थायी भाव वासना-रूप में नायक में ही माना गया है, प्रेक्षक में नहीं। इसी लिए इसमें प्रेक्षक या वाचक के आनन्द का विश्लेषण नहीं किया गया।

१—अनुभाव संयोगात् प्रतीताः।

२—व्यभिचारी संयोगात् पुष्टाः।

३—अनुकार्ये रसत्वेन उत्पद्यन्ते।

नट की आकृति, वेशभूषा, अभिनय-कौशल आदि से प्रेक्षक इतना चमत्कृत हो जाता है कि वह कियत्काल के लिए यही अनुभव करने लगता है कि शकुन्तला से प्रेम करनेवाला यह दुष्यन्त ही है (नट नहीं)। यह मिथ्याज्ञान या भ्रम ही उसके आनन्द का कारण होता है। वस्तुतः न तो वह दुष्यन्त है; और न दुष्यन्त—शकुन्तला के अभिनय करनेवाले नट और नटी में परस्पर प्रेम ही उत्पन्न होता है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प के आरोप से भय उत्पन्न होता है उसी प्रकार यह आरोपित 'रस' भी सामाजिक के आनन्द का कारण होता है। सीतादि विभावों के कारण राम के मन में रतिभाव, परस्पर दर्शनोत्कंठा, हर्ष आदि व्यभिचारियों से पुष्ट होकर शृंगार रस के रूप में परिणत होकर कटाक्ष, हाव, भाव आदि अनुभावों द्वारा ज्ञापित होता है। नट अपनी वेशभूषा से सुसज्जित होकर राम सदृश व्यवहार करता है। उसके इस अभिनय कौशल के कारण प्रेक्षक नट को ही राम समझ लेते हैं। नट के ऊपर रामत्व के आरोप के कारण ही प्रेक्षक को आनन्द मिलता है।

भट्टलोल्लट के मत का निष्कर्ष :—इनके मत में विभावादि कारण हैं तथा रस कार्य ये प्रेक्षक में रस की प्रतीतिमात्र मानते हैं। रस का वास्तविक आनन्द नायक नायिका को ही मिलता है। सामाजिक के हृदय में नट और नटी के माध्यम से रस की प्रतीति भर होती है। इनके विचार से नायक नायिका का रस है वास्तविक और सामाजिक का अपरा-गत (second hand)। भट्टलोल्लट के मत में रस का मूल तत्त्व सहानुभूति है। ये रस या काव्यसौन्दर्य को आत्यन्तिक दृष्टि से वस्तुपरक (objective) मानते हैं। इनकी दृष्टि से विषय में ही रस उत्पन्न करने की शक्ति है। उत्पत्तिवाद के अनुसार रस वाच्य होता है व्यंग्य नहीं। इसी कारण उत्पत्तिवादी तात्पर्यवादी माने जाते हैं।

उत्पत्तिवाद को, मीमांसावाद भी कहते हैं। इस वाद के आविष्कर्ता मीमांसक थे। मीमांसा दर्शन में यज्ञादि कर्मकाण्ड की प्रधानता रहती है। यज्ञ के सिद्धान्त से मीमांसकाचार्य भट्टलोल्लट ने रस-सिद्धान्त को निकालने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार यज्ञ में कर्म करनेवाले

अनुभाव उस उत्पन्न हुए भाव का अनुमान कराते हैं[१]। अतः दोनों में संयोग का अर्थ है अनुमाप्य—अनुमापक सम्बन्ध। व्यभिचारी, स्थायी भाव के पोषक होते हैं[२]। अतः स्थायी और व्यभिचारी दोनों में पोष्य-पोषक सम्बन्ध है। इनके मत से भरत ने निष्पत्ति का अर्थ लिया है उत्पत्ति। इसी लिए इस मत का नाम उत्पत्तिवाद पड़ा। विभावों की सहायता से अनुकार्यों (पात्रों) में रत्यादि स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं[३]। अनुभाव के सम्बन्ध से निष्पत्ति का अर्थ है अनुमिति। दुष्यन्तादि का अभिनय करने वाले नटों के अनुभावों से सामाजिक उनमें स्थायी भाव की उत्पत्ति का अनुमान कर लेते हैं। व्यभिचारी भाव के सम्बन्ध से निष्पत्ति का अर्थ है पुष्टि। इस प्रकार सूत्र का अर्थ हुआ—विभावादि की सहायता से उत्पन्न तथा अनुभावादि की सहायता से अनुमित स्थायी भाव ही व्यभिचारी भावों की सहायता से पुष्ट होकर रसत्व को प्राप्त होता है। इस प्रकार स्थायी भाव ही अनुकार्य में रस रूप में उत्पन्न होते हैं। अभिनय में कुशल नट अनुकार्य की वेश-भूषा, आकृति, क्रिया आदि द्वारा ऐसा अभिनय करता है कि प्रेक्षक को नट (अनुकर्ता) में ही अनुकार्य का भान होने लगता है और वह उस अनुकर्ता में ही रस की उत्पत्ति का आरोप करने लगता है। मूलतः रस उत्पन्न होता है अनुकार्य के जीवन में। अनुकर्ता में तो रसोत्पत्ति का आरोप किया जाता है। अनुकर्ता अनुकार्य से भिन्न है, परन्तु अभिनय-कौशल-जन्य रूप, आकृति; क्रिया, वेश आदि की समानता के कारण यह आरोप किया जाता है। इस वाद में स्थायी भाव वासना-रूप में नायक में ही माना गया है, प्रेक्षक में नहीं। इसी लिए इसमें प्रेक्षक या वाचक के आनन्द का विश्लेषण नहीं किया गया।

१—अनुभाव संयोगात् प्रतीताः।

२—व्यभिचारी संयोगात् पुष्टाः।

३—अनुकार्ये रसत्वेन उत्पद्यन्ते।

(७) अनुकार्य के लौकिक दुख से दुख ही मिलता है तो फिर नायक के करुणादि दुखात्मक भावों से प्रेक्षक को आनन्द कैसे मिलेगा ?

(८) यदि रस अनुकार्यों के ही जीवन में रहता है तो फिर रंगमंच पर उनके अभाव में नाटक के अभिनय से प्रेक्षक को आनन्द नहीं मिलना चाहिए पर अभिज्ञान शाकुन्तल आदि नाटकों के अभिनय से प्रेक्षकों को आनंद की प्राप्ति आज भी हो रही है।

उत्पत्तिवाद की परीक्षा 'अनुकर्ता की दृष्टि से'—अनुकर्ता वेशभूषा, वाणी, क्रिया इत्यादि वाहरी वातों का अनुकरण कर सकता है और उनके द्वारा भावों की सूचना भी दे सकता है किन्तु भावों का अनुभव-जन्य अनुकरण संभव नहीं, क्योंकि अनुकार्य के विभावादि अनुकर्ता के विभावादि नहीं हो सकते; इसीलिए वह भावों का अनुभव जन्य अनुकरण करने में समर्थ नहीं हो सकता। दूसरी वाधा भावों के अनुभव-जन्य अनुकरण में यह है कि अनुकर्ता को जिस भाव की अनुभूति ही न हो उसका भाव-जन्य अनुकरण वह कैसे करेगा ? कोई भी नट यह कहता हुआ नहीं पाया जाता कि वस्तुतः नाटक के भावों की उत्पत्ति उसमें होती है। अतः नट के आनन्द से सामाजिक को भी आनन्द हो ही—यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

प्रेक्षक की दृष्टि से भी उत्पत्तिवाद में कई दोष दिखाई पड़ते हैं। (१) जिसमें स्थायी भाव रहेगा उसी में रस उत्पन्न होगा और उसीको उसका आनन्द प्राप्त होगा; किसी तीसरे में ऐसा होना संभव नहीं। प्रेक्षक में रस या आनन्द की निष्पत्ति मानने के लिए उसमें स्थायी भाव की उपस्थिति भी होनी चाहिए। दुष्यन्त आदि में उद्भूत रति का आस्वादन दर्शक कैसे कर सकता है ? यह कहना कि नट नटी में दुष्यन्त शाकुन्तला का आरोप ही प्रेक्षकों को रस का आस्वादन करा सकता है वैसा ही है जैसा यह कहना कि महेश को लड्डू खाते देखकर रमेश को भी आनन्द मिल सकता है। जहाँ कारण होगा वहाँ पर कार्य भी होगा। प्रेक्षक में न रति है न विभावादिकारण। तब उसे आनन्द कैसे होगा ?

(२) यदि यह मान भी लिया जाय कि रंगमंच पर प्रेमादि के

अभिनय से प्रेक्षक को आनन्द मिलता है तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि लौकिक दृश्यों—जैसे प्रेम, करुणा, क्रोध आदि के दृश्यों से उनमें वास्तविकता होने के कारण नाटक के कल्पित दृश्यों से अधिकतर आनन्द मिलना चाहिए। पर बात बिल्कुल उल्टी है। सामान्य जीवन के प्रेम, क्रोध, करुण आदि दृश्यों को देखकर सबको आनन्द नहीं मिलता।

(३) रंगमंच पर प्रेम के प्रदर्शन से सामाजिक को प्रेम की अनुभूति होती है—यह कैसे मान लिया जाय; क्योंकि रंगमंच के विभावादि उसके विभावादि नहीं होते; यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि वह मालविका आदि लौकिक नायिकाओं को 'कान्ता' दृष्टि से देखता है तो सीतादि पूज्य नारियों में उसकी यह भावना कैसे मानी जा सकती है।

(४) यदि प्रेक्षक नाटक में प्रेम का दृश्य देखकर नट नटी में ही दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम के आरोप से आनन्दित होता है—यह मान लिया जाय तो शकुन्तला की विदाई, वैदेही-वनवास के दृश्यों को देखकर प्रेक्षक को शोकपूर्ण भावना में निमग्न होना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। नाटक के करुण दृश्यों से भी प्रेक्षक को आनन्द ही मिलता है—यह निर्विवाद बात है। अर्थात् रस-प्रक्रिया में करुणादि भावों तथा दृश्यों से प्रेक्षक को आनन्द कैसे और क्यों मिलता है—इसका उत्तर भट्टलोल्लट ने नहीं दिया। और यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि जिस प्रकार प्रेक्षक रंगमंच पर रति आदि सुखात्मक भावों तथा दृश्यों को देखकर आनन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार शोक आदि दुखात्मक भावों के दृश्यों को देखकर दुख का अनुभव करता है—तो यह भी बात मान्य नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा होने पर प्रेक्षक नाटक देखने कभी नहीं जायगा क्योंकि प्रायः प्रत्येक नाटक में दुखात्मक भाव के दृश्य आते ही हैं। रामादि अलौकिक शक्ति वाले नायकों के असाधारण कार्यों—जैसे, सेतुबंध, धनुर्भङ्ग आदि में प्रेक्षक अक्षम होने के कारण उस समय रामादि के साथ तादात्म्य कैसे स्थापित कर सकेगा? किसी एक काल में किसी एक व्यक्ति, नायकादि में उत्पन्न होने वाला भाव

किसी दूसरे काल में दूसरे व्यक्ति (नटादि) में आरोपित होने की कल्पना से प्रेक्षक को आनन्द कैसे मिल सकता है—इसे भी भट्टलोल्लट ने नहीं समझाया।

अनुमितिवाद

भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद के दोषों तथा आपत्तियों से बचने के लिए श्री शंकुक ने न्याय शास्त्र की अनुमान प्रणाली द्वारा रस-प्रक्रिया की व्याख्या की। इसीलिए इसका नाम अनुमितिवाद पड़ा। इनके अनुसार रस की उत्पत्ति नहीं होती, उसका अनुमान किया जाता है। शंकुक की दृष्टि में भरत-सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' का अर्थ है—ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध या गम्य-गमक सम्बन्ध। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी ज्ञापक या अनुमापक हैं, रस ज्ञाप्य या अनुमाप्य हैं। निष्पत्ति का अर्थ है अनुमिति। मुख्य स्थायी भाव के सदृश, स्थायी भाव प्रेक्षकों को नटादि में उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है। यह प्रतीति सामाजिकों को अनुमान-प्रक्रिया द्वारा होती है और इसी अनुमिति ज्ञान से सामाजिकों को आनन्द मिलता है। यही आनन्द रस है। रस का अर्थ है नट द्वारा अनुकृत स्थायीभाव, जो वास्तविक रूप से नायकादिकों में ही रहता है, प्रेक्षक या नट में नहीं। नट उसका अनुकरण करता है तथा प्रेक्षक अनुमान। शंकुक की दृष्टि में स्थायी भाव और रस में अन्तर है। इनका कहना है कि, नायक की विशिष्ट मानसिक स्थिति का नाम स्थायीभाव है तथा उसकी अनुकृति रस है। अनुकरण रूप होने के कारण स्थायीभाव रस की संज्ञा से अभिहित हुआ।[१] जिस प्रकार चित्रलिखित घोड़ा वास्तविक न होने पर भी घोड़ा

१—"अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायीभावोमुख्यरामादिगत स्थाय्यनुकरणरूपः; अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः"।

(श्री शंकुक—
—अभिनवभारतीय, पृष्ठ २७४)

अभिनय से प्रेक्षक को आनन्द मिलता है तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि लौकिक दृश्यों—जैसे प्रेम, करुणा, क्रोध आदि के दृश्यों से उनमें वास्तविकता होने के कारण नाटक के कल्पित दृश्यों से अधिकतर आनन्द मिलना चाहिए। पर बात बिल्कुल उल्टी है। सामान्य जीवन के प्रेम, क्रोध, करुण आदि दृश्यों को देखकर सबको आनन्द नहीं मिलता।

(३) रंगमंच पर प्रेम के प्रदर्शन से सामाजिक को प्रेम की अनुभूति होती है—यह कैसे मान लिया जाय; क्योंकि रंगमंच के विभावादि उसके विभावादि नहीं होते; यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि वह मालविका आदि लौकिक नायिकाओं को 'कान्ता' दृष्टि से देखता है तो सीतादि पूज्य नारियों में उसकी यह भावना कैसे मानी जा सकती है।

(४) यदि प्रेक्षक नाटक में प्रेम का दृश्य देखकर नट नटी में ही दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम के आरोप से आनन्दित होता है—यह मान लिया जाय तो शकुन्तला की बिदाई, वैदेही-वनवास के दृश्यों को देखकर प्रेक्षक को शोकपूर्ण भावना में निमग्न होना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। नाटक के करुण दृश्यों से भी प्रेक्षक को आनन्द ही मिलता है—यह निर्विवाद बात है। अर्थात् रस-प्रक्रिया में करुणादि भावों तथा दृश्यों से प्रेक्षक को आनन्द कैसे और क्यों मिलता है—इसका उत्तर भट्टलोल्लट ने नहीं दिया। और यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि जिस प्रकार प्रेक्षक रंगमंच पर रति आदि सुखात्मक भावों तथा दृश्यों को देखकर आनन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार शोक आदि दुखात्मक भावों के दृश्यों को देखकर दुख का अनुभव करता है—तो यह भी बात मान्य नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा होने पर प्रेक्षक नाटक देखने कभी नहीं जायगा क्योंकि प्राय: प्रत्येक नाटक में दुखात्मक भाव के दृश्य आते ही हैं। रामादि अलौकिक शक्ति वाले नायकों के असाधारण कार्यों—जैसे, सेतुबंध, धनुर्भङ्ग आदि में प्रेक्षक अक्षम होने के कारण उस समय रामादि के साथ तादात्म्य कैसे स्थापित कर सकेगा? किसी एक काल में किसी एक व्यक्ति, नायकादि में उत्पन्न होने वाला भाव

किसी दूसरे काल में दूसरे व्यक्ति (नटादि) में आरोपित होने की कल्पना से प्रेक्षक को आनन्द कैसे मिल सकता है—इसे भी भट्टलोल्लट ने नहीं समझाया।

अनुमितिवाद

भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद के दोषों तथा आपत्तियों से बचने के लिए श्री शंकुक ने न्याय शास्त्र की अनुमान प्रणाली द्वारा रस-प्रक्रिया की व्याख्या की। इसीलिए इसका नाम अनुमितिवाद पड़ा। इनके अनुसार रस की उत्पत्ति नहीं होती, उसका अनुमान किया जाता है। शंकुक की दृष्टि में भरत-सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' का अर्थ है—ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध या गम्य-गमक सम्बन्ध। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी ज्ञापक या अनुमापक हैं, रस ज्ञाप्य या अनुमाप्य हैं। निष्पत्ति का अर्थ है अनुमिति। मुख्य स्थायी भाव के सदृश, स्थायी भाव प्रेक्षकों को नटादि में उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है। यह प्रतीति सामाजिकों को अनुमान-प्रक्रिया द्वारा होती है और इसी अनुमिति ज्ञान से सामाजिकों को आनन्द मिलता है। यही आनन्द रस है। रस का अर्थ है नट द्वारा अनुकृत स्थायीभाव, जो वास्तविक रूप से नायकादिकों में ही रहता है, प्रेक्षक या नट में नहीं। नट उसका अनुकरण करता है तथा प्रेक्षक अनुमान। शंकुक की दृष्टि में स्थायी भाव और रस में अन्तर है। इनका कहना है कि, नायक की विशिष्ट मानसिक स्थिति का नाम स्थायीभाव है तथा उसकी अनुकृति रस है। अनुकरण रूप होने के कारण स्थायीभाव रस की संज्ञा से अभिहित हुआ।[१] जिस प्रकार चित्रलिखित घोड़ा वास्तविक न होने पर भी घोड़ा

१—"अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायीभावोमुख्यरामादिगत स्थाय्यनुकरणरूपः; अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः"।

(श्री शंकुक—

—अभिनवभारतीय, पृष्ठ २७४)

ही कहा जाता है उसी प्रकार चित्र-तुरंग-न्याय के आधार पर प्रेक्षक 'नट ही राम है' ऐसा अनुमान कर लेता है। इस प्रकार मिथ्या-ज्ञान उसे वास्तविक प्रतीत होने लगता है। 'नट ही राम है'—यही अनुमान उसके आनन्द का कारण होता है। प्रेक्षक नट में रस उत्पन्न होने अर्थात् सीता विषयक रति उत्पन्न होने का अनुमान सीतादि आलम्बन विभाव, उद्यानादि उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि अनुभाव एवं उत्कंठादि व्यभिचारी भावों के द्वारा करते हैं और यही अनुमान प्रेक्षक के रस बोध का कारण होता है। प्रेक्षकों द्वारा नट में अनुमित रत्यादि स्थायीभाव रामादि नायकों के रत्यादि स्थायीभाव का अनुकरण मात्र होता है; पर नट के अपूर्व अभिनय-कौशल के कारण उसके द्वारा अनुकृत स्थायीभाव प्रेक्षक को वास्तविक शृंगार प्रतीत होने लगता है।

नट द्वारा प्रदर्शित विभावादि कृत्रिम होते हैं पर सामाजिकों को वे कृत्रिम नहीं प्रतीत होते। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि नट को कृत्रिम विभावों से अनुभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है तथा प्रेक्षक नट के कृत्रिम विभावों को यथार्थ समझने में कैसे समर्थ होता है? श्री शंकुक के मतानुसार नाटकीय शिक्षा एवं अभ्यास के कारण नट विभावादि के कृत्रिम होते हुए भी अनुभाव सम्बन्धी क्रियाओं एवं चेष्टाओं को करने में समर्थ होता है। नट की अनुभाव सम्बन्धी क्रियायें अनुकरणात्मक होने के कारण कृत्रिम होती हैं किन्तु वह इतनी दक्षता से रंगमंच पर उन्हें प्रगट करता है कि वे प्रेक्षकों को वास्तविक प्रतीत होने लगती हैं। शंकुक की दृष्टि में अभिनय-कौशल की अपूर्वता के कारण प्रेक्षक को कृत्रिम विभाव वास्तविक प्रतीत होने लगते हैं। प्रेक्षक नटादि की अभिनय-कुशलता को देखकर अभिनय में इतना तन्मय हो जाता है कि कियत्काल के लिए उसे अनुकार्य एवं अनुकर्ता के भेद का ज्ञान नष्ट हो जाता है। इसीलिए उसे अनुकर्ता अनुकार्य सदृश प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् रंगमंच पर उपस्थित विभावादि अनुकर्ता होते हुए भी अनुकार्य अर्थात वास्तविक से जान पड़ते हैं। नट नायक सा प्रतीत होने लगता है।

नट के सुन्दर अभिनय को देखकर सहृदय प्रेक्षक यह भूल जाता है कि वह रति का दूसरों में अनुभव कर रहा है। प्रेक्षक नट प्रदर्शित विभवादि की सहायता से अनुमान-प्रक्रिया द्वारा अनुकार्य सदृश प्रतीत होने वाले अनुकर्ता में रत्यादि की उपस्थिति को अपनी रति समझकर आनन्दित होता है। संयोग श्रृंगार में प्रेक्षक यह अनुमान[1] करता है कि 'यह राम है' और 'इसमें सीता विषयक रति है'[2] और वियोग श्रृंगार में यह अनुमान करता है कि—'यह राम सीता के वियोग में विरही है'[3]। प्रेक्षक का हृदय कल्पित-नायकत्व से इतना अधिक छा जाता है कि उसे भ्रम होने लगता है, कि राम मैं ही हूँ और वह उसकी रति को अपनी रति समझने लगता है और यही सुखद भ्रम उसके आनन्द को वैयक्तिक बना देता है।

अनुमितिवाद की समीक्षा—इस वाद की समीक्षा भी प्रेक्षक, अनुकर्ता एवं अनुकार्य—तीन दृष्टियों से की जा सकती है।

(१) चित्र तुरंग-न्याय बालक या बाल बुद्धिवालों के लिए विश्वसनीय हो सकता है, सुसंस्कृत प्रेक्षकों के लिए नहीं। अतः सुसंस्कृत प्रेक्षकों का नट को नायक समझना विश्वसनीय नहीं जान पड़ता।

(२) आलम्बन के प्रति नायक की जो भावना है उसका प्रेक्षक के हृदय में यदि उत्पन्न होना मानें तो वह देवता आदि पूज्य व्यक्तियों के विषय में कैसे निभेगी। जिन सीता देवी को प्रेक्षक जगन्माता मानते आये उनके विषय में राम की रति का उनके हृदय में उत्पन्न होना कैसे संभव है।

(३) यदि यह मान लिया जाय कि प्रेक्षक नट से तादात्म्य स्थापित कर सदैव नायक के ही भावों का अनुभव करता है तो रस को

१—यह अनुमान सामान्य लौकिक अनुमान से विशिष्ट कोटि का होता है। यही अनुमान प्रेक्षक की रसानुभूति का मूल स्रोत होता है।

२—रामोऽयं सीता विषयक रतिमान्।

३—रामोऽयं सीता विरहवान्।

सदैव आनन्द स्वरूप मानने में बाधा पड़ती है। नायक के सुखात्मक भावों—प्रेम, हास्य, उत्साह आदि से प्रेक्षक को आनन्द मिल सकता है किन्तु दुखात्मक भावों—घृणा, भय, शोक आदि से उसे आनन्द कैसे मिलेगा ? इसका उत्तर शंकुक के अनुमितिवाद में नहीं मिलता।

(४) शंकुक की दृष्टि से अनुमित ज्ञान प्रत्यक्षानुभव जन्य ज्ञान से अधिक प्रभावशाली एवं अधिक आनन्द देने वाला माना गया है, जो अनुभव तथा प्रमाण-दोनों दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण सिद्ध होता है। रस या भाव प्रत्यक्षानुभव द्वारा भावना के विषय बनते हैं, अनुमान द्वारा नहीं। एक व्यक्ति में उत्पन्न भाव या रस का आस्वादन दूसरे व्यक्ति द्वारा अनुमान-प्रणाली से नहीं हो सकता। अनुमान बुद्धि का विषय है, हृदय का नहीं। भावनाओं का आस्वादन मानव मस्तिष्क के हृदय-पक्ष द्वारा ही हो सकता है, बुद्धि-पक्ष द्वारा नहीं। अनुमित ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान के समान आनन्द नहीं मिल सकता। कोई विद्यार्थी अपना प्रश्न-पत्र अच्छे ढंग से सम्पादित करने पर परीक्षा-फल में अच्छी श्रेणी का अनुमान कर निश्चय ही आनन्द प्राप्त कर सकता है, किन्तु अपनी अनुमित अच्छी श्रेणी को समाचार-पत्र में प्रत्यक्ष देख कर वह निश्चय ही पहले से अधिक आनंदित होगा।

(५) शंकुक की दृष्टि में रंगमंच पर अभिनय रूप में उपस्थित—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों द्वारा नट में अनुमित स्थायी भाव लौकिक अनुमान से विशेष प्रभावशाली होता है। जो रत्यादि भाव नट में केवल अनुमित हैं (यथार्थ रूप में उनकी उपस्थिति वहाँ नहीं) वे यदि प्रेक्षक के आनन्द के कारण बन सकते हैं, तो लौकिक व्यक्तियों के रत्यादि भावों के अनुमान से निश्चय ही विशेष आनन्द होना चाहिए। किसी वस्तु के अभाव में भी यदि अनुमान मात्र से आनंद मिल सकता है तो उस वस्तु की उपस्थिति के स्थान पर उसका अनुमान कर निश्चय ही बहुत अधिक आनन्द मिलना चाहिए; पर श्री शंकुक इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं।

(६) फिर वे आगे कहते हैं कि ज्ञान, उपार्जित कराने वाला साधन, उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना ज्ञान का विषय। प्रेम, करुणा, उत्साह आदि अनुमित होने वाले स्थायीभाव प्रकृतितः बहुत चमत्कारी होते हैं इसलिए वे अनुमान मात्र से प्रेक्षकों के। रमणीय प्रतीत होते हैं। यहाँ श्री शंकुक अपने कथन में स्वयं विरोध उपस्थित करते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि अनुमान-प्रक्रिया के कारण स्थायी भावों से विशेष आनंद मिलता है तो दूसरे स्थान पर वे कहते हैं कि स्थायीभाव स्वयं में बहुत रमणीय होते हैं।

(७) शंकुक के मतानुसार अनुकार्य एवं अनुकर्ता के साम्य का कारण न सम्यग्ज्ञान है, न मिथ्याज्ञान, वरन् शुक्ति में रजत के आभास के समान एक प्रकार का भ्रम-ज्ञान है जिससे नट में नायक की मनःस्थिति का अनुमान किया जाता है। और यही अनुमितज्ञान प्रेक्षक को आनन्द देने वाला कहा गया है किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि भ्रम जन्य-ज्ञान अलौकिक आनंद की सृष्टि कभी नहीं कर सकता।

(८) उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त शंकुक के रसानुमितिवाद में प्रेक्षक की दृष्टि से क्षणभङ्गुरता का दोष दिखाई पड़ता है। जान पड़ता है श्री शंकुक भी इस दोष से स्वयं अभिज्ञ थे। इसीलिए उन्होंने इस के दूर करने के लिए प्रेक्षक में नाटक चलने तक अनुमान-परम्परा को स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि से प्रेक्षक में एक अनुमान के पश्चात् दूसरे अनुमान की जिज्ञासा नाटक के अभिनय के अन्त तक चलती रहती है; किन्तु उनका यह सुझाव भी रसानुभूति के सिद्धान्त के विरुद्ध दिखाई पड़ता है, क्योंकि रस-दशा में वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता की स्थिति रहती है। अखण्ड आनन्द की परम्परा चलती है। इस प्रकार के रस में मग्न प्रेक्षक कैसे एक अनुमान के पश्चात् दूसरे अनुमान की इच्छा रख सकता है। ऐसा करने से प्रेक्षक में वेद्यान्तरस्पर्शता की स्थिति आ जायगी जो रसानुभूति के लिए बाधक है।

(९) प्रेक्षक नट में नायक की मनस्थिति के उदय का अनुमान करता है। इसका तात्पर्य यह कि शंकुक नट में भावना की मौलिक

स्थिति नहीं मानते। इस प्रकार प्रेक्षक का ज्ञान या आनन्द अपरागत (second hand) हो जाता है। प्रेक्षक का यह ज्ञान कि नट में कोई भावना नहीं, केवल उसमें भावनाओं के उदय का अनुमान किया जाता है, रसास्वादन के लिए बाधक है।

(१०) शंकुक का रसानुमितिवाद न्याय-सिद्धान्त की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता। यदि किसी नाटक को देखकर लौटनेवाले से पूछा जाय कि तुम अब तक क्या कर रहे थे ? तो वह सदा यही उत्तर देगा कि मैं आनन्द ले रहा था। वह यह नहीं कहेगा कि मैं रंगशाला में रस का अनुमान कर रहा था।

(१२) अनुमान ज्ञान की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है किन्तु रस अनुभूति की प्रक्रिया से अतः अनुमान-प्रक्रिया द्वारा रस की सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरे रस उत्पन्न होता है ज्ञात नहीं होता।

(१३) अपने हृदय की वस्तु का अनुमान नहीं कराया जाता, उसकी तो अनुभूति ही होती है क्योंकि यदि अपनी अनुभूति अपने ही को अनुमान द्वारा प्रतीत होने लगे तो फिर प्रत्यक्ष किसे होगी। रस प्रत्यक्षानुभव की वस्तु है, अनुमान की नहीं। अतः रस-अनुमान-प्रक्रिया द्वारा विवेचित नहीं हो सकती।

भट्टतौत द्वारा अनुमितिवाद पर कई आक्षेप लगाये गये हैं। उनमें सबसे प्रसिद्ध आक्षेप इस वाद के अनुकरण-सिद्धान्त पर है। यहाँ प्रेक्षक की दृष्टि से शंकुक के अनुकरण सिद्धान्त के दोष पर विचार करना चाहिए। भट्टतौत का कहना है, कि नट द्वारा किया गया राम की रति का अनुकरण राम की रति का ही है—यह प्रेक्षक कैसे समझता है; क्योंकि उसे राम की रति का आविष्कार प्रत्यक्ष रूप से देखने का अवसर नहीं मिला। दूसरे प्रेक्षकों ने नट में कौन सी ऐसी वस्तु देखी जिससे उसको रामानुकृति—रूप मानते हैं। नट में वेश, शरीर, कुण्डल, किरीट बहुत हुआ तो, अनुभाव, रामानुरूप दिखाई पड़ सकता है; किन्तु इस वाह्यानुकरण से कैसे समझा जाय कि यह राम की रति का ही अनुकरण है। क्योंकि अनुभावादि वाह्यानुकरण तो नट के अभिनय

सम्बन्धी सतत अभ्यास के फल हैं; उसकी आन्तरिक भावनावों के परिणाम नहीं। राम की रति का सम्बन्ध मानसिक स्थिति से है। अतः वह मनःचक्षु को ही दिखाई पड़ती है। वेशभूषा, मेकप, अनुभाव आदि का सम्बन्ध वाह्यभाग-जड़ से है; अतः वह वाह्य इन्द्रियों को दिखाई पड़ता है। नट के वेश, भूषा, मेकप आदि की वाह्याभिव्यक्तियाँ नायक की रति आदि—मानसिक वृत्तियों के अनुभाव को पूर्णतः उपस्थित करने में असमर्थ हैं। सामाजिकों की दृष्टि में आई नट की चित्तवृत्ति को राम की रति या श्रृंगार कहना ठीक नहीं। क्योंकि नाटक में विभावादि से जो दिखाई पड़ता है, वह स्वतः नट की रति होती है। नट की रति को राम की रति का अनुकरण कहना ठीक नहीं।

फिर आगे श्री शंकुक ने रौद्र रस का उदाहरण लेकर अपने अनुकरण सिद्धान्त को समझाने का प्रयत्न किया है किन्तु उसमें भी तर्क की दुर्बलता दिखाई पड़ती है। शंकुक की दृष्टि में अक्रुद्ध नट वाह्याकृति—वेश, भूषा, अनुभावादि—से मौलिक नायक के समान क्रोधित दिखाई पड़ता है। किन्तु किसी बात की सदृशता अनुकरण नहीं है[1]। अतः अभिनय के समय नट में सामाजिक द्वारा अनुमित मानसिक स्थिति को अनुकरण कहना ठीक नहीं। श्री शंकुक के कथनों में पूर्वापर सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। एक स्थान पर वे कहते हैं[2] कि नाटक के अभिनय के समय सामाजिक का नट सम्बन्धी ज्ञान सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य—इन चार प्रकार के ज्ञानों से विशिष्ट कोटि का होता है। दूसरे स्थान पर इसे ही वे सादृश्य ज्ञान कहते हैं। श्री शंकुक का यह कथन कि सामाजिक का नट सम्बन्धी ज्ञान कि 'यही राम है' न तो वास्तविक है और न अवास्तविक—वरन् त्रुटिपूर्ण है। जिन

१—नन्वक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव भाति! सत्यं; क्रुद्धेन सदृशः। सादृश्यञ्च भ्रुकुट्यादिभिः, गौरिव गवयेन मुखादिभिरिति; नैतावतानुकारः कश्चित्।

२—सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्योविलक्षणम्।—शंकुक

तर्कों के आधार पर शंकुक अपने मत की पुष्टि करते हैं वे उनकी वास्तविक तथा अवास्तविक ज्ञान की निजी परिभाषा पर अवलम्बित हैं। सर्प को सर्प समझने का ज्ञान सदा वास्तविक रहेगा। रज्जु को सर्प समझने का ज्ञान सदा अवास्तविक माना जायगा; भले ही इस ज्ञान का ज्ञाता अपनी त्रुटि को न पहचाने। इसी प्रकार नट के विषय में सामाजिक का ज्ञान कि 'यह राम है' अवास्तविक ज्ञान है। श्री शंकुक ने जिस उपमित ज्ञान के आधार पर अपने अनुमितवाद को निकाला उसमें सादृश्य ज्ञान एवं भ्रम ज्ञान ही दिखाई पड़ता है। जैसा अभी कहा जा चुका है कि सादृश्य ज्ञान उनके अनुकरण सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है। दूसरे वे एक स्थान पर नट सम्बन्धी ज्ञान को सम्यक्, सादृश्य, संशय एवं भ्रम—इन चारों प्रकार के ज्ञानों से विशिष्ट बतलाते हैं। इस प्रकार वे स्वयं अपने तर्कों में विरोध उपस्थित करते हैं।

अनुमितिवाद में अनुकर्ता एवं अनुकार्य सम्बन्धी दोष प्रायः वे ही हैं जो उत्पत्तिवाद में मिलते हैं और इनका उल्लेख पहले उत्पत्तिवाद की समीक्षा के प्रकरण में हो चुका है, किन्तु पाठकों की स्पष्टता एवं सरलता के लिए उनका उल्लेख इस प्रकरण में भी यदि कहीं हो जाय तो पाठक पुनरुक्ति दोष के लिए मुझे क्षमा करेंगे।

अनुकर्ता की दृष्टि से :—रंगमंच पर अभिनय करनेवाले अभिनेता मूल पात्रों के वेश भूषा, वाणी, क्रिया आदि बाहरी बातों का अनुकरण अभिनयाभ्यास-जन्य कौशल से कर सकते हैं और अपने अभिनय-कौशल से भावों की सूचना दे सकते हैं किन्तु उनके द्वारा भावों का अनुभव-जन्य-अनुकरण संभव नहीं क्योंकि अनुकर्ता एवं अनुकार्य के विभावादि भिन्न भिन्न होते हैं। अभिनेता द्वारा भावों के अनुभव-जन्य-अनुकरण में दूसरी बाधा उस समय होगी जब उसका अनुभूति-क्षेत्र संकुचित कोटि का होगा। अनुकर्ता को जिस भाव या विचार की अनुभूति ही न हो उसका वह अनुकरण कैसे करेगा?

अनुकर्ता द्वारा किया गया अनुकरण मूल पात्रों के भावों, विचारों, कार्यों या चेष्टाओं का ही है—यह कैसे मान लिया जाय; क्योंकि मूल पात्रों के भावों, विचारों एवं कार्यों के स्वरूप को देखने का अवसर अनुकर्ताओं को कभी नहीं मिला। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि अनुकर्तागण अपने अपने अनुकार्यों का वाह्यानुकरण ही कर सकते हैं, भावानुकरण नहीं। नट अभिनय के समय तन्मय हो सकता है। तन्मयता से उसे आनन्द भी मिल सकता है, पर वह लौकिक कोटि का ही होगा; क्योंकि उसमें व्यक्तिनिष्ठता रहती है। अनुकार्य की दृष्टि से इस वाद में भी ताटस्थ्य दोष दिखाई पड़ता है। इस मत के अनुसार रस नायक या अनुकार्य में रहता है; अनुकर्ता में उसका अनुमान किया जाता है और आनन्द दर्शक को मिलता है। शंकुक भी भट्टलोल्लट के समान ही रत्यादि स्थायी भावों की उपस्थिति प्रेक्षक में नहीं मानते। इस प्रकार विभावादि कारण कहीं अन्यत्र नट में हैं और आनन्द (रस) रूप कार्य कहीं अन्यत्र उत्पन्न होता है। यदि रस की अवस्थिति अन्य व्यक्ति में है और वह तटस्थ है तो प्रेक्षक स्वयं उससे प्रभावित नहीं हो सकता। शंकुक के मतानुसार प्रेक्षक नायक के ही भावों का सदा अनुभव करता है किन्तु इस सिद्धान्त को अपनाने से रस को सदा आनन्द स्वरूप मानने में बाधा उपस्थित होती है। नायक के दुखात्मक भावों—करुण, वीभत्स,, रौद्र, भय आदि के अनुभव काल में प्रेक्षक को रस सुखात्मक न होकर दुखात्मक प्रतीत होगा। पर ऐसा होता नहीं। प्रेक्षक करुणादि दुखात्मक भाव प्रधान नाटकों को देखने जाते ही हैं और उन्हें सदैव आनन्द ही मिलता है। दुखात्मक भावों से रस (आनन्द) क्यों मिलता है इसका कोई उत्तर शंकुक के पास भी नहीं है।

वे विभावादि जिनसे नायक प्रभावित होता है, प्रेक्षक के विभावादि कैसे होंगे—इसका उत्तर भी अनुमितिवाद में नहीं मिलता। सीतादि पूज्य आलम्बनों के प्रति रामादि नायक के रति आदिक स्थायी भावों का

प्रेक्षकों में उदय होना मानने में अनेक कठिनाइयाँ पड़ती हैं। अनुकार्य की दृष्टि से इस वाद का यह एक बहुत बड़ा दोष है।

अनुकार्य के लौकिक सुख-दुख, भाव-विचारादि अलौकिक आनन्द की सृष्टि कैसे करते हैं—इसका उत्तर भी अनुमितिवाद के पास नहीं है।

अनुकार्य के सुख-दुख, भाव-विचारादि उसी एक निश्चित व्यक्ति के हैं तो अन्य लोग उससे कैसे और क्यों आनन्दित होते हैं—इस प्रश्न का भी उत्तर देने में शंकुक असमर्थ हैं।

भुक्तिवाद

श्री शंकुक के पश्चात् रस-प्रक्रिया के विवेचकों में दूसरा नाम भट्टनायक का आता है। भट्टनायक सांख्यमतानुयायी थे। सांख्य-दर्शन के चश्मे से उन्होंने रस-प्रक्रिया को देखने का प्रयत्न किया। इन्होंने अपनी रस-प्रक्रिया की व्याख्या में भट्टलोल्लट तथा श्री शंकुक की कड़ी आलोचना करते हुए उनके कतिपय मुख्य दोषों को दूर करने का प्रयत्न भी किया। करुणादि दुःखात्मक भावों से आनन्द क्यों मिलता है? नायकादि के जीवन का रस अभिनय अथवा श्रवण या पठन के माध्यम से प्रेक्षक या श्रोता अथवा पाठक के हृदय में क्यों तथा कैसे पहुँचता है—आदि प्रश्नों का उत्तर भट्टनायक ने अपनी रस-व्याख्या में प्रस्तुत किया। यहाँ स्मरण रखने की बात है कि उत्पत्तिवाद तथा अनुमितिवाद की रस-प्रक्रिया के व्याख्याता इन प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर अपनी व्याख्या में उपस्थित नहीं कर सके थे।

भट्टनायक की दृष्टि में भरत सूत्र में प्रयुक्त संयोग शब्द का अर्थ है—भोज्य-भोजक-भाव सम्बन्ध। स्थायी भाव तथा रस के अन्य उपादानों (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी में) में भोज्य-भोजक भाव का सम्बन्ध रहता है। रस भोज्य है, विभावादि रस के भोजक हैं। निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति या भोग। रस का अर्थ सत्व गुण के कार्यों से प्रेरित काव्यगत पात्रों की स्थायी चित्तवृत्तियों के सामान्यीकृत रूप का

आस्वादन है जिससे एक विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। भट्ट-नायक प्रेक्षक के हृदय में भाव या रस की स्थिति मानते हैं। किन्तु प्रेक्षक अपने हृदय में स्थित स्थायी भाव का नहीं वरन् काव्यगत स्थायी-भावों के साधारणीकृत रूप का आनंद लेता है, जो साधारणीकरण के कारण उसके हृदय के भाव के अनुरूप ही हो जाते हैं। इसीलिए भट्ट-नायक न तो रस का उत्पन्न होना मानते हैं, न प्रतीत होना और न अभि-व्यक्त होना। रस-भोग के पूर्व काव्यगत विशिष्ट स्थायीभाव एवं विभाव—दोनों सामान्यीकृत अवस्था को पहुँच कर प्रेक्षक अथवा पाठक के हृदय में साधारणीकृत रूप में पहुँच कर उसकी अनुभूति को सार्व-जनीन कोटि की बना देते हैं। इस प्रकार रसानन्द काल में उसका हृदय निर्वैयक्तिक हो जाता है। हृदय की निर्वैयक्तिकता के कारण उसके रजस एवं तमस गुण दब जाते हैं। प्रेक्षक अथवा पाठक के हृदय में अन्य गुणों के ऊपर सत्वगुण का राज्य छाने के कारण अलौकिक अथवा स्वार्थमुक्तजन्य आनन्द होता है। भट्टनायक इसी आनन्द को साहित्यिक-पदावली में रस नाम से अभिहित करते हैं।

भट्टनायक की दृष्टि में विशिष्ट स्थायीभाव को रस रूप में परिणत होने की प्रक्रिया में तीन व्यापार कार्य करते हैं—अभिधा व्यापार, भावकत्वव्यापार तथा भोगकृतित्वव्यापार[१]। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि रसिक को रस-अवस्था तक पहुँचने में तीन मानसिक अवस्थायें पार करनी पड़ती हैं। अभिधाव्यापार (Significance of words)—इस व्यापार की क्रिया से प्रेक्षक या पाठक शब्दों का साहित्यिक अभिप्राय एवं महत्त्व समझते हैं। नाटक या काव्य के पात्रों को उनकी देश, काल, पात्र सम्बन्धी विशिष्टता के रूप में ग्रहण करते हैं। नाटक या काव्य में शकुन्तला शब्द के श्रवण या पठन से कण्व की पुत्री एवं दुष्यन्त की पत्नी के रूप में विशिष्ट अर्थ बोध होता है।[२] यहाँ

---

१. अभिधाभावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।

२ तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्थाः।

स्मरण रखने की बात यह है कि भट्टनायक अपनी अभिधा के भीतर लक्षणा का भी समावेश कर लेते हैं।[1] भावात्मक व्यापार—अभिधा व्यापार भावात्मक व्यापार का पथ निर्मित करता है। इस अवस्था में स्थायीभाव तथा विभावादिक सहृदय द्वारा निर्विशेष रूप में गृहीत होते हैं। सामाजिक का मन शकुन्तला की प्रतीति व्यक्ति निरपेक्ष रूप में करता है, अर्थात् उसे एक सामान्य कमनीय स्त्री के रूप में समझता है।[2] दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम को उनके वैयक्तिक—अथवा अपने आत्मगत प्रेम के रूप में नहीं देखता वरन् उसे प्रेम की साधारणीकृत विश्वजनीन अनुभूति के रूप में अनुभव करता है। भट्टनायक की दृष्टि में काव्यान्तर्गत निर्दोषता, विशिष्ट काव्य रीति, वृत्ति, गुण, अलंकार, तथा नाटकगत अभिनय, संगीत एवं रंगभूमि की सजावट से भावकत्व नाम शक्ति आती है। काव्य अथवा नाटक की उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही सामाजिक या पाठक कुछ काल के लिए अपनी भौतिकता एवं वैयक्तिकता को भूलकर निर्वैयक्तिक अवस्था में पहुँच जाता है। इसी कारण वह निज सम्बन्ध से परे काव्यगत पात्रों, परिस्थितियों, वर्णनों, घटनाओं को नाटक में देख या काव्य में पढ़ या सुनकर तन्मय हो जाता है। तन्मयता से आत्म विस्तार एवं आत्म विकास होता है। तन्मयावस्था के कारण सहृदय के विस्तृत एवं विकसित हृदय में काव्यगत भाव, विभावादि एकविलक्षण कोटि के चिन्तन एवं स्मृतियों के सहारे अप्रत्यक्ष एवं सहज रूप में तब तक आते रहते हैं जब तक कि वे देश, काल, पात्र की

१(क) अभिधाधामता याते शब्दार्थालङ्कृती ततः। (हृदय दर्पण)

(ख) *Abhidha and Lakshana convey the significance of words, not of course as they are understood in the ordinary word, but laden with the weight of literary graces.*

(*Philosophy of Aesthetic Pleasure*)

२ भावकत्व व्यापारेणागम्यत्वादिरसविरोधिज्ञान प्रतिबन्ध द्वारा कान्तात्वादि रसानुकूलधर्म पुरस्कारेणोपस्थाप्यन्ते। (भट्टनायक)

विशिष्टताओं से विमुक्त होकर सामान्यीकृत (universal) रूप नहीं धारण कर लेते। इस प्रकार भावकत्व व्यापार में स्थायी-भाव एवं विभावादि निर्वैयक्तिक (impersonal) रूप में उपस्थित होते हैं। भावकत्व व्यापार की कल्पना कर भट्टनायक सहृदय के रसधाम तक पहुँचने की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि भट्टनायक के भावना-व्यापार में साधारणीकरण का सिद्धान्त सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतः इस पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। भट्टनायक की दृष्टि में साधारणीकरण का अर्थ है कर्त्ता की भावना या अनुभूति के साथ सहृदय का तादात्म्य। साहित्यदर्पणकार के मत में सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य एवं आलम्बन के साथ साधारणीकरण होता है। आचार्य शुक्ल भी इसी मत को मानते हुए दिखाई पड़ते हैं—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। विषय का इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।" इस प्रकार शुक्लजी की दृष्टि में भी साधारणीकरण का तात्पर्य आलम्बन का साधारणीकरण है। परन्तु साधारणीकरण का यह मत भट्टनायक को स्वीकृत नहीं है। वे स्थायी भाव तथा विभावादि सभी का साधारणीकरण मानते हैं। केवल विभाव का साधारणीकरण एवं आश्रय के साथ तादात्म्य उन्हें मान्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीतादि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए आश्रय—दुष्यन्त, रामादि के साथ तादात्म्य स्थापित कर रति भावना करना अनुचित होगा। इसीलिए भुक्तिमत के अनुसार सहृदय न तो

आलम्बन से प्रेम करता है और न आश्रय के साथ तादात्म्य। क्योंकि उसका यह प्रेम वैयक्तिक न होकर निर्वैक्तिक कोटि का होता है। साधारणीकरण का विवेचन करते समय एक स्थान पर शुक्ल जी ने कहा है कि "कभी कभी ऐसा होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के सामान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे, किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी स्त्री से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसके सामने आयेगी।" भट्टनायक इसका भी निषेध करते हैं। क्योंकि प्रथमतः अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है। दूसरे यह भी सम्भव है कि किसी पाठक या श्रोता का किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम ही न हो। ऐसी परिस्थिति में शुक्ल जी की दृष्टि से पाठक या श्रोता के समक्ष किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आयेगा। किन्तु किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना साधारण रति का रूप है। दूसरे यदि भाव सुखात्मक न होकर दुखात्मक है तो उस अवस्था में रस कैसे उत्पन्न होगा? जैसे, रावण का सीता पर क्रोध देखकर या पढ़कर सहृदय के मन का आश्रय के साथ तादात्म्य कैसे होगा? तो फिर यह अनुभव कटु होने के कारण रसात्मक कैसे होगा? शुक्ल जी तथा साहित्यदर्पणकार वाला साधारणीकरण का सिद्धान्त जिसमें आश्रय के साथ तादात्म्य एवं आलम्बन के साथ साधारणीकरण होता है संस्कृत साहित्य के उन काव्यों तथा नाटकों के लिए, जिसमें आलम्बन लोकधर्म के आदर्श गुणों की प्रतिमूर्ति होता था, भले ही प्रयुक्त होता हो परन्तु आधुनिक युग के उन उपन्यासों, नाटकों, कहानियों के नायकों के विषय में कैसे प्रयुक्त होगा जिनका चरित्र उक्त आदर्शों से बिलकुल विपरीत होता है। इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के लिए भट्टनायक ने कवि की पूरी अनुभूति के साथ साधारणीकरण वाले सिद्धान्त को अपनाया है।

उदाहरणार्थ, कामायनी के मनु में जहाँ जहाँ वैयक्तिक भावनायें पाई जाती हैं वहाँ वहाँ पाठक का उससे तादात्म्य नहीं होता। साम्यवादी उपन्यासकारों के उपन्यासों में पूँजीवादी प्रवृत्तिवाले नायकों के साथ तादात्म्य के स्थान पर पाठक के मन में उनके प्रति घृणा उत्पन्न होती है। और यही उपन्यासकार का लक्ष्य भी रहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या आलम्बन के साथ साधारणीकरण होता है? क्या मानस की पुष्पवाटिका के प्रसंग में जिस सीता के प्रति राम को रति भावना हुई क्या उसी के साथ प्रत्येक सहृदय में रति भावना जगती है? क्या विश्ववंद्य राम की प्रिया विश्वप्रिया बन जाती है? आस्तिक आचार्य भट्टनायक इसका स्पष्ट खण्डन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। तो क्या मानस में पुष्पवाटिका की सीता हमारी माता ही बनी रहती है? यदि माता ही बनी रहती तो पाठकों को मानस की पुष्पवाटिका के प्रसंग में शृंगार का अनुभव ही न होता। तो फिर इस प्रश्न का उत्तर रह ही जाता है कि मानस की पुष्पवाटिका के प्रसंग में सीता से शृंगार रस कैसे उत्पन्न होता है? इसका उत्तर यह है कि तुलसी के मानस की सीता, उस सीता से जिसे हम मातृ सदृश पूज्य मानते हैं, सर्वथा भिन्न हैं। वह कवि की अनुभूति की सृष्टि हैं उसकी मानसी प्रतिमा है। कवि ने आलम्बन के द्वारा अपनी अनुभूति को सम्वेद्य बनाया है। अतः उसके साथ साधारणीकरण का अर्थ है कवि की पूर्ण अनुभूति के साथ साधारणीकरण। उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह निकला कि भट्टनायक के मत में साधारणीकरण कवि की पूरी अनुभूति का होता है। अनुभूति सभी को होती है और सभी लोग उसे न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्त भी करते हैं परन्तु सभी की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में साधारणीकरण की क्षमता नहीं होती। इसीलिए अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की शक्ति रखते हुए भी सभी लोग कवि नहीं हो सकते। किसी भी अभिव्यक्ति में साधारणीकरण की क्षमता के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है:—प्रथम उसके भीतर निहित अनुभूति ऐसी हो जिसमें लोकभावना का स्पर्श हो। द्वितीय

भाषा का ऐसा भावमय प्रयोग[1] हो कि वह सभी सहृदयों में समान अनुभूति जगा सके।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात भी स्पष्ट हो गई कि आचार्य भट्ट-नायक का साधारणीकरण का सिद्धान्त काव्य की शक्ति के साथ-साथ सहृदय की योग्यता का भी विवेचन करता है। इस प्रकार उनका यह सिद्धान्त एक ओर काव्य एवं सहृदय के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर काव्यगत भाषा की प्रेषणीयता के तत्वों को उद्घाटित करता है।

भोजकत्व व्यापारः—जिस व्यापार द्वारा साधारणीकृत विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से प्रतीत कराया हुआ साधारणीकृत स्थायी भाव आस्वाद्यमान होकर निर्वैयक्तिक आनन्द की सृष्टि करता है, उसे भोजकत्व व्यापार कहते हैं[1]। रस के सम्बन्ध में भोग का अर्थ सांसारिक अर्थ में नहीं है। सहृदय प्रेक्षक के सत्वगुण संवलित हृदय में साधारणीकृत स्थायी भावादिकों का आस्वादन ही भोग है। इससे उत्पन्न आनन्द लौकिक आनन्दों से अलग कोटि का होता है। लौकिक जगत में आनन्द वैयक्तिक लाभों या अधिकारों की प्राप्ति से होता है किन्तु काव्य-रस-जन्य आनन्द निर्वैयक्तिकता से उत्पन्न होता है। इससे भोग व्यापार की प्रक्रिया में प्रेक्षक के रजस, एवं तमस गुण दब जाते हैं।

१—भाषा का भावमय प्रयोग व्यक्ति की भावशक्ति एवं अनुभूति की मार्मिकता पर निर्भर है। व्यक्ति की अनुभूति में तीव्रता, मार्मिकता एवं भावों में शक्ति आने पर उसकी अभिव्यक्ति की भाषा में अलंकार, विशिष्ट असाधारण शैली, गुण, वृत्ति आदि स्वयं आ जाते हैं। और येही तत्त्व उसकी भाषा में भावकत्व शक्ति भरते हैं।

१—तस्माद् विभावादिभिः संयोगाद् भोज्यभोजक-भाव सम्बन्धाद्रस-निष्पत्तिः भुक्तिरिति सूत्रार्थः (हृदय दर्पण)

सत्वगुण का प्राधान्य हो जाता है।[१] चित्त सत्वस्थ होने के कारण उसमें से ईर्ष्या, द्वेष दूर हो जाते हैं।[२] उसमें वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता की स्थिति आ जाती है।[३] वह सत्वावस्था अखण्ड स्वप्रकाशानन्द एवं चिन्मयता की अनुभूति कराती हैं।[४] भोजकत्व व्यापार में सत्त्वोद्रेक से उत्पन्न आनन्द प्रत्यक्ष जगत के अनुभवों तथा स्मृतियों से उत्पन्न आनन्द से भी विलक्षण कोटि का होता है। यह रसानन्द हृदय दर्पण में ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। क्योंकि रसानन्द ब्रह्मानन्द कोटि का न होकर कुछ बातों में उसके समान होता है। भट्टनायक के विचार से रसानन्द अपनी निर्वैयक्तिकता, सत्वोद्रेकता, चिन्मयता, वेद्यान्तर स्पर्श-शून्यता, संविद्विश्रान्ति नामक विशेषताओं के कारण ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है।[५]

भट्टनायक का ग्रन्थ हृदय दर्पण जिसमें रसवाद का विवेचन है, ध्वनिध्वंस ग्रन्थ कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने ध्वनिवाद के खण्डनार्थ ही हृदय दर्पण की रचना की। इससे परोक्ष रूप से यह भी विदित होता है कि वे अपने समय में ध्वनि विरोधी आचार्यों के नेता थे। इसी कारण उनका काव्य-सिद्धान्त अपने लक्ष्य (ध्वनिवाद के खण्डन) की ओर ही सदा देखने के कारण रस की प्रक्रिया एवं स्वरूप को ठीक ठीक उपस्थित करने में असमर्थ रहा।

१—येन रजस्तमसोस्तिरस्कारः, आनन्दाकारावृत्तिः विषयान्तर तिरस्कारश्च सव्यापारो भोजकत्वमिति बोध्यम्। (काव्य प्रकाश)

२—बाह्यमेय विमुखतासम्पादकः कश्चनान्तरो धर्म सत्त्वम् (साहित्य दर्पण)

३—सत्वगुण कार्यश्चित्तवृत्ति विशेषः आनन्दः। (काव्य प्रदीपोद्योत)

४—सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविद्विश्रान्तिः (हृदय दर्पण)

५—अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभव स्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुति विस्तार विकास लक्षणेन सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय निज संविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वाद संविधेन भोगेन परं भुज्येत इति। (हृदय दर्पण)

अन्य आचार्यों के समान भट्टनायक ने भी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा रस-प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न किया है। रसानुभूति की प्रक्रिया एक मानसिक प्रक्रिया है। अतः वह मनोविज्ञान की सहायता से अधिक स्पष्ट हो सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्टनायक ने भी रसानुभूति की प्रक्रिया के समझाने में मनोविज्ञान से अधिक आध्यात्मिक व्यापार का ही आश्रय लिया है। हृदयदर्पणकार सांख्य एवं वेदान्त दर्शन से प्रभावित होने के कारण रसानुभूति के वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ पक्षों की मूल प्रकृति तथा निष्कर्ष रूप में रस-प्रकृति के नियामक तत्त्वों एवं कारणों को स्पष्ट रूप से समझाने में असफल रहे क्योंकि सांख्य एवं वेदान्त दर्शन उन आवश्यक सिद्धान्तों, तत्त्वों दृष्टिकोणों एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों को प्रदान करने में असमर्थ रहे जिससे रस की साङ्गोपाङ्ग व्याख्या हो सकती थी।

भट्टनायक का यह मत कि रस न तो उत्पन्न होता है और न ध्वनित होता है—युक्तिसिद्ध नहीं है। क्योंकि उन्होंने स्वीकार किया है कि प्रेक्षक विभावादिकों के भावों का आनन्द लेता है। इससे स्पष्ट है कि प्रेक्षक में पहले भाव नहीं उत्पन्न थे, वे तुरत उत्पन्न हुए हैं और यदि प्रेक्षक में पहले से थे तो फिर वे ध्वनित किये गये हैं, किन्तु भट्टनायक प्रेक्षक में रस की स्थिति मान कर भी उसका उत्पन्न होना या ध्वनित होना नहीं मानते। क्योंकि उनकी दृष्टि में सहृदय जिन भावों का रस रूप में आस्वादन करता है वे उसके निज के स्थायी भाव नहीं अनुकार्य के साधारणीकृत स्थायी भाव हैं। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बात ठीक सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि सहृदय में जिस स्थायीभाव की कमी रहेगी या उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा वह विभावादिकों द्वारा उस स्थायीभाव की उपस्थिति होने पर भी उसका आस्वादन नहीं कर सकता। क्योंकि उसके हृदय में वह भाव ही नहीं उठ सकता। वस्तुतः किसी सामाग्रि द्वारा किसी भाव के आस्वादन का अर्थ उसके हृदय में उस भाव का उठना ही है। भोजन में भी आस्वादन का अर्थ भोक्ता में पूर्वकाल में अस्तित्व में आई रुचि या स्वाद की

संतृप्ति है। किन्तु भट्टनायक की रस-प्रक्रिया के प्रतिपादन में इस मनोवैज्ञानिक सत्य की अवहेलना की गई है।

भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार के जो कार्य भट्टनायक ने बताये हैं वे व्यंजना व्यापार से हो जाते हैं। जिन कारणों द्वारा भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की स्थापना की है उन्हीं से व्यंजना-व्यापार की भी स्थापना हो जाती है। और इस व्यंजना व्यापार का अस्तित्व भट्ट-नायक को भी स्वीकार करना पड़ा है। एक बार व्यंजना व्यापार का अस्तित्व मान लेने पर फिर भावकत्व एवं भोजकत्व दो अतिरिक्त व्यापारों के मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

भट्टनायक के रस-प्रक्रिया-विवेचन में रसानन्द की तुलना ब्रह्मानन्द से की गई है इससे काव्यानन्द के वैज्ञानिक विवेचन में गूढ़ता आ गई है। दर्शन जैसे आत्मानुभवप्रधान विषय में अलौकिक एवं अनिर्वचनीय जैसे शब्दों की उपयुक्तता भले ही हो किन्तु सौन्दर्यशास्त्र जैसे वैज्ञानिक विषयों की व्याख्या इन शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट न होकर और अधिक गूढ़ हो जाती है तथा उसका लौकिक एवं वस्तुगत स्वरूप उपस्थित नहीं हो पाता। उपर्युक्त कतिपय दोषों के रहते हुए भी भट्टनायक के विषय में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इन्होंने रस-प्रक्रिया की व्याख्या को एक निश्चित दिशा प्रदान की तथा रस-प्रक्रिया के अन्तिम आचार्य अभिनवगुप्त भी इनके बहुत ऋणी हैं। अभिव्यक्तिवाद की रस-व्याख्या के बहुत से विचार भुक्तिवाद के मतों पर अवलम्बित हैं। कहीं कहीं तो केवल शब्दों का अन्तर है, किन्तु उनके भीतर निहित विचार दोनों में एक ही प्रकार के हैं। जैसे भट्टनायक का अभिधा व्यापार एवं अभिनव गुप्त की वाक्यार्थ प्रतिपत्ति एक ही है। दोनों के साधारणीकरण के सिद्धान्त लगभग मिलते जुलते हैं। 'संविद्‌विश्रान्ति' को दोनों मानते हैं। भट्टनायक का रसभोग अभिनव की रसचर्वणा है।

अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त भरत-सूत्र के अन्तिम व्याख्याता थे। जैसा हम देखते

आ रहे हैं कि रस-सूत्रके प्रत्येक व्याख्याता ने अपने पूर्ववर्ती व्याख्याता की कमी को दूर करने का प्रयत्न करके रस-प्रक्रिया की व्याख्या की स्पष्टता में उत्तरोत्तर विकास लाने का प्रयत्न किया। अभिनव की व्याख्या अन्तिम होने के कारण सत्य के निकटतम है। ये भरतसूत्र के वास्तविक अर्थ को प्रायः उन्हीं के शब्दों में समझाने का प्रयत्न करते हुए तथा उनके विचारों के साथ सामंजस्य रखते हुए, रस-प्रक्रिया-विवेचन में कुछ निजी विचार देने में भी समर्थ दिखाई पड़ते हैं। रसवाद के पूर्ववर्ती तीनों मत रस-प्रक्रिया को यथार्थ ढंग से समझाने में असमर्थ रहे। उनमें कितने ही प्रकार के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोष निकाले गये, जिनका विवेचन पहले हो चुका है। अन्त में अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या में पूर्ववर्ती आचार्यों के दोषों का खण्डन करते हुए तथा व्यंजना-प्रक्रिया को रस-प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप कहते हुए अपने अभिव्यक्तिवाद को उपस्थित किया। काव्य के किन तत्त्वों से सहृदय में वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता, कल्पना-क्रिया एवं तादात्म्य की क्रिया प्रवर्तित होती है? काव्य के किन साधनों से विषय एवं विषयी साधारणीकरण(Universalization)की स्थिति प्राप्त करते हैं? नायक (अनुकार्य)के जीवन-गत रस से सहृदय को क्यों रस मिलता है? किस प्रक्रिया से सामाजिक के हृदय में रस पहुँचता है? रस-प्रकिया में भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार अनावश्यक क्यों हैं? काव्य में प्रेषणीयता की शक्ति कैसे आती है? करुणादि दुखात्मक भावों से आनन्द क्यों मिलता है? काव्यगत रस तथा सहृदयगत प्रतीति के बीच किसी अन्य व्यवधान को मानने की आवश्यकता क्यों नहीं है? रसावस्था में आत्मा का आनन्दात्मक स्वरूप किस प्रकार समाया है? आदि प्रश्नों का विश्वसनीय उत्तर अभिनव गुप्त ने अपनी रस-व्याख्या में प्रस्तुत किया।

सहृदय के मन में कुछ वासनायें संस्कार रूप में जन्म के साथ ही सुपुप्त रूप में मिलती हैं। इनसे शून्य कोई प्राणी नहीं होता। यह दूसरी बात है कि किसी में कोई वासना प्रबलतर तथा किसी में

कोई निर्बलतर रूप में रहती है[१]। परिस्थितियों के अनुसार वे उत्पन्न, विकसित तथा प्रशमित होती रहती हैं। इन्हीं के कारण बच्चा पैदा होते ही अपने पालन हेतु माँ के दूध को खोजने लगता है। किसी प्रकार की प्रतिकूल दशा उत्पन्न होते ही रोने लगता है, कुछ बड़ा होने पर भयानक वस्तुओं से डरने लगता है तथा अनुकूल परिस्थिति पाने पर हँसने लगता है। अर्थात् वह जन्म से ही सहज रूप में सुख का अभिलाषी तथा दुख का विद्वेषी होता है। इसी को दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि यह राग-द्वेष की भावना जन्म से ही लेकर पैदा होता है[२]। सत् के प्रति अनुराग की वृत्ति रति का रूप धारण करती है; असत् के प्रति अरुचि की वृत्ति जुगुप्सा का। प्रत्येक मनुष्य में अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझने की भावना सहज रूप में विद्यमान रहती है। इसी कारण वह प्रायः दूसरों का उपहास करने में आनन्द लेता है। दूसरों को अपने से हीन समझकर उन पर हँसने की प्रवृत्ति ही हास नामक स्थायी भाव को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों के विषय में भी समझिए। इन स्थायी भावों का विवेचन रस-स्वरूप नामक अध्याय के अन्तर्गत हो चुका है; अतः उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। अभिनवगुप्त के स्थायी भावों के स्वरूप को समझने के लिए उनकी सामान्य विशेषतायें सूत्र-रूप में नीचे दी गई हैं।

(१) अभिनवगुप्त निरूपित स्थायी भावों के भीतर मनोवृत्ति, भाव तथा सहचर भावनाओं का समावेश दिखाई पड़ता है। इसीलिए उन्होंने स्थायीभाव को कहीं वासना, कहीं संविद् तथा कहीं चित्तवृत्ति नाम से अभिहित किया है।

१—जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति......न ह्येतच्चित्तवृत्ति वासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। (अभिनव भारती पृ० २८४)

२—दुख संश्लेषविद्वेषी सुखास्वादन सादरः। (अभिनवगुप्त)

(२) स्थायीभाव वासना-रूप में सभी प्राणियों में स्वयंसिद्ध रूप में रहते हैं।

(३) प्राणी के जन्म के साथ ही स्थायीभाव उसकी मानसिक-निर्मित के प्रधान तत्त्वों के रूप में आ जाते हैं।

(४) रस-प्रक्रिया में स्थायीभाव का ही साधारणीकृत (generalised) रूप में आस्वादन होता है।

(५) स्थायीभाव पुरुषार्थ साधक होते है। रति भाव काम साधक होता है तथा वह तदनुषंगिक धर्म, अर्थ पर प्रतिष्ठित होता है; क्रोध प्रायः अर्थ निष्ठ होता है। उत्साह का पर्यवसान प्रायः अर्थ, काम एवं धर्म में होता है। वीभत्स एवं भय प्रायः धर्म साधक रूप में आते हैं। शान्त मोक्ष की प्राप्ति कराता है।

सामाजिक के मन में सुपुप्त रूप में स्थित ये ही स्थायीभाव काव्यगत विभावादिकों के साधारणीकृत रूप से वासना-संवाद के कारण निर्वैयक्तिक रूप में जगकर संविद विश्रान्ति (satisfying experience) की सृष्टि करते हैं। यही संविद् विश्रान्ति आनंद की जननी होती है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में संविद् विश्रान्ति-जन्य आनन्दही साहित्यशास्त्र में रस नाम से अभिहित होता है। ये स्थायीभाव विभावादिकों के हट जाने पर पुनः सुषुप्त हो जाते हैं। इनका विनाश नहीं होता। इसीलिए इन्हें स्थायीभाव कहते हैं। अभिनव के मत में रसास्वाद का अधिकारी सहृदय[1] ही होता है। इसकी विशेषताओं का विवेचन कई बार हो चुका है। अतः यहाँ पुनः दुहराने की आवश्यकता नहीं। सहृदय नट के माध्यम से रस का आस्वाद नहीं करता। वह न तो नट में आरोपित रस से आनंदित होता है और न अनुमित रस से; और न वह नायक के साधारणीकृत भाव का भोग कर आनंदित होता है, वरन् वह अपने

---

१ (क) विमल प्रतिभानशालिहृदयः। (लोचन)

(ख) येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूतेमनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः। (वही)

ही भावों का निर्वैयक्तिक (impersonal) रूप में आस्वादन कर आनन्दित होता है। अभिनवगुप्त रसवाद के अन्य पूर्ववर्ती आचार्य-द्वय (भट्टलोल्लट एवं श्री शंकुक) के समान काव्य एवं सहृदय की रस-प्रतीति के बीच किसी आन्तर्वर्ती स्थिति को नहीं मानते। अभिनवगुप्ताचार्य भट्टनायक निरूपति भावना एवं भोग के व्यापार को शब्द-व्यापार मानना निर्मूलकल्पना समझते हैं।[1] भरत के समान इनकी दृष्टि में भी भावकत्व तो भावों का अपना गुण है।[2] और रस में भोग का भाव पहले से ही विद्यमान है।[3] अतः भावकत्व एवं भोजकत्व को अलग व्यापार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः भावना एवं भोग व्यापार की सिद्धि व्यंजना-व्यापार द्वारा हो जाती है।[4] इसी कारण आचार्य अभिनवगुप्त भट्टनायक के साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार कर के भी उसे भावना का व्यापार न मानकर, व्यंजना का विभावन व्यापार सिद्ध करते हैं। अभिव्यक्तिवाद के मत में विभावों का कार्य है—अङ्कुरदशार्पणम् (process of bringing a germ to the status of a sprout), अनुभाव का कार्य है—अनुभवयोग्यता-संपादनम् (process of making a thing fit to be enjoyed), तथा व्यभिचारी भाव का कार्य है—सुप्रकटत्व संपादनम् (process of making a thing fully visible)। स्थायीभाव जब तीनों की संश्लिष्ट सम्मिलित सहायता से अभिव्यक्त होता है तब चर्वणायोग्य होता है।

---

१ न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्—भोगोऽपि न काव्य शब्देन क्रियते। (लोचन पृष्ठ ७०)

२ काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। (भरतमुनि)

३ आस्वाद्यत्वाद्रसः।

४—ज्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति भोगकृतं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे सिद्ध्येत् भोगीकरणव्यापारश्च काव्यात्मक रस विषयो (काव्यस्य रसविषयो) ध्वननात्मैव।

अलौकिके......भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः।
(लोचन पृ० ७०)

अभिनव गुप्त की दृष्टि में भरत-सूत्र में प्रयुक्त संयोग शब्द का अर्थ अनुकार्य की दृष्टि से व्यंग्य-व्यंजक-भाव सम्बन्ध है। अनुकार्य के स्थायीभाव व्यंग्य होते हैं; और विभावादिक उसके व्यंजक। सामाजिक के स्थायीभाव की दृष्टि से इस शब्द का अर्थ है प्रकाश्य-प्रकाशक भाव सम्बन्ध। स्थायीभाव के साथ विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारी भावों के सामूहिक संश्लिष्ट सम्बन्ध को संयोग कहते हैं; उनमें से प्रत्येक के पृथक् पृथक् सम्बन्ध को नहीं। अनुकार्य की दृष्टि से निष्पत्ति का अर्थ है भावों की अभिव्यक्ति; और सामाजिक की दृष्टि से इस शब्द का अर्थ है स्थायीभावों का रस रूप में प्रकाशन एवं आस्वाद। पूरे सूत्र के प्रसंग की दृष्टि से निष्पत्ति का अर्थ है व्यंग्य। अर्थात् काव्य के विभावादिक अभिव्यंजक होते हैं एवं रसिक के स्थायीभाव अभिव्यंग्य। इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में भरत के रस-प्रक्रिया सम्बन्धी सूत्र—"विभावानुभावव्यभिचारीभावसंयोगाद्रसनिष्पत्ति" का अर्थ हुआ—काव्य या नाटक में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की सामूहिक संश्लिष्ट शक्ति से पहले नायक (अनुकार्य) के स्थायीभाव रस रूप में व्यंजित होते हैं, फिर उन्हीं को काव्य द्वारा पढ़ या सुनकर अथवा नाटक में अभिनय रूप में देख कर सहृदयों के सुपुप्त स्थायीभाव काव्यगत विभावादिकों के साधारणीकृत रूप से वासना-संवाद के कारण निर्वैयक्तिक रूप में अभिव्यक्त होकर संविदविश्रान्ति (satisfying experience) की सृष्टि द्वारा आनन्द का आस्वाद कराते हैं। यही संविदविश्रान्तिजन्य आनन्द साहित्यिक पदावली में रस—कहा जाता है। आस्वाद ही रस का प्राण होता हैं।[१] अभिनव-गुप्त की दृष्टि में रसानुभूति जीवन की अन्य सामान्य अनुभूतियों से अपनी सामाजिकता, उदात्तता, निर्वैयक्तिकता आदि के कारण विशिष्ट कोटि की होती है। रसानुभूति में सौन्दर्य के उन विचारों का प्रत्यभिज्ञान होता है जिनमें जीवन की वास्तविकता निहित रहती है।

१—तन्मयीभावोचित चर्वणाप्राणतया। (अभिनव भारती पृष्ठ २८६)

सौन्दर्यसम्बन्धी इन विचारों के प्रत्यभिज्ञान-काल में सहानुभूति का व्यापार स्वतंत्र रूप से अपना क्षेत्र विस्तृत कर लेता है। इसी कारण रसानुभूति-काल में सहृदय का दृष्टिकोण बदल जाता है; उसके मन का विस्तार हो जाता है; वह मानवता की उच्च भूमि पर विचरण करने लगता है।

काव्य में भाव, घटना, पात्र, परिस्थिति, दृश्य आदि वर्ण्य रूप में आते हैं। इन्हीं से रस व्यंजित होता है। सहृदय अपनी कल्पना द्वारा विभावादिकों का ऐसा साधारणीकृत संश्लिष्ट चित्र मन में लाता है कि उससे उसका स्थायी भाव निर्वैयक्तिक रूप में ध्वनित होने लगता है। रस किसी भी दशा में शब्दविशेष या अर्थविशेष से वाच्य या बोध नहीं होता। वह ध्वनित या सूचित ही होता है। रसवाची शब्दविशेष से वाच्य होने पर तो स्वशब्दवाच्यत्व दोष आ जाता है। अर्थविशेष रस के साधनों का स्पष्टीकरण भर कर सकते हैं। रस तो उन साधनों के साधारणीकृत होने से ध्वनित होता है। इसीलिए रस की प्रक्रिया व्यंजनात्मक मानी गई है।

अभिनवगुप्त-निरूपित रस-प्रक्रिया की स्पष्टता के लिए रसिक के रसास्वादन-काल की विभिन्न मानसिक स्थितियों का ज्ञान आवश्यक है। इसके लिए अभिनव भारती में वर्णित रस-प्रक्रिया की विभिन्न मानसिक स्थितियों का विश्लेषण नीचे किया जाता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में रसिक के रसास्वादन काल की प्रथम मानसिक स्थिति 'वाक्यार्थ प्रतिपत्ति'[१] है। इस मानसिक अवस्था में सहृदय नाटक देखते या काव्य पढ़ते समय पात्रों को अपने दृष्टिपथ के सामने घूमता हुआ देखता है। इस समय वह उन्हें विशिष्ट देश, काल, नाम आदि उपाधियों से युक्त पाता है। तदन्तर उनकी विशिष्ट मानसिक स्थिति सहृदय के

१—तस्य च—वाक्यार्थ प्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका......

मनमें आती है। द्वितीय मानसिक स्थिति तन्मयता[1] की है। इसी को बाह्यविषयपराङ्मुखता या वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता कहते हैं। पात्रों की विशिष्ट मानसिक स्थितियों की प्रेरणा तथा काव्य एवं नाटक के विभिन्न साधनों—अलंकार, रीति, वृत्ति, गुण, संगीत, अभिनय आदि से रसिक को तन्मयता की स्थिति प्राप्त होती है। तन्मयता की स्थिति में रसिक की व्यक्तिनिष्ठता वर्तमान रहती है[1]। रसिक के हृदय की व्यक्ति-निष्ठता साधारणीकरण की स्थिति में दूर होती है। इस तन्यमता की स्थिति में उठे स्थायीभाव वैयक्तिक कोटि के होते हैं। तृतीय स्थिति साधारणीकरण की है। इस तृतीय मानसिक स्थिति में कल्पना का स्वतंत्र व्यापार आरंभ होता है। कल्पना के स्वतंत्र व्यापार द्वारा सहृदय विभावादिकों का साधारणीकृत रूप निर्मित करने में समर्थ होता है। कल्पना द्वारा निर्मित विभावादिकों का साधारणीकृत रूप देश, काल, व्यक्ति आदि उपाधियों का तिरस्कार करने के कारण अलौकिक हो जाता है[2]। यहाँ स्मरण रखने की बात है कि सामान्य जीवन के हमारे विभावादिक लौकिक होते हैं क्योंकि उनमें देश, काल आदि उपाधियों के कारण वैयक्तिकता रहती है। कल्पना के स्वैरविहार के साथ साथ सहृदय के मनमें तादात्म्य की क्रिया भी चलती रहती है। तादात्म्य की क्रिया से सहृदय का हृदय भी विस्तृत हो जाता है; उसकी व्यक्तिनिष्ठता जाती रहती है। वह भी साधारणीकृत स्थिति में पहुँच

१—रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥
(अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत)

२—वाक्येभ्यो वाक्यार्थं प्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकापहसित-तत्तद्वाक्योपात्त कालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।

जाता है। साधारणीकरण से उपलब्ध अनुभव को अभिनवगुप्त "वीत-विघ्नाप्रतीतिः" मानते हैं—सर्वथा रसनात्मवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्योभाव एव रसः। इनकी दृष्टि में रसानुभूतिबाधक सात विघ्न हैं। अभिनवगुप्त की रस-प्रक्रिया को ठीक-ठीक समझने के लिए इन विघ्नों का वर्णन नीचे दिया जाता है:—

(१) प्रथम विघ्नः—प्रतिपत्तावयोग्यतासम्भावनाविरहः है। औचित्य एवं संभाव्य का अभाव इस विघ्न का मूल तत्त्व है। पिछले अध्यायों में कई बार कहा जा चुका है कि औचित्यभंग रसभंग का मूल कारण होता है। औचित्य एवं संभाव्य की रक्षा के लिए ही नाटकों में नायक को लोकधर्मी होना आवश्यक बतलाया गया है।

(२) द्वितीय विघ्नः—स्वगतपरगतनियमेनदेशकालविशेषावेशः। वर्ण्य या भाव में स्वनिष्ठता या परनिष्ठता का ही प्रतिबिम्ब इस विघ्न का मूल तत्त्व है। इस विघ्न को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि सहृदय नाटक में जो कुछ देखता है या काव्य में पढ़ता है उसमें न केवल उसकी व्यक्तिनिष्ठता प्रतिबिम्बित हो और न केवल परनिष्ठता वरन् उसमें सबके हृदय का संवाद दिखाई पड़े। पात्रों का परिचय प्रस्तावना में दिया जाता है, उनकी व्यक्ति निष्ठता को ढकने के लिए ह नाट्यधर्म का पालन किया जाता है।

(३) तृतीय विघ्नः—निजसुखदुखादिविवशीभावः। इस विघ्न के अनुसार सहृदय का हृदय अपने वैयक्तिक सुख-दुखों से आबद्ध रहता है। इस विघ्न को दूर करने के लिए सहृदय में तन्मयता का आना आवश्यक है। नाटक में संगीत, नृत्य, अभिनय, वेशादि से तथा काव्य में अलंकार, रीति, वृत्ति, गुण आदि से सहृदय में तन्मयता लाई जाती है। इसी तन्मयता को लाने के लिए नाट्यतत्वों तथा काव्य-तत्त्वों की रक्षा नाटक तथा काव्य दोनों में आवश्यक बतलाई गई है।

(४-५) चतुर्थ तथा पंचम विघ्नः—प्रतीत्युपायवैकल्यम् तथा स्फुट स्वाभावः। इस विघ्न का मूल तत्त्व भावों की तुरत अनुभूति करानेवाले

साधनों का अभाव है। इस विघ्न से बचने के लिए काव्य में प्रचलित प्रतीकों का प्रयोग हो, आर्ष या पारिभाषिक पदों का उपयोग न हो, अलंकारों के जमघट में भाव छिप न जायँ। इस विघ्न को दूर करने के लिए ही नाटक में नाट्यधर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्ति का प्रयोग किया जाता है।

(६) छठाँ विघ्न अप्रधानता का है। काव्य में मुख्य तत्त्व को गौण बना देने से यह विघ्न उत्पन्न होता है। काव्य में स्थायीभाव की अभिव्यक्ति प्रधान तत्त्व है। विभाव, अनुभाव तथा संचारी, गौण तत्त्व अर्थात् साधन है। काव्य में जहाँ साधनों को प्रधान स्थान मिले तथा साध्य को गौण वहाँ यह दोष उत्पन्न होता है।

(७) सप्तम विघ्नः—संशय योग है। काव्य में स्थायीभाव को बिना स्पष्ट किये ही जहाँ केवल अश्रु नामक अनुभाव का वर्णन होगा वहाँ सहृदय यह निश्चित करने में असमर्थ सिद्ध होगा कि यह आँसू करुणा का है या भय का है अथवा आनन्द का है। इसी प्रकार जहाँ केवल व्याघ्र नामक आलम्बन चित्रित रहेगा, उसका आश्रय, उद्दीपन, अनुभाव संचारी तथा स्थायी का चित्रण नहीं रहेगा वहाँ यह पता नहीं चल सकता कि यह आलम्बन क्रोध की अभिव्यक्ति के लिए चित्रित किया गया है अथवा विस्मय की व्यंजना के लिए अथवा भय को उद्बुद्ध करने के लिए। संशय योग को दूर करने के लिए ही भरत मुनि ने विभाव अनुभाव तथा संचारी का संयोग स्थायी के साथ आवश्यक बतलाया है।

यह हम पहले कह चुके हैं कि साधारणीकरण की प्रक्रिया से काव्य के विभावादि साधारणीकृत एवं अलौकिक स्थिति में पहुँच जाते हैं। इस समय विभावादिक एक विशिष्ट सौन्दर्य के रूप में सहृदय के साधारणीकृत हृदय-पट पर झूलने लगते हैं। रस के विभिन्न अवयव सहृदय की कल्पना-प्रक्रिया में पड़ कर एक अखण्ड संश्लिष्ट सौन्दर्य के अंग बन जाते हैं। यह अखण्ड सौन्दर्य निर्वैयक्तिक होने के कारण अलौकिक कहा जाता है। इस अलौकिक सौन्दर्य से सहृदय के तत्संवादी

सुप्त स्थायीभाव उसके साधारणीकृत हृदय में 'वासना-संवाद' के कारण निर्वैयक्तिक रूप में जगते हैं। निर्वैयक्तिक रूप में जागरित स्थायी भावों के आस्वादन से सहृदय को 'संविद विश्रान्ति' (अलौकिक तृप्ति) मिलती है। यह अलौकिक तृप्ति ही आनन्द की जननी या 'रस-प्रतीति' की विधातृ होती है। इस प्रकार साधारणीकरण के पश्चात् सहृदय के मन में एक अखण्ड अलौकिक सौन्दर्य की अनुभूति; तदनन्तर इससे उत्पन्न साधारणीकृत स्थायी भावों के आस्वादन से सहृदय को 'संविद विश्रान्ति' मिलती है। 'संविद विश्रान्ति' के पश्चात् रसानन्द या 'रसप्रतीति' की स्थिति आती है।

अभिव्यक्तिवाद के सम्यक् ज्ञान के लिए अभिनवगुप्त-निरूपित रसानुभूति की कतिपय विशेषताओं तथा तज्जन्य साहित्य-सिद्धान्तों का उल्लेख यहाँ संक्षेप में किया जाता है।

(१) काव्य तथा नाटक दोनों से एक ही प्रकार का रस उद्भूत होता है। और उस रस के उद्भूत होने की प्रक्रिया भी एक ही है।

(२) रस-प्रकृत्या व्यंजनीय है।

(३) काव्य में भाव, घटना, पात्र, परिस्थिति आदि साधन रूप में आते हैं। इनसे व्यंजित होने वाला रस ही काव्य का साध्य है।

(४) भारतीय काव्य का उद्देश्य भावनाओं, घटनाओं, पात्रों तथा परिस्थितियों का चित्रण नहीं वरन् उनके द्वारा तथा उनके उचित संयोग से निर्वैयक्तिक तृप्तिदायक आनन्द युक्त रस की सृष्टि करना है।

(५) रस ही काव्य की आत्मा है। ध्वनि तो रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है। इस प्रकार इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त को रस-सिद्धान्त से संयुक्त कर दिया है।

(६) रसानन्द की आत्मा रस-चर्वणा है।

(७) जब केवल स्थायी भाव (native mental state) से सहृदय का मन प्रभावित होता है तो वह अवस्था आनन्दावस्था से निम्नतर कोटि की होती है। क्योंकि रसावस्था में विषय (विभावादिक) एवं

विषयी (सहृदय) दोनों के साधारणीकृत होने की प्रक्रिया पूर्णता की स्थिति को पहुँच जाती है ।

(८) अभिनवगुप्त का रस सिद्धान्त तैत्तिरीय उपनिषद् के "रसो वै सः" के सिद्धान्त के अनुरूप दिखाई पड़ता है तभी तो रसावस्था में आत्मा को अपने आनन्दात्मक रूप में प्रकटित होती हुई मानते हैं ।

(९) रसानुभूति में सौन्दर्य सम्बन्धी उन विचारों का प्रत्यभिज्ञान होता है जिनमें जीवन की सची वास्तविकताएँ निहित रहती हैं । इस प्रकार रसानुभूति से सहृदय सच्चे सौन्दर्य एवं परम वास्तविकता सामीप्य लाभ करता है । अभिनवगुप्त निरूपित सौन्दर्य तन्मयीभवन कोटि का होता है । इसीलिए सहृदय सौन्दर्य के गुणों में तन्मय हो जाता है ।

(१०) काव्य या नाटक के भाव विश्वजनीन रूप में सहृदय द्वारा आस्वादित होते हैं । रसानुभूति में सहानुभूति का स्वतंत्र-व्यापार संचालित रहता है । अतः रसानुभूति से सहृदय का मानसिक धरातल सदा उच्चता प्राप्त करता रहता है ।

(११) सहृदय अपने हृदय में स्थित स्थायीभावों के साधारणीकृत रूप का आस्वादन रसावस्था में करता है । अतएव रसानुभूति से उसकी व्यक्तिबद्धता सदा कम होती रहती है ।

(१२) अभिनवगुप्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य जन्म से ही सुख का अभिलाषी एवं दुख का विद्वेषी होता है । इस प्रकार उसके जीवन का उद्देश्य सुख की प्राप्ति एवं दुख से निवृत्ति के रूप में निमित होता है । काव्य उसे सदा सुख का मार्ग बताकर तथा रसानुभूति रूप में आनन्द प्रदान कर उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है ।

(१३) काव्य औचित्य एवं लोक-धर्म की भूमिका पर प्रतिष्ठित है ।

(१४) लौकिक शोक, भय, घृणा आदि दुखात्मक भावों से व्यक्तिबद्धता के कारण सामान्य जीवन में दुख होता है; किन्तु नाटक या काव्यगत प्रतिष्ठित शोक, भय, घृणा आदि दुखात्मक भाव सामाजिक होते हैं । वे सहृदय के हृदय में साधारणीकृत रूप में आस्वादित होते हैं अतः

आस्वादन काल में व्यक्तिवद्धता नष्ट होने के कारण उनसे अलौकिक तृप्ति मिलती है। इस प्रकार से शोक भय, घृणा आदि भाव सहृदय के आस्वादन काल में उसकी तटस्थता, व्यक्तिमुक्तता, परम सामाजिकता तथा संविद्विश्रान्ति के कारण आनन्ददायक प्रतीत होते हैं।

अभिनवगुप्त भरत के रस-सूत्र की व्याख्या में सत्य के निकटतम होते हुए भी अभिव्यक्तिवाद के रस सम्बन्धी सिद्धान्तों के निरूपण में दोष से बिल्कुल ही रहित नहीं हैं। इनके रस सिद्धान्तों के निरूपण में मनोव्यापार के अतिरिक्त आध्यात्मिक व्यापार का भी आश्रय लिया गया है। रस के अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों के समान अभिनवगुप्त भी रस-विवेचन में अपने दार्शनिक मत—शैवाद्वैत के सिद्धान्त के पूर्वग्रह से ग्रहीत थे। रस-प्रक्रिया को स्पष्ट करने में यत्र तत्र इन्होंने भी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों से काम लिया है। काव्य वस्तुओं के ग्रहण या अनुभव के समय सहृदय में वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता आ जाती है। अभिनवगुप्त का यह सिद्धान्त भी सर्वत्र प्रयुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि तन्मयता की घड़ी में सहृदय काव्यगत पात्रों, घटनाओं, परिस्थितियों तथा दृश्यों के समान ही अपने अनुभव में आये अतीतकालीन दूसरे पात्रों, घटनाओं, परिस्थितियों तथा दृश्यों को अपनी स्मृतियों के सहारे अपने मानस-पटल पर लाने में समर्थ होता है। ऐसी स्थिति में वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता कैसे रहेगी ? अभिनवगुप्त के मतानुसार साधारणीकरण की क्रिया के पश्चात् सहृदय का मन विस्तृत होता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचने पर यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती। क्योंकि सहृदय का मन ही साधारणीकरण की स्थिति लाता है, विभावादिकों का साधारणीकृत रूप उपस्थित करता है। जब तक उसका मन विस्तृत नहीं होगा तब तक वह विभावादिकों के साधारणीकृत रूप की कल्पना नहीं कर सकता। जब तक मन विशद नहीं होगा तब तक उसमें काव्यगत वस्तुओं का विश्वजनीन रूप प्रविष्ट कैसे होगा ? अभिनवगुप्त ने सब रसों की परिणति शान्त रस में सिद्ध की है और इसी रस को सर्वप्रधान रस सिद्ध करने का प्रयत्न किया

है। यह सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है। प्रवृत्तिमार्गी लौकिक जीवन में शान्त रस की प्रधानता का अर्थ है जीवन में निर्वेद को सर्वप्रमुख स्थान देना। सभी स्थायी भावों की परिणति निर्वेद में करने का अर्थ है सब भावों के भीतर निर्वेद की सत्ता सिद्ध करना। किन्तु व्यावहारिक जीवन में यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। प्रवृत्तिमार्गी लौकिक जीवन में रति या उत्साह की प्रधानता हो सकती है निर्वेद की नहीं। सभी भावों के भीतर रति या उत्साह का संचरण सिद्ध किया जा सकता है निर्वेद का नहीं। अतः शान्त रस को सर्वप्रधान रस मानना तथा इसी के भीतर सब रसों की परिणति सिद्ध करना अवैज्ञानिक प्रतीत होता है। किसी नाटक या महाकाव्य में प्रतिनायक या उसके पक्ष के पात्रों के साथ तादात्म्य कैसे होगा। इसे भी अभिनवगुप्त ने नहीं बताया। अभिव्यक्तिवाद में उपर्युक्त कतिपय दोषों के रहते हुए भी अभिनवगुप्त-निरूपित रस-प्रक्रिया बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के परवर्ती रसवादी आचार्य—जैसे, धनंजय, मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ इसी को अपना कर चले हैं। इनमें से कुछ आचार्यों ने अपने रस सम्बन्धी मत को बहुत ही विस्तार से विवेचित करने का प्रयत्न किया है किन्तु जहाँ तक रस-प्रक्रिया के विवेचन का प्रश्न है वहाँ तक किसी परवर्ती आचार्य ने उसमें कोई विशेष नवीनता या वैज्ञानिकता लाने में सफलता प्राप्त नहीं की।

———

रस की व्याप्ति तथा महत्त्व

इधर जब से मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक समीक्षा-पद्धतियों का प्रसार हुआ है तब से उनके समर्थक कहने लगे हैं कि भारतीय समीक्षा पद्धतियाँ रूढ़िवादी हैं; उनका क्षेत्र बहुत संकीर्ण हैं; वे मध्यवर्गीय या सामन्तवादी प्रवृत्तियों की उपज हैं ; उनसे मनुष्य जीवन की वास्तविकता की परख या खोज नहीं हो सकती, साम्प्रत जीवन की जटिलताओं के रहस्य का उद्घाटन उनसे नहीं हो सकता; काव्य के विभिन्न तत्त्वों की उनमें उचित व्यवस्था नहीं है। इन आलोचकों का कहना है कि आधुनिक युग में आविष्कृत काव्य के कई रूपों—जैसे, निबन्ध, उपन्यास, कहानी, गद्य गीत, एकांकी आदि की आलोचना उनसे नहीं हो सकती। उक्त सभी आक्षेप रसवादी सैद्धान्तिक समीक्षा पर भी लगाये जाते हैं। उक्त दोषों के निराकरण के लिए ही रस की व्याप्ति तथा महत्त्व का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। रस का सम्बन्ध काव्य के अन्य तत्त्वों—अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य से पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है; साथ ही रस-प्रक्रिया के विवेचन के समय भी यह बताया जा चुका है कि रस प्रक्रिया की द्वितीय मानसिक अवस्था—तन्मयता—के लाने में काव्य के उपर्युक्त तत्त्व किस प्रकार सहायक सिद्ध होते हैं। ध्वनि सम्प्रदाय नामक अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कवि रसावस्था में अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, औचित्य, वक्रोक्ति आदि का प्रयोग सहज रूप में ही कर लेता है। अब रस की व्याप्ति समझने के लिए सर्वप्रथम उसके विभिन्न तत्त्वों की व्याप्ति का ज्ञान करना आवश्यक है। रस-स्वरूप नामक अध्याय में यह बताया जा चुका है कि स्थायीभाव के संगठन के भीतर मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ, उनकी सहचर भावनायें, उनकी साधित भावनायें तथा विचार भी आते हैं। नाटक, उपन्यास, कहानी, प्रबन्धकाव्य, खण्डकाव्य में पात्र अपने किसी न

किसी वैयक्तिक या सामाजिक कार्य में प्रवृत्त होते हैं। इन कार्यों के भीतर उनका विशिष्ट कोटि का स्वभाव, व्यवहार एवं चरित्र चित्रित रहता है। इन पात्रों के स्वभाव, व्यवहार एवं कार्य से ही घटनायें घटित होती हैं। मनुष्य अपनी किसी न किसी सहज प्रवृत्ति के कारण अपने वैयक्तिक या सामाजिक कार्य में तल्लीन होता है। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया, व्यापार, चेष्टा का स्रोत किसी न किसी प्रवृत्ति में ढूँढ़ा जा सकता है। मनोविश्लेषणवादी समीक्षक भी इन्हीं दबी, कुचली या अन्धकार में पड़ी सहज प्रवृत्तियों का पता लगाते हैं। वे काम प्रवृत्ति को सब कार्यों का केन्द्र मानते हैं। मार्क्सवादी समीक्षक मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्तियों को ही सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण प्राणी अपने निकट की वस्तुओं पर अपना लक्ष्य केन्द्रित करता है। इन्हीं के कारण दूसरे व्यक्ति या वस्तु से प्रभाव ग्रहण करता है। सहज प्रवृत्तियों का जीवन-प्रयत्न से सीधा एवं प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसी कारण स्थायीभाव अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष—सभी पुरुषार्थों के साधक माने गये हैं। स्थायीभाव ही मनुष्य को इच्छा, प्रयत्न एवं संकल्प की ओर प्रेरित करते हैं। इन्हीं सहज प्रवृत्तियों के संचालित होने पर जीवन में घटनायें घटित होती हैं। इन्हीं सहज प्रवृत्तियों में से किसी एक की प्रबलता अथवा निर्बलता के आधार पर मनुष्य में वृत्तिवैशिष्ठ्य आता है। सभी सहज प्रवृत्तियाँ मिल कर मनुष्य के स्वभाव की रचना करती हैं, तब वृत्तिवैशिष्ट्य उसके चरित्र को एक विशेष मोड़ देता है, अर्थात् सहज प्रवृत्तियों के अनुसार मनुष्य का स्वभाव, स्वभाव के अनुसार उसका व्यवहार, एवं व्यवहार के अनुसार उसका चरित्र बनता है। काव्यगत पात्र आलम्बन या आश्रय में से किसी न किसी एक रस-साधन का काम करते हैं। ये ही पात्र तथा उनके चरित्र, स्वभाव, कार्य-व्यवहार, भाव, विचार एवं इनसे उद्भूत घटनायें तथा परिस्थितियाँ ही प्रायः काव्य की वर्ण्य बनती हैं। आलम्बन को गुण, अलंकार, चेष्टा, दुख, भाव आदि उद्दीपन के भीतर आते हैं। काव्य के पात्र आसमान में खड़े नहीं किये जा सकते।

अतः उन्हें एक विशेष स्थान पर रखते ही काव्य में वातावरण या परिस्थिति का निर्माण हो जाता है, जिसे रस की पारिभाषिक पदावली में तटस्थ उद्दीपन कहते हैं। सभी अनुभाव, भाव—संसूचनात्मक विकार हैं जो शरीर या मन पर प्रगट होते हैं। अल्पकालिक शारीरिक मानसिक अवस्थायें, मन के क्षणिक वेग अन्तःकरण की क्षणिक कोटि की वृत्तियाँ संचारी के भीतर आती हैं। अतः यदि रस तत्त्व को काव्य में से निकाल दीजिए तो पात्र, चरित्रचित्रण-भाषा, (संवाद) कार्य, घटना, परिस्थिति वातावरण, विचार, सिद्धान्त, सन्देश, काव्य सत्य—प्रायः सभी काव्य-तत्त्व निकल जायँगे। रस तत्त्व की सहायता के बिना न तो कवि अपनी रचना में प्रवृत्त हो सकता है और न सामाजिक उसका आनन्द ले सकता है और न उसकी सहायता बिना किसी काव्य-रूप की सत्ता अस्तित्व में आ सकती है। प्रत्यक्ष जीवन में जिन मद, मोह, लोभ, राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, करुणा आदि भावनाओं से प्रेरित होकर हम साधारण प्राणी विशिष्ट व्यवहार करते हैं, उन्हीं भावनाओं के कभी, सामान्य तथा कभी असामान्य रूप से प्रेरणा पाकर कवि-गण वाणी के माध्यम से अपना विशिष्ट व्यवहार काव्य-रूप में प्रगट करते हैं। उपर्युक्त सभी भावनायें स्थायीभाव या भाव के भीतर आती हैं। रसिक भी उन्हीं भावों से युक्त होने के कारण अपने हृदय-संवाद को पाकर आनन्दित होता है। भावनाओं का तार सब में एक ही सा होने के कारण कहीं भी स्पर्श होने पर एक ही सा आनन्द रसिक को मिलता है। अतः यदि रसतत्त्व काव्य में से हटा दिया जाय तो सहृदय का हृदयसंवादी अर्थ उसकी भावनाओं को स्पर्श करने वाला तार काव्य में प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा। परिणाम यह होगा कि फिर उस रस हीन काव्य को कोई पढ़ने या सुनने ही नहीं जायगा। इतना ही नहीं; रस के आत्यन्तिक अभाव में न तो कवि जगत और जीवन से प्रेरणा पा सकता है और न सहृदय कविता के आस्वादन से समर्थ हो सकता है। तात्पर्य यह कि रस के अभाव में कवि, सहृदय, काव्य—किसी का भी अस्तित्व साहित्य जगत में संभव नहीं।

रस के महत्त्व की स्पष्टता के लिए अब हमें यह देखना है कि काव्य के किसी रूप की समीक्षा रसवाद को अपनाये बिना आरंभ ही नहीं हो सकती। प्रबन्ध काव्य के भीतर पात्र, चरित्रचित्रण, घटनायें परिस्थितियाँ, वातावरण, भाव, जीवन-सत्य आदि तत्त्व आते हैं। पात्र के कार्य, प्रतिक्रिया, स्वभाव, व्यवहार, चरित्रचित्रण, वृत्तिवैशिष्ट्य, भाव, इच्छा, प्रयत्न संकल्प, पुरुषार्थ आदि के विवेचन में रस की सहायता—विशेषतः उसके स्थायीभाव के तत्त्वों के कार्य, प्रभाव, प्रसार एवं परिणाम की—लेनी पड़ती है। पात्रों का विचार, आलम्बन या आश्रय की दृष्टि से करना पड़ेगा। उनके कार्यों एवं स्वभावों के भीतर सहज प्रवृत्तियों के प्राकृतिक तथा उदात्त स्वरूप का पता लगाना पड़ेगा। उनके व्यवहार एवं चरित्र में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करनेवाले वृत्ति वैशिष्ट्य (master sentiment) से अवगत होना पड़ेगा। यदि आलम्बन का कोई गुण, चेष्टा, अलंकार, भावों को प्रदीप्त करता है तो उसकी ठीक परख रस के उद्दीपन नामक तत्त्व द्वारा ही हो सकेगी। महाकाव्य अथवा उपन्यास में चित्रित सागर, सरिता, बन, पहाड़ ऋतु, विद्युत आदि प्रकृति के विभिन्न अवयव तटस्थ उद्दीपन अथवा कभी कभी आलम्बन के भीतर आयेंगे। अतः इनकी परीक्षा रसके इन्हीं तत्त्वों की दृष्टि से करने में कवि की सफलता अथवा असफलता का ठीक निर्णय हो सकेगा। प्रबन्ध काव्यों में पात्रों का चरित्र प्रायः तीन तत्त्वों से विकसित होता है—आनुवंशिक विशेषता, इच्छा शक्ति तथा वातावरण का तत्त्व। आनुवंशिक शक्ति तथा इच्छा शक्ति स्थायी भावों के भीतर स्थान पायेंगी। अतः इनकी परीक्षा स्थायी भाव की दृष्टि से ही ठीक प्रकार से हो सकेगी। कहानी उपन्यास आदि में आज कल जिसे वातावरण कहते हैं वह विभाव के अन्तर्गत आयेगा। अतः वातावरण का सम्यक् विश्लेषण विभाव की ही दृष्टि से ठीक हो सकेगा। आज की ऐतिहासिक समीक्षा युग-तत्त्व पर ही आधारित है। युग-तत्त्व का समावेश वातावरण के भीतर हो जाता है। और वातावरण विभाव के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार ऐतिहासिक समीक्षा का बीज युग-तत्त्व, रस की व्याप्ति के

भीतर समाया है। इस प्रकार रसवादी समीक्षा का क्षेत्र इतना विस्तृत दिखाई पड़ता है कि उसके भीतर ऐतिहासिक समीक्षा एक अंग के रूप में दिखाई पड़ती है। यह दूसरी बात है कि रसवादी आचार्यों ने रसवादी समीक्षा की व्याप्ति को स्पष्ट रूप में इतना विस्तृत नहीं किया और न ऐतिहासिक समीक्षा को कोई महत्त्व दिया। मार्क्सवादी समीक्षा में युग-तत्त्व, समाज-तत्त्व अथवा भौतिक परिस्थितियों को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। मनुष्य के भाव, विचार, आदर्श, स्वभाव, व्यवहार, क्रिया आदि इन्हीं की उपज मानी जाती हैं। भौतिक परिस्थियाँ समाज तत्त्व तथा युग तत्त्व रसवादी समीक्षा में विभाव के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा रसवादी समीक्षा की अंगभूत सिद्ध होती है।

विभाव का चित्रण कवि अपनी कल्पना, चिन्तन, अनुभूति, अध्ययन, निरीक्षण आदि के बल पर करता है। किसी काव्य में विभाव का चित्रण किसी विशिष्ट प्रकार का क्यों हुआ है—इस तथ्य को जानने के लिए कवि की जीवनी का पूर्ण अध्ययन आवश्यक होगा। इस प्रकार काव्य के विभावों के मूलस्रोत के रूप में कवि की जीवनी का अध्ययन चरितमूलक समीक्षा की सृष्टि कर सकता है। अतः इस प्रकार चरितमूलक समीक्षा भी रसवादी समीक्षा के एक अवयव के रूप में समाहित दिखाई पड़ती है।

विभाव के चित्रण में कवि को कल्पना एवं चिन्तन से सबसे अधिक काम लेना पड़ता है। कवि कल्पना का पूर्ण विकास आलम्बन एवं उद्दीपन के चित्रण में देखा जाता है। साहित्यकार अपने दर्शन अथवा चिन्तन के अनुसार ही अपने आलम्बन का स्वरूप निरूपित करता है। तुलसी के राम के स्वरूप के अध्ययन से उनके दार्शनिक मत का ज्ञान भली भाँति किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रेमचन्द के 'गोदान' के होरी का चित्र उनकी विचार धारा का सम्यक् ज्ञान पाठकों को करा सकता है।

अनुभावों तथा संचारियों के चित्रण में कवि को अनुभूति से सबसे

अधिक काम लेना पड़ता है। यदि कवि की अनुभूति सच्ची या वास्तविक नहीं है तो वह अनुभावों तथा संचारी भावों का वर्णन ठीक ठीक नहीं कर सकता। किसी भावना के उत्पन्न होने के पश्चात् शरीर, वाणी तथा मन में कैसे विकार उत्पन्न होते हैं; कैसी क्रियायें संचालित होती हैं, कौन कौन से क्षणिक मन के वेग उत्पन्न होते हैं, कौन कौन सी अल्पकालिक मानसिक एवं शारीरिक अवस्थायें उत्पन्न होती हैं—आदि का वर्णन वही कवि या लेखक कर सकता है जिसकी अनुभूति सच्ची होगी। उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी के ठीक प्रकार के अध्ययन से कवि की कल्पना, चिन्तन तथा अनुभूति-पक्ष की सच्ची परीक्षा हो सकती है।

चरित-प्रधान काव्यों में शील-निरूपण पर कवि की दृष्टि सबसे अधिक रहती है। क्रोध, भय, घृणा, आश्चर्य, हास्य, प्रेम, शोक, उत्साह तथा निर्वेद को मूल भाव कहते हैं। इनसे उद्भूत प्रतिशोध, वैर, दया, सहानुभूति, लज्जा, ग्लानि श्रद्धा, विश्वास, आशा, कृतज्ञता पश्चात्ताप आदि अनेक गौण भाव है। इन्हें तद्भव भाव कहते हैं। यहाँ स्मरण दिला देना आवश्यक होगा कि मन का प्रत्येक भाव भाव नहीं कहला सकता। जिस भाव की उत्पत्ति काल में चेतना के भीतर कोई आलम्बन प्रतिष्ठित हो वही वास्तविक मूल भाव की संज्ञा प्राप्त करेगा। इच्छा भी एक प्रकार का भाव है पर वह मूल-भाव की स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि उसमें आलम्बन प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। वह सदा दूसरे भावों के आलम्बन को लेकर खड़ा होता है[1]। इन्हीं भावों के बल से मनुष्य अचिन्तनीय परिस्थितियों का सामना करने में समर्थ होता है; इन्हीं के असंयमित होने से नाना प्रकार की दारुण यातनाओं में फँसता है। लोक-विध्वंसक या लोकरक्षक—सभी प्रकार के कार्य इन्हीं भावों की प्रेरणा के बल से करता है। इन्हीं भावों के विशेष संघटन से मनुष्य शीलवान माना जाता है। सात्विक पात्र के शील-निरूपण में

---

१. आचार्य शुक्ल (चिन्तामणि)

सात्विक भावों की आवृत्ति कार्य के साथ बार बार दिखाई जाती है; राजसी पात्रों के शीलनिरूपण में राजसी भावों की आवृत्ति उनके जीवन में दिखाई जाती है। इस प्रकार पात्रों के शील-निरूपण की परीक्षा भी इन भावों के आधार पर की जा सकती है। महाकाव्यों तथा उपन्यासों में मानव जीवन का यथासंभव पूर्ण चित्र चित्रित किया जाता है। यदि इन उपर्युक्त काव्य-रूपों में से विभिन्न रसों की योजना को हटा दिया जाय तो वे काव्य अपने प्रयोजन में सफल नहीं हो सकते अर्थात् मानव जीवन का एक संभावित पूर्ण चित्र नहीं चित्रित कर सकते। सत्य सृष्टि के चक्र में रहने वाले मनुष्यों के चुने हुए नमूने काव्य में कल्पना द्वारा पात्र रूप में नियोजित होते हैं। धीरोदात्त राम, राजसी वृत्ति के दुर्योधन, तामसी वृत्ति के रावण—आदि विभिन्न प्रकार के मन वाले मनुष्यों से काव्य में विभिन्न प्रकार के चरित्र, कार्य एवं घटनाओं का निर्माण होता है। इन्हीं विभिन्न प्रकार के चरित्रों, कार्यों एवं घटनाओं से विभिन्न प्रकार के रसों की योजना होती है। यदि इन विभिन्न रसों को उन काव्य-रूपों में से हटा दीजिए तो उनमें जीवन का यथा संभव पूर्ण चित्र उपस्थित नहीं हो सकता, जीवन की बहुरूपता एवं विविधता रखी नहीं जा सकती; किम्बहुना उन काव्य-रूपों की सत्ता के अस्तित्व में ही बाधा पड़ जायगी।

कथाशून्य प्रगीत काव्यों में जिनका मुख्य विषय कोई प्रधान भाव या तद्भव भाव अथवा साधित या सहचर भावनायें रहती हैं उनमें प्रायः कवि ही आश्रय रूप में रहता है। जगत का वातावरण विभाव रूप में रहता है। ऐसी कविताओं में रस के कई अंग-व्यंग्य रूप में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इस प्रकार की रचनाओं की परीक्षा की मुख्य कसौटी अनुभूति की सचाई, तीव्रता एवं मार्मिकता ही रहती है। जिन प्रगीत काव्यों का मुख्य विषय वातावरण का चित्रण रहेगा उनकी परीक्षा मुख्यतः कल्पना एवं चिन्तन की दृष्टि से होगी। कतिपय आलोचकों का कहना है कि निबन्ध की समीक्षा में रसवादी समीक्षा नहीं प्रयुक्त होती। वैयक्तिक निबन्धों के विषय प्रायः मनुष्य से लेकर कीट, पतंग

वृक्ष, नदी, पर्वत—सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। ऐसे विषय रसवादी समीक्षा में आलम्बन के भीतर आयेंगे। कवि या लेखक आश्रय रूप में रहेंगे। संभव है कि इस प्रकार के बहुत से निबन्धों में पाठक भावावस्था तक ही रह जाय, अनुभाव अथवा संचारी या तो व्यंग्य अवस्था में ही रहें अथवा उनकी अभिव्यक्ति की स्थिति ही लेखक में न आ पाये। हिन्दी में शुक्ल जी के निबन्ध मुख्य भावों या तद्भव भावों अथवा सहचर भावनाओं को विषय रूप में ग्रहण कर लिखे गये हैं। अतः इनकी परीक्षा लेखक की अनुभूति, अध्ययन तथा चिन्तन के आधार पर होनी चाहिए। नाटक में रस की सत्ता रहने पर ही पात्रों का चरित्र चित्रण ऐसा होता है कि जिससे कवि-इच्छित प्रभाव प्रेक्षक पर पड़ सकता है। यदि नाटक में पात्र का निरीक्षण, व्यवहार, अभ्यास, कार्य, चेष्टा आदि रसानुकूल न हों तो प्रेक्षक पर उनका हृदय-संवादी प्रभाव नहीं पड़ सकता। नाटक के सभी साधन—संधि, संध्यंग, घटना, संवाद, नृत्य, गीत आदि रस सिद्धि के लिए ही अपनाये जाते हैं[१]।

नाटक की परीक्षा की तो एक मात्र कसौटी रस माना गया है। नाटक के अभिनय से यदि सहृदयों में रसनिष्पत्ति नहीं होती है तो वह महान असफल नाटक कहा जायगा।

काव्य का सन्देश भी रसतत्त्व की अवमानना कर काव्य में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। काव्य का सन्देश काव्य के साध्य से प्रतिष्ठित होता है। काव्य का साध्य या ध्येय नायक की फल-सिद्धि रूप में वर्णित रहता है। जीवन में ध्येय प्राप्त करना सहज प्रवृत्ति का साध्य है। ध्येय प्राप्ति के सम्पादनार्थ सहज-प्रवृत्ति की एक शाखा बुद्धि में परिणत हो जाती है। प्राथमिक अवस्था में सहज-प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति में बुद्धि एवं इच्छा शक्ति एक में मिली रहती है। कालान्तर में बुद्धि एवं

१—संधि संध्यङ्ग घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्र स्थिति सम्पादनेच्छया।

इच्छा शक्ति पृथक् पृथक् रूप में प्रगट होकर स्वतन्त्र रूप में विकास पाने लगती हैं। भावनाओं में दिखाई देने वाली इच्छा शक्ति एवं बुद्धि क्षणिक कोटि की होती है किन्तु भावनाओं के संघटन अर्थात् स्थायीभाव में बुद्धि एवं इच्छा शक्ति को प्रबल रूप प्राप्त हो जाता है। यदि नायक में सहज प्रवृत्ति या स्थायीभाव न हों तो वह अपने ध्येय की सिद्धि में सफल नहीं हो सकता। यदि नायक अपने ध्येय की सिद्धि में सफल न हो तो काव्य में जीवन-सन्देश की स्थापना नहीं हो सकती। रस की प्रकृति के निरूपण के समय यह बताया जा चुका है कि रस के भीतर जीवन की वास्तविकता छिपी रहती है। अतः काव्य के भीतर रस-निष्पत्ति का जितना अभाव होगा उतना ही अभाव उसके भीतर जीवन की वास्तविकताओं का भी होगा।

रस की महत्ता सबसे अधिक इस बात से सिद्ध होती है कि वह जीवन तथा साहित्य को समग्र रूप से स्पर्श करता है। साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य मनुष्य को मनुष्य ही नहीं देवता बनाना है। रस की शक्ति से ही साहित्य अपने इस महान उद्देश्य में सफल होता है। कवि का सबसे मुख्य कर्तव्य विश्व को सरस, स्निग्ध, उदार, वीर, त्यागी बनाना है; समाज से अज्ञान, रोग, शोक, दारिद्रय, परमुखापेक्षिता को भगाना है। कवि भी रस के बल पर ही अपने इस महान कार्य में सफल होता है। रस को अपना कर काव्य अथवा कला भी अपनी सभी प्रमुख विशेषताओं—प्रेषणीयता, प्रभविष्णुता, व्यंजनात्मकता, उदात्तता, सर्जनात्मकता आदि की रक्षा में समर्थ होती है।

रस का महत्त्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि रस तत्त्व को मानदण्ड रूप में अपनाने से साहित्य-दर्शन कभी अस्वस्थ नहीं हो सकता।

रस-तत्त्व अपनाने से कवि साहित्य की प्रतिष्ठा जीवन की वास्तविक भूमि पर कर सकता है। इस प्रकार रस काव्य को जीवन के निकट ले जाता है। रस को काव्य के भीतर रसवादी आचार्यों ने आत्मा रूप में निरूपित किया है—इससे भी साहित्य में उसकी महत्ता सिद्ध होती है। सामाजिक के हृदय पर कविता या साहित्य का जो प्रभाव पड़ता

है वह रस के ही कारण। उक्ति की कलात्मकता तो केवल साधन का काम करती है। यदि काव्य की उक्ति में कोरा वैचित्र्य है, शुष्क चमत्कार है, भाव शून्य कला का प्रदर्शन है तो उस कविता से कुतूहल या विस्मय ही भर उत्पन्न हो सकता है, किन्तु हृदय पर कोई मार्मिक या स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसी लिए आनन्दवर्धन काव्य में कवि का मुख्य कर्तव्य रस-निरूपण बताते हैं और इस कर्तव्य में असफल होने वाले कवि को घोर निन्दनीय समझते हैं।[1] भरत मुनि नाटक के प्रधान तत्त्वों में रस का नाम सर्वप्रथम लेते हैं।[2] इस से भी रस की महत्ता ज्ञात होती है। रस की महत्ता बताते समय वे यहाँ तक कह गये हैं कि काव्य में रस के बिना कोई अर्थ ही नहीं प्रवर्तित हो सकता :—नहिरसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते। बहुत से आचार्यों ने काव्य की परिभाषा इस रूप में की है कि मानों उसका सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण तत्त्व रस ही है। उसको अस्तित्त्व-प्रदान करनेवाला अवयव रस ही है।[3] इससे भी रस की महत्ता सूचित होती है।

नाटककार या लेखक यदि रस से भरा नहीं है तो काव्यगत परिस्थिति का प्रभावपूर्ण चित्रण नहीं कर सकता। अभिनय सम्बन्धी उपर्युक्त परिवर्तन उपस्थित नहीं कर सकता; अनुभावों एवं संचारी भावों का ठीक वर्णन नहीं कर सकता; यदि अभिनेता को रस या भाव का ठीक ज्ञान

१—मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यः तैः सदैवाप्रमादिभिः।
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृत लक्षणः।

२—रसाभावाह्यभिनयाधर्मी वृत्ति प्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः॥

३—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। (साहित्य दर्पण)
रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। (पण्डितराज जगन्नाथ)

न हो तो वह उचित वेश, भूषा, हाव-भाव का चुनाव नहीं कर सकता; किसी नाट्यगत परिस्थिति की उपयुक्त मानसिक प्रतिक्रिया नहीं दिखा सकता; यदि सहृदय का हृदय रस से भरा नहीं है तो वह कविता या नाटक का ठीक आस्वादन नहीं कर सकता; यदि समीक्षक रस से भरा नहीं है तो वह समीक्षक के दर्शन—जीवन के सच्चे सौन्दर्य, सच्चे समन्वय एवं सच्ची संगति को पहचान नहीं सकता। उपर्युक्त विवेचन से इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि रस कवि, अभिनेता, पाठक या प्रेक्षक, समीक्षक सबके लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

काव्य के प्रयोजनों—यश, व्यवहारविदिता, कान्तासम्मित उपदेश, सद्यः परिनिर्वृत्ति आनन्द, नवीनौचित्य आदि की प्राप्ति रस के अभाव में नहीं हो सकती।

रस की व्याप्ति तथा महत्त्व साहित्य में देखने के पश्चात् जीवन में भी उसके महत्त्व को देखना आवश्यक है जिससे रस की महनीयता का सम्यक बोध हो सके। पिछले अध्यायों में कई बार यह बताया जा चुका है कि रस का सबसे प्रधान तत्त्व स्थायीभाव है और स्थायीभाव का सबसे प्रधान तत्त्व नैसगिक वृत्तियाँ। नैसगिक वृत्तियाँ मनुष्य की मस्तिष्क-निर्मिति में प्रधान तत्त्व का काम करती हैं। इन्हीं नैसर्गिक वृत्तियों के कारण मनुष्य आत्म-संरक्षण, आत्माभिव्यक्ति, आत्मप्रकाशन, आत्मनिर्माण तथा आत्मप्रचार में समर्थ होता है। सहज प्रवृत्तियों के अभाव में मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति, चेष्टा, क्रिया में संलग्न ही नहीं हो सकता। सभी प्रकार के मनुष्यों को अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक कार्यों के करने की प्रेरणा एवं मूलशक्ति इन्हीं नैसर्गिक प्रवृत्तियों से मिलती है। सहज प्रवृत्ति ही मनुष्य में उसके वातावरण के साथ व्यवहार करने की क्षमता पैदा करती है। जिस मनुष्य में जिस सहज प्रवृत्ति का अभाव होता है, अथवा वह निर्बल होती है तो वह मनुष्य उस प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखनेवाले वातावरण से ठीक समन्वय स्थापित नहीं कर सकता। उससे ठीक भावात्मक प्रतिक्रिया नहीं ग्रहण कर सकता। नपुंसक में आत्मप्रतिष्ठा की प्रवृत्ति कम रहती है फलतः वह वीरता के

वातावरण से समन्वय-स्थापन को कौन कहे—वह वहाँ से भाग खड़ा होता है। इन्हीं सहज प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य सामाजिक प्राणी बनता है, वातावरण की वस्तुओं को अपने लक्ष्य के अनुरूप करने में सफल होता है, अपनी भौतिक परिस्थियों से प्रभाव या उत्तेजना ग्रहण करने में समर्थ होता है। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सहज प्रवृत्तियों का मनुष्य के जीवन-प्रयत्न से सीधा तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इन्हीं की उत्तेजना से वह अपने ध्येय प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। इसीलिए इन सहज प्रवृत्तियों से बने स्थायीभाव पुरुषार्थ—साधक माने गये हैं। किसी एक विशिष्ट नैसगिक प्रवृत्ति की उत्कटता, उदात्तता, तीव्रता, निष्ठा एवं भावात्मकता ही व्यक्ति में वृत्तिवैशिष्ट्य उत्पन्न करती है जिससे वह समाज में विशिष्ट प्रकार का आचरण निर्मित कर जगत के ऊपर अपनी एक विशिष्ट छाप छोड़ जाता है। नैसर्गिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति में प्रतिबन्ध होने पर भावनाओं का तूफान खड़ा हो जाता है, अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ बन जाती हैं शरीर, एवं मन दोनों अस्वस्थ हो जाते हैं। इसके प्रतिकूल इनकी संतृप्ति स्वाभाविक ढंग से होने पर जीवन सब प्रकार से स्वस्थ एवं सन्तुलित रहता है। तात्पर्य यह कि यदि रस के एक तत्त्व का भी उपयोग किसी व्यक्ति के जीवन में ठीक प्रकार से होता है तो वह सब प्रकार से स्वस्थ एवं सन्तुलित रहेगा।

नैसगिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति भावों (Emotions) के रूप में होती है। मनुष्य की सजीवता की रक्षा इन भावों की रक्षा में निहित है; मनुष्य की पूर्णता इन समस्त प्रमुख भावों की औचित्यपूर्ण क्रियशीलता पर निर्भर है; मनुष्य के आचरण सम्बन्धी सभी कार्यों के प्रवर्तक ये भाव हैं; सामाजिक जीवन की स्थिति एवं पुष्टि इन भावों की सहायता से ही संभव है, संसार के समस्त व्यवहार इन मनोभावों की परस्पर अनुकूल स्थिति होने से ही चलते हैं, जगत के भिन्न भिन्न रूपों, व्यापारों तथा तथ्यों के साथ मानव हृदय का प्रकृत सामंजस्य इन भावों के ही माध्यम से स्थापित होता है, मनुष्यता की रक्षा भी इन भावों की

समाज में रहने पर ही कोई व्यक्ति कर सकता है। इन भावों का सम्बन्ध भी समष्टि की स्थिति एवं रक्षा से है। सच्ची भक्ति मनुष्य को संकुचित वैयक्तिक स्वार्थों से ऊपर उठा कर उसे अखिल विश्व के चर-अचर चेतन-अचेतन से एकता स्थापित करने की शक्ति देती है। इस प्रकार भक्ति का भी सामाजिक महत्त्व है। सच्चा भक्त अपने आराध्य की सच्ची भक्ति करके स्वच्छ आदर्श का पहरा अपने ऊपर बिठा देता है जिसमें वह अपने कर्मों का प्रतिबिम्ब देख कर अपना सुधार भी करता रहता है। इस प्रकार भक्ति का वैयक्तिक महत्त्व भी सिद्ध होता है। इसी प्रकार करुणा व्यक्ति में शील की स्थापना करती है तथा समाज की स्थिति एवं पुष्टि में सहायक सिद्ध होती है। इसी प्रकार क्रोध का भी वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। क्रोध व्यक्ति को भावी कष्ट से बचाता है तथा समाज के अत्याचारियों एवं अन्यायियों को उनके अत्याचार तथा अन्याय का दण्ड देकर लोक-कल्याण की स्थापना में सहायक होता है। भय नामक भाव भी अपनी रक्षा तथा समाज की रक्षा के लिए सजग करता है। घृणा का आधार भी सार्वजनिक है। सामाजिक घृणा का तात्पर्य है समाज के आदर्श से विरोध पड़ने वाली वस्तु से दूरत्व। वैयक्तिक घृणा का विषय मन में संकोच उत्पन्न करता है, सामाजिक घृणा का नहीं[1]। अब दो एक संचारी भावों का महत्त्व बताकर इस प्रसंग को समाप्त करूँगा। लज्जा भाव शृंगार का संचारी कहा जाता है। किन्तु इसकी व्याप्ति सामाजिक रूप में बहुत अधिक है। हम बुरे न समझे जायँ—यह भावना जिसमें जितनी अधिक स्थायी होगी वह उतना ही लज्जाशील होगा। लज्जावृत्ति शील की रक्षक, सदाचार साधक एवं स्वच्छन्दता विघातक होती है। इसी प्रकार ग्लानि नामक संचारी भाव सामाजिक रूप में अन्तःकरण की शुद्धि का एक विधान है। अपनी बुराई, तुच्छता, मूर्खता, कमी आदि

---

१ उपर्युक्त सभी भावों के सामाजिक रूप का महत्त्व बताया जा रहा है। क्योंकि रस में वे सामाजिक रूप में ही आते हैं।

का अनुभव करने से जो भावना जगती है उसे ग्लानि कहते हैं। श्रद्धा को मार्क्सवादी (illusion) भ्रम मानते हैं, किन्तु यह उनका बहुत बड़ा भ्रम है। समाज में श्रद्धा हम शक्ति-शीलयुक्त व्यक्ति के प्रति करते हैं इससे हम दूसरे का महत्त्व स्वीकार करते हुए अपने में गुणग्राहकता की शक्ति बढ़ाते हैं। हम अपने में गुणग्राहकता की शक्ति बढ़ाकर अपने अन्तःकरण का विस्तार करते हैं। दूसरे के महत्त्व की स्वीकृति से हमारा अभिमान कम होता है। शीलवान व्यक्ति के प्रति श्रद्धा करने से सदाचार-पालन की प्रेरणा मिलती है। दूसरों पर श्रद्धा करने से अपना कार्य-क्षेत्र सुगम हो जाता है, जीवन की अनेक कठिनाइयाँ एवं बाधायें कम हो जाती हैं। शीलवान या शक्तिमान बन कर जो दूसरों की श्रद्धा आकर्षित कर लेता है उसका बड़ा सम्मान होता है। इस प्रकार श्रद्धा का वैयक्तिक तथा सामाजिक—दोनों प्रकार के जीवनों में पर्याप्त महत्त्व है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि सभी स्थायी तथा संचारी भाव शील संस्थापक मनोविकार हैं। इनका विकास समुचित दिशा में करने से मनुष्य शीलवान बन जाता है। यदि ये मनोवेग मनुष्य में न हों तो वह स्मृति, बुद्धि आदि रहते हुए भी जड़-तुल्य बन जाय। काव्य-रसास्वादन से ये भाव मन्द नहीं पड़ते रस इन भावों को परमार्जित करता रहता है। यदि इन भावों का उचित दिशा में विकास न हो तो मनुष्य सृष्टि के नाना पदार्थों के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ हो जाय।

रसानुभूति की अवस्था प्राप्त करते रहने से मनुष्य की अन्तःवृत्तियाँ पाशविक नहीं होने पातीं, उसकी पृथक सत्ता का परिहार होता रहता है। इसमें मनुष्यता के उच्च गुण—दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा, प्रेम, वीरता आदि जगते रहते हैं। प्रत्यक्ष जीवन में जिसको जितनी अधिक रस की प्रतीति होगी वह उतना ही अधिक पर-प्रतीति की भावना से भावित रहेगा। और पर-प्रतीति की शक्ति जिसमें जितनी अधिक रहेगी वह अपने वातावरण के अनुसार उतना बड़ा महात्मा नेता, सुधारक, कवि एवं दार्शनिक होगा। आदि कवि वाल्मीकि में इतनी अधिक पर-प्रतीति

थी कि एक क्रौञ्च पक्षी के वध से वे इतने अधिक दुखी हुए कि उनका शोक श्लोकों की ऐसी अनवरत धारा के रूप में फूट पड़ा कि उससे एक बहुत ही सुन्दर महाकाव्य बन गया। हिन्दी के भक्ति काल के कवियों में पर प्रतीति की शक्ति सबसे अधिक थी इसलिए सूर, तुलसी, कबीर की कोटि का कवि आज तक हिन्दी में नहीं पैदा हुआ। आज पर-प्रतीति से व्याकुल होकर लिखने वाले कवि या लेखक कम हैं। इसी कारण वर्तमान युग में महान लेखक, कवि एवं आलोचक नहीं दिखाई दे रहे हैं। आचार्य शुक्ल में पर-प्रतीति की शक्ति सबसे अधिक थी; इसी कारण उन्होंने रस के सामाजिक महत्त्व के ऊपर सबसे अधिक बल दिया। पर-प्रतीति को सबसे अधिक मात्रा में रखने के कारण वे हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक प्रसिद्ध आलोचक सिद्ध हुए।

गान्धी जी में आधुनिक युग में सबसे अधिक पर-प्रतीति की शक्ति थी। इसी कारण वे संसार के सबसे बड़े महात्मा बन सके। स्वतंत्रता के पश्चात् हमारे देश के नेताओं में पर-प्रतीति की कमी हो गई है इसी कारण देश की गरीबी, नंगापन, अज्ञान तथा भ्रष्टाचार कम नहीं हो रहा है। यदि व्यक्ति में रसानुभूति की शक्ति सदा बनी रहे तो उसका हृदय-संकोच नष्ट हो जाय; उसके हृदय का बन्धन खुल जाय, उसे मनुष्यता की उच्च भूमि का दर्शन प्रतिक्षण होने लगे। आधुनिक युग की बौद्धिकता, भौतिकता एवं यांत्रिकता की प्रतिक्रिया भावात्मकता के रूप में आरंभ हो गई है। आज सारा संसार बौद्धिकता, भौतिकता एवं यांत्रिकता से अशान्ति, अविश्वास, अव्यवस्था एवं असंतोष का अनुभव कर रहा है। पर-प्रतीति की कुछ शक्ति रखने वाले ऐसा अनुभव कर रहे हैं कि न्याय, सन्तुलन, सौन्दर्य एवं शान्ति की आवश्यकता बुद्धि या तर्क से अधिक भावना या पर-प्रतीति द्वारा समझी जा सकती है। इस प्रकार युग की पुकार भी रस की महत्ता एवं आवश्यकता को व्यंजित कर रही है।

---

१ शुक्ल जी प्रत्यक्ष जीवन में भी खोटे सिक्कों को बराबर कैंची से काट देते थे। अपने घर के कुत्ते, बिल्ली, पौदों एवं पुष्पों से कुटुम्बवत् व्यवहार करते थे।

रसवाद का सैद्धान्तिक पक्ष

रस सम्प्रदाय सम्बन्धी पूर्व विवेचन से हम उसके सैद्धान्तिक पक्ष के विषय में निम्नांकित परिणाम निकाल सकते हैं। रसमत के अनुसार रस ही काव्य की आत्मा है। जहाँ रस है वहीं काव्य है। जहाँ रस नहीं है वहाँ सब कुछ होते हुए भी काव्य नहीं है। इसलिए इस मत में काव्य की मुख्य कसौटी रस ही माना गया है। इस रस का प्राण तत्त्व औचित्य है। क्योंकि औचित्य भंग से रस भंग हो जाता है। इस मत के अनुसार काव्य का इष्ट, विषय का ज्ञान कराना नहीं वरन् उसके द्वारा भावों की अभिव्यंजना करना है। काव्य या जीवन में जो वस्तु रस को कम करती है वह घृणित, कुत्सित एवं निन्दनीय है। रससम्प्रदाय काव्य या जीवन में विशुद्ध आनन्द के सिद्धान्त को मानता है। रसवाद के अनुसार भारतीय काव्य का साध्य अलंकारों, रीतियों, गुणों, भावनाओं, घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों का चित्रण नहीं वरन् इनके उचित संयोग से रससृष्टि करना है। अतः रससम्प्रदायवादियों की दृष्टि में काव्य या कला का आदर्श विशुद्ध आनन्द है। किन्तु इस आनन्द का सम्बन्ध मनोवृत्यात्मक संतृप्ति या मनोरंजन से नहीं है क्योंकि इसमें सहृदय के सभी व्यक्ति-तत्त्व द्रवित होकर सामाजिकता में परिणत हो जाते हैं। इसीलिए रसवादी काव्य की भित्ति सामाजिक मानी जाती है।

इस मत के अनुसार साहित्य ही नहीं वरन राजनीतिक आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का साध्य भी परम आनन्द की पहचान है जो परम सामाजिकता की स्थिति में उत्पन्न होता है। और इस आनन्द की बाधक शक्तियों का विरोध घोर क्रान्ति द्वारा होना चाहिए। उपर्युक्त तथ्य द्वारा प्रकारान्तर से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि मानव प्रगति या विकास का साध्य वैयक्तिकता नहीं वरन् सामाजिकता है। अतः मानव प्रगति से सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य को भी अपना साध्य सदा सामाजिकता ही बनाना चाहिए।

रसवादी समीक्षा का दर्शन जीवन के सच्चे सौन्दर्य, सच्चे समन्वय

एवं सच्ची संगति के प्रत्यभिज्ञान में निहित है। किसी वस्तु या कृति में आदर्श सौन्दर्य की सृष्टि के लिए इन्द्रियगोचर बौद्धिक एवं भावात्मक गुणों का होना आवश्यक है। इन्द्रियगोचर गुणों के भीतर वस्तु के रूप, आकार, संयोजना, विस्तार का समावेश होता है; बौद्धिक गुणों के भीतर प्रेषणीयता, संवादित्व, शुद्धता, संगति एवं प्रमाणबद्धता की प्रतिष्ठा रहती है तथा भावात्मक गुणों के भीतर उदात्तता, स्वार्थ निरपेक्षता, गूढ़रम्यता, औचित्य, सूचकता, भव्यता, नवनवोन्मेषशालीनता आदि गुण आते हैं। स्थायीभावों को रस रूप में परिणत करने के लिए उत्तेजक वस्तु में उक्त गुणों से युक्त आदर्श सौन्दर्य का रहना आवश्यक है। जिस वस्तु में इन सौन्दर्य निर्माणकारी गुणों का जितनी मात्रा में अभाव होगा उतनी ही मात्रा में उन वस्तुओं में रस उद्दीप्त करने की शक्ति भी कम होगी।

रसवाद के भीतर कल्पना, चिन्तन एवं अनुभूति का, भाव एवं विभाव पक्ष का, विषयनिष्ठता एवं व्यक्तिनिष्ठता का तथा काव्य के कला एवं भाव पक्ष का समन्वय दिखाई पड़ता है। रसपूर्ण कृति में काव्य के अन्य तत्त्वों की संगतिपूर्ण व्यवस्था रहती है। इस प्रकार रसवाद के भीतर सौन्दर्य, आदर्श, समन्वय एवं संगति में सिद्धान्त आ जाते हैं। रस के भीतर वास्तविकता के मानसिक पक्ष, काव्य-न्याय (Poetic Justice) उदात्तता, चिन्मयता, पर-प्रतीति, सत्त्वोद्रेकता, संविद् विश्रान्ति, लोक धर्म, तथा औचित्य का समावेश रहता है। वह सदा सौन्दर्य की भावना से अनुशासित होता है। इसलिए उसमें आदर्श का सिद्धान्त स्वयमेव आ जाता है।

रसवाद सत्य के सिद्धान्त पर अवलम्बित है।[१] रस में सत्य का सिद्धान्त जीवन की अनुरूपता, देशकालातीत विश्वात्मक भाव, पर-प्रतीति, वास्तविकता, औचित्य, आदर्श तथा भव्यता के कारण आता है। रस में वास्तविकता का सिद्धान्त समाया है क्योंकि वह 'भमा–

Poetry has a wider Truth (Aristotle)

वरणाचित' कोटि का होता है। यदि सौन्दर्यानुभूति वास्तविकता की दृष्टि प्रदान न करती, यदि वह कोई ठोस विचार या भाव सहृदय को न देती तो लाखों क्या करोड़ों की संख्या में सहृदय जन किसी एक सुन्दर वस्तु को देखने क्यों जाते ? किसी सुन्दर कृति को वार वार क्यों पढ़ते ? किसी एक छन्द का स्मरण या श्रवण कर आत्मविभोर क्यों होते ? रस में एकता या अभेदता का सिद्धान्त निहित है। रस में पर-प्रतीति स्वप्रतीतिके समान होती है इसलिए भेद मिट जाता है। विभिन्न स्थायीभावों का सम्बन्ध मानव मात्र से है। उनके सामान्यीकृत रूप का आस्वादन सभी सहृदय जन करते हैं। रस यह अनुभव कराता है कि भावनाओं का तार सबमें एक सा है। रसानुभूति के समय सहृदय का हृदय विश्व-हृदय हो जाता है; उसकी पृथक सत्ता का परिहार हो जाता है; पार्थक्य बुद्धि का लोप हो जाता है। इस प्रकार रसद्वारा सहृदय मानव मात्र की एकता का अनुभव करने में समर्थ होता है। साधारणीकरण एवं हृदय—संवाद के कारण रसवाद में तटस्थता एवं प्रेषणीयता के सिद्धान्त आ जाते हैं।

रस प्रकृत्या व्यंजनीय है अतः उसमें व्यंजना का सिद्धान्त भी निहित है। व्यंजना के सिद्धान्त के कारण रस में सूचकता, गूढ़रस्यता एवं नवनवोन्मेषशालीनता के सिद्धान्त उपफल (by-product) के रूप में अपने आप आ जाते हैं। भावनाओं का उदात्त स्वरूप रस में निहित रहता है। रसानुभूति सहृदय के निम्न आत्मस्तर को उच्च करती है। रस द्वारा प्रेषित भाव सहृदय को सामाजिकता की ओर ले जाते हैं। सहृदय की कुचली, कुंठित तथा दमित भावनायें रसानुभाव से उदात्त हो जाती हैं; इसीलिए रस में उदात्तता का सिद्धान्त निहित माना जाता है। रस सम्प्रदाय की दृष्टि में काव्यदोष वे ही हैं जो रस में बाधा पहुँचावें अथवा जो औचित्य भंग करें। रसवादी समीक्षा के मत में कवि का मुख्य कर्तव्य है रस को काव्य का मुख्य प्रयोजन बना कर काव्य के अन्य तत्त्वों का उपनिबन्धन करना। रसवाद औचित्य, शुद्धता, सामाजिकता, उदात्तता आदि सिद्धान्तों को अपनाने के कारण अपने

भीतर नीति सिद्धान्त (Morality) का भी समावेश कर लेता है। नीतिभंग औचित्य-भंग से होता है और औचित्य-भंग से रसभंग होता है। जहाँ शुद्धता, सामाजिकता एवं उदात्तता का हनन हुआ वहाँ नीति का भी हनन अवश्यंभावी है। तभी तो मम्मट अपने काव्य प्रयोजनों में 'शिवेतरक्षा' तथा 'कान्तासम्मित उपदेश' को अपनाते हैं। रसवाद अपने भीतर उपयोगिता के सिद्धान्त को भी समेट लेता है। रसानुभूति द्वारा प्रेषित भाव सहृदय के लिए बड़े उपयोगी होते हैं क्योंकि वह उन भावों से अशिव की रक्षा में समर्थ होता है, अपने हृदय का विस्तार करने में सफल होता है, वास्तविकता की दृष्टि पाता है, मनुष्यता की उच्च भूमि का दर्शन करता है तथा जगत के साथ एकता की अनुभूति का वातावरण पाता है।

रसवाद की समीक्षा

रसवादी समीक्षा के मूल्याङ्कन के लिए उसके कतिपय गुणों तथा दोषों पर भी विचार कर लेना चाहिए।

रसवादी समीक्षा की विशेषतायें :—

रसवादी समीक्षा के मूल्यों की आधार-भित्ति किसी युग या देश विदेश के मूल्यों की ही स्वीकृति नहीं, समीक्षा के तात्कालिक प्रशंसात्मक अथवा निन्दात्मक प्रभाव की अभिव्यक्ति नहीं, उसके कोरे रुचि प्रदर्शन अथवा कोरे आत्माविष्कार की कलात्मक अभिव्यंजना नहीं, उसके किसी चेतन, अचेतन अथवा अवचेतन मन का दिग्दर्शन नहीं वरन् मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन है। रसवादी समीक्षा की प्रक्रिया विधायक कोटि की होती है। इसमें साहित्य के विचारों एवं भावों का पुनर्निर्माण सहृदय के मन में होता है। रसवादी समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष को देखने से यह सिद्ध होता है कि कवि को जीवन से प्रेरणा मिली है, काव्य में अनुभूति की सचाई वर्तमान है, साहित्य मनुष्य जीवन की सामग्री लेकर बना है; उसमें कोरा बुद्धि-विलास नहीं है। इस प्रकार रसवादी समीक्षा

काव्य पुरुष की प्रतिष्ठा जीवन की वास्तविक भूमि पर करती है। रसवादी समीक्षा का सत्य विश्वात्मक (Universal) कोटि का है अतः उसमें विश्वजनीनता का गुण वर्तमान है। रसवादी समीक्षा के सिद्धान्तों को अपनाने से काव्य के नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं कुछ अंशों में मनोवैज्ञानिक पक्षों पर भी प्रकाश पड़ सकता है। रसवादी समीक्षा पद्धति कवि एवं सहृदय के गुणों को स्पष्ट करती हुई उनके पथ-प्रदर्शन का भी प्रयास करती है। रस सम्प्रदाय, भारतीय समीक्षा के अन्य सम्प्रदायों द्वारा निरूपित तत्त्वों, धारणाओं का तिरस्कार नहीं करता वरन् अपने भीतर उनका समन्वय कर लेता है। इस सम्प्रदाय में काव्य के जितने विभिन्न तत्त्वों, आदर्शों, प्रयोजनों, सिद्धान्तों का विकास हुआ उतना किसी अन्य सम्प्रदाय में नहीं हुआ। इस प्रकार यह सम्प्रदाय काव्य के विविध प्रयोजनों एवं तत्त्वों का समाहार करता हुआ दिखाई पड़ता है।

रसवादी समीक्षा में काव्य के आत्मतत्त्व द्वारा उसके शरीर तत्त्वों का अनुशासन दिखाई पड़ता है इसलिए उसमें काव्य के अवयव एवं अवयवी पक्ष की प्रतिष्ठा समुचित स्थान पर समुचित ढङ्ग से हो जाती है। रसवादी समीक्षा को अपना कर समीक्षक काव्य की विभिन्न विशेषताओं—प्रेषणीयता, व्यंजनात्मकता, उदात्तता, सर्जनात्मकता आदि पर प्रकाश डाल सकता है, काव्य के विभिन्न तत्त्वों—अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति, घटना, पात्र, परिस्थिति आदि का विवेचन कर सकता है। तथा काव्य के विभिन्न रूपों—महाकाव्य, खण्ड काव्य, प्रगीतकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि की आलोचना अपने ढङ्ग से कर सकता है। यह समीक्षा-पद्धति काव्य को सर्वाङ्गीण दृष्टि से देखने का प्रयत्न करती है। व्यावहारिक समीक्षा में इसे अपनाने से काव्य के अन्तरङ्ग तथा वहिरङ्ग दोनों पक्षों पर प्रकाश पड़ सकता है। रस सम्प्रदाय की व्याप्ति संस्कृत साहित्य के अन्य पूर्ववर्ती सम्प्रदायों से बहुत विशद है, वह जीवन तथा साहित्य दोनों को समग्र रूप में देखने का प्रयास करती है। रसवादी समीक्षा के मानदण्ड में समान्य रूप

से कोई एकदेशीयता या एककालीनता नहीं दिखाई पड़ती। हम यह कह सकते हैं कि रसवाद काव्य की मूल प्रकृति की रक्षा में सफल है तथा उसके मूल तत्त्वों के पकड़ने में समर्थ।

रसवादी समीक्षा में प्रगतिशीलता का सिद्धान्त इस मात्रा में समाया है कि उससे युग की नयी विचारधाराओं, परिस्थितियों, अनुभूतियों का विचार हो सकता है। यह बात रस के महत्त्व के प्रसङ्ग में स्पष्ट की जा चुकी है। रस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों द्वारा किसी साहित्यिक कृतिके मूल स्रोत एवं साध्य दोनों का विचार हो सकता है। रससिद्धान्त द्वारा साहित्य क्या है? और उसे क्या होना चाहिए दोनों की परीक्षा कर सकते हैं। रसवादी समीक्षा जीवन तथा साहित्य के गम्भीर तथा गम्भीरतर प्रश्नों को ही नहीं वरन् गम्भीरतम प्रश्नों को भी हल करने में समर्थ है। यह समीक्षा जीवन के महत्तर, महत्तम समन्वय, उच्चतम आध्यात्मिक सत्य एवं महानतम वास्तविकताओं को रस माध्यम से सुलभ करती है। साहित्य की गम्भीरतम समस्याओं जैसे, साहित्य से आनन्द क्यों मिलता है? साहित्य का वास्तविक दर्शन क्या है? साहित्य का प्राण तत्त्व क्या है? साहित्य के शरीर तत्त्वों एवं प्राण तत्व में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए? आदि का वैज्ञानिक सुलझाव उपस्थित करती है। रसवादी समीक्षक संसार या साहित्य को व्यक्तिगत रुचि, अरुचि की दृष्टि से देखने को नहीं कहता वरन् युक्ति बुद्धि-दृष्टि से देखने का आदेश देता है। साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य मनुष्य को मनुष्य ही नहीं वरन् देवता भी बनाना है। रसवादी समीक्षा साहित्यकारों को इस महान उद्देश्य की ओर इङ्गित करती है। किसी भी स्वस्थ दार्शनिक समीक्षा पद्धति की चार कसौटियाँ मानी जा सकती हैं:—

१—सब प्रकार के विचारों को समन्वय करने की शक्ति।

२—नवीनता ग्रहण करने की शक्ति।

३—सामूहिक एवं वैयक्तिक—दोनों प्रकार के जीवन-सिद्धान्तों को पकड़ने की शक्ति।

४—पूर्णता के चिन्तन की ओर उन्मुख करने की शक्ति।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रसवादी समीक्षा इन चारों कसौटियों पर खरी उतरती है। अतः हम कह सकते हैं कि वह एक स्वस्थ प्रकार की समीक्षा पद्धति है।

रसवादी समीक्षा के दोष

१—रसवादी आचार्यों ने रसवादी समीक्षा की व्याप्ति को स्पष्ट रूप में विवृत्त नहीं किया।

२—प्रायः सभी प्रसिद्ध रसवादी आचार्य किसी न किसी प्रसिद्ध दार्शनिक मत के अनुयायी थे। अतः वे अपने रस-विवेचन में अपने दार्शनिक पूर्वग्रह से मुक्त नहीं हो सके। इसी कारण उनके रसविवेचन में दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता का गहरा रंग चढ़ा हुआ है।

३—बहुत से प्रसिद्ध रसवादी आचार्यों का श्रम भरत-सूत्र की व्याख्या में ही समाप्त हो गया। अतः उनके द्वारा रसवादी समीक्षा के सिद्धान्तों एवं अवयवों का सम्यक् निरूपण नहीं हो सका।

४—बहुत से रसवादी आचार्यों की शक्ति अपने पूर्ववर्ती रसानुयायी आचार्यों के खण्डन मण्डन तक ही सीमित रही। अतएव वे रसवादी समीक्षा के किसी नवीन सत्य का अनुसन्धान नहीं कर सके।

५—संस्कृत साहित्य के बहुत ही कम आचार्य रस की व्याप्ति जीवन में दिखा सके।

६—संस्कृत समीक्षा के अधिकांश परवर्ती आचार्य रसावयवों एवं रस भेदों की बँधी बँधाई लकीर पर चलने में अपनी इतिकर्तव्यता समझ बैठे।

७—रस-प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक स्पष्ट विवेचन अभिनवगुप्त के अतिरिक्त और किसी आचार्य द्वारा नहीं हो सकी।

संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप तथा उसके भेद

प्राचीन संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक समीक्षा के स्वरूप पर स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रूप से बहुत ही कम सामग्री मिलती है। इसके कई कारण हैं। सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा प्रथम कारण यह है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में किसी कवि या कृति की विशेषताओं के विवेचन से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी पुस्तक लिखने की प्रथा नहीं थी। दूसरे, उस युग में शिक्षा के भीतर न्याय, व्याकरण तथा दर्शन की प्रधानता थी। साहित्य पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए अध्यापकगण किसी साहित्यिक कृति या कवि की विशेषताओं की विवेचना मौखिक रूप में कर देते थे। मुद्रणकला के अभाव में तथा साहित्य को व्यवसाय रूप में अपनाने की प्रवृत्ति न होने के कारण अध्यापकों को अपनी साहित्यिक व्याख्याओं को मुद्रित कराने की कोई प्रेरणा नहीं मिलती थी। तीसरे उस युग के आलोचक प्रायः दार्शनिक होते थे, अतः उनकी दृष्टि में साहित्य-दर्शन के विवेचन का अधिक मूल्य रहता था। वे दार्शनिक आलोचक प्रयोगात्मक आलोचना को सैद्धान्तिक आलोचना की तुलना में अपेक्षाकृत अल्पजीवि तथा कम मूल्यवान कृति समझते थे। चौथे भारतीय साहित्य चिन्तन में वस्तु-अनुसन्धान की प्रवृत्ति अधिक रही है, कलाकृति में निहित वैयक्तिक तत्त्वों के अनुशीलन की प्रवृत्ति न्यूनातिन्यून। यही कारण है कि प्राचीन काल में आज की तरह कलाकार के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन नहीं हो सका। प्राचीनकाल में वेदों की भाष्य-पद्धति का अधिक प्रसार होने के कारण संस्कृत व्यावहारिक समीक्षा अधिकांश मात्रा में टीका एवं भाष्य के रूप में ही प्रगट हुई। प्राचीन काल में यहाँ साधारण अर्थ में व्यावहारिक

समीक्षा के लिए मीमांसा, टीका, व्याख्या तथा भाष्य शब्दों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। टीका पद्धति की समीक्षा में सिद्धान्त की अपेक्षा कृति को अधिक महत्त्व दिया जाता है। मल्लिनाथ आदि टीकाकार कोरे अर्थवाचक टीकाकार ही न थे, समालोचक भी थे। टीका लिखते समय छन्द विशेष के भीतर निहित कवि के तात्पर्य को स्पष्ट करते थे। उक्तियों की विशेषतायें बताते थे। छन्द विशेष के भीतर निहित रस, अलङ्कार, ध्वनि, गुण, रीति, वृत्ति आदि शास्त्रीय तत्त्वों का भी संकेत करते थे। शास्त्रीय तत्त्वों के उद्घाटन के अतिरिक्त स्थल की रमणीयता भी स्पष्ट करते थे। सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में भी बारहवीं सदी के आरम्भ से ही टीका या व्याख्या पद्धति की प्रधानता दिखाई पड़ती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सैद्धान्तिक ग्रन्थों एवं सिद्धान्तों पर लिखी हुई टीकायें भी विवेचन शैली की दृष्टि से व्यावहारिक समीक्षा की टीका पद्धति के भीतर आयेंगी। सैद्धान्तिक ग्रन्थों की टीकाओं में आलोच्य वस्तु के निगूढ़ अर्थों का उद्घाटन होता था।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्राचीन काल में भी आलोचना-प्रत्यालोचना की प्रवृत्ति थी पर आज से भिन्न प्रकार की थी। टीका पद्धति की आलोचना के भीतर प्रत्येक श्लोक को पृथक रूप में देखने की प्रवृत्ति है। सम्पूर्ण ग्रन्थ अथवा कलाकार के समूचे व्यक्तित्व पर सामूहिक रूप से विचार करने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। टीकाकारों का ध्यान इस ओर बहुत ही कम गया है कि आलोच्य छन्द का प्रबन्ध की धारा में क्या स्थान है। टीका पद्धति की आलोचना में स्थलों की रमणीयता के स्पष्टीकरण में कहीं कहीं अनुभूति-व्यंजक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलों पर कभी कभी प्रशंसात्मक तथा कभी निन्दात्मक उक्तियाँ भी मिलती हैं। टीकाकारों ने प्रायः रस एवं औचित्य की दृष्टि से काव्य पर अपना विचार प्रगट किया है। कहीं कहीं सिद्धान्तों की सूक्ष्म व्याख्या भी मिलती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मल्लिनाथ की टीका में प्रौढ़ समीक्षक के बीज एवं संस्कार मिलते हैं।

संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक समीक्षा की दूसरी प्रणाली

आचार्य पद्धति के रूपमें दिखाई पड़ती है। संस्कृत के आचार्य सैद्धान्तिक समीक्षा के ग्रन्थों में लक्षण-निरूपण के पश्चात् उसके उदाहरण रूप में दूसरे लेखकों के श्लोकों, कवियों एवं कृतियों को उद्धृत करते थे। जिन लक्ष्य ग्रन्थों को उत्कृष्ट समझते थे उनके श्लोक अथवा छन्द, रस, अलङ्कार, रीति, गुण, ध्वनि आदि के उदाहरण रूपों में प्रस्तुत करते थे। जिन लक्ष्य ग्रन्थों को निकृष्ट समझते थे उन्हें अधम काव्य के रूप में अथवा उनके छन्दों को दोषों के उदाहरणों के रूप में उद्धृत करते थे। कभी कभी एकही ग्रन्थ के छन्दों को गुण तथा दोष—दोनों के उदाहरण रूप में प्रगट करके यथोचित समीक्षा करते थे। काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि में यह पद्धति दृष्टिगोचर होती है। कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर भी यत्र तत्र विचार मिलता है। आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में इस प्रकार का मत वाल्मीकि, व्यास एवं कालिदास पर प्रगट किया है। उस स्थल पर वे वाल्मीकि, व्यास एवं कालिदास को ही वास्तविक कवि मानते हैं। उस स्थान पर वे कालिदास को वास्तविक कवि मानते हुए भी उनके दोषों का संकेत करना नहीं भूलते। आनन्दवर्धन कालिदास के शङ्कर-पार्वती सम्बन्धी संयोग-वर्णन को अनुचित बतलाते हैं। इस प्रकार की आलोचना पद्धति में सर्वत्र शास्त्रीय पदावली का प्रयोग दिखाई पड़ता है। इसलिए यह शैली अनुभूति-व्यञ्जक नहीं प्रतीत होती। आज का पाठक ऐसी आलोचनाओं को निर्णयात्मक अथवा रूढ़िवादी मान लेता है। अनुभूति व्यञ्जक शैली को न अपनाने के कारण यह आलोचना रूढ़िवादी जान पड़ती है। पर आज के छायावादी आलोचकों के समान इस पद्धति का आलोचक कहीं अस्पष्ट एवं अनिश्चित पदावली का प्रयोग नहीं करता। फिर भी यह मानने में तनिक भी सन्देह नहीं कि संस्कृत व्यावहारिक समीक्षा की यह पद्धति व्यक्तित्व-शून्य है। उसमें आलोचक की प्रतिभा भी कहीं कहीं पारिभाषिक पदावली के बन्धन में कुण्ठित सी हो गई है।

संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक समीक्षा का तीसरा रूप सूक्ति

पद्धति के रूप में दिखाई पड़ता है। इस पद्धति में आलोचक के गुण-दोष के विवेचन की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है।[1] इन सूक्तियों के भीतर निहित संस्कृत कवियों की आलोचना शास्त्रीय तत्त्वों पर आश्रित है। इन सूक्तियों में वैधानिक, तुलनात्मक एवं निर्णयात्मक आलोचना के बीज वर्तमान हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन श्लोकों के भीतर निहित निर्णय वैयक्तिक रुचि की अपेक्षा तर्क पर अधिक आश्रित हैं। इस प्रकार की आलोचना का उद्देश्य सूत्र रूप में कवियों की अलग अलग विशेषताओं का संकेत करना जान पड़ता[2] है।

व्यावहारिक समीक्षा का चौथा रूप संस्कृत साहित्य में शास्त्रार्थ पद्धति के रूप में दिखाई पड़ता है। शास्त्रार्थ पद्धति संस्कृत साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा के विषयों तक ही सीमित रही। वह लक्ष्य ग्रन्थों के विवेचन या खण्डन अथवा मण्डन में प्रयुक्त न हो सकी। इस पद्धति के आलोचकों में विपक्ष के दोषों एवं स्वपक्ष के गुणों को ही देखने की विशेष चेष्टा दिखाई पड़ती है। ऐसे आलोचक अपने पूर्ववर्ती आलोचक से असहमत होने के कारण उसके मतों का खण्डन तथा अपने मत का मण्डन तर्क पूर्ण युक्तियों द्वारा करते हैं। इस प्रकार के समीक्षकों ने जहाँ कहीं ईर्ष्या मत्सरादि से रहित होकर सूक्ष्म विवेचन किया है वहाँ सन्तुलित एवं स्वस्थ कोटि के विचार मिलते हैं तथा विवेचन पद्धति भी ठीक ठिकाने की जान पड़ती है। जैसे, ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत एवं काव्य प्रकाश के चतुर्थ तथा पंचम उल्लास में इस प्रकार की समीक्षा पद्धति अपनाई गई है। जहाँ कहीं आलोचक गर्व आदि के वशीभूत अथवा पूर्वग्रह ग्रहीत होकर पूर्ववर्ती आलोचकों का

१—(क) तावतभाभार्वेर्भाति यावन्माघस्यनोदयः।
(ख) पुराकवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यस्य कवेरभावात् अनामिका सार्थवती बभूव।

२—उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघेसन्ति त्रयोगुणाः।

खण्डन तथा अपने मत का मण्डन करता है वहाँ साहित्य सम्बन्ध विचार असन्तुलित, अस्वस्थ एवं एकाङ्गी हो जाते हैं। इसके उदाहरण के लिए महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ बहुत उपयुक्त है जिसमें ध्वनिमत का खण्डन तथा अनुमितिवाद का मण्डन पूर्वग्रह से ग्रहीत होकर किया गया है। हिन्दी साहित्य में बिहारी और देव तथा देव और बिहारी नाम की समीक्षा-पुस्तकें इसी पद्धति पर लिखी गई हैं। हिन्दी में शास्त्रार्थ पद्धति पर लिखी आलोचनायें निबन्ध रूप में भी प्रकाशित हुई हैं।[१]

संस्कृत साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा पद्धति का पंचम प्रकार खण्डनात्मक पद्धति के रूप में मिलता है। संस्कृत साहित्य की पूर्व विवेचित आचार्य पद्धति एवं शास्त्रार्थ पद्धति में भी दूसरे आचार्यों का खण्डन मिलता है पर वह खण्डन-पद्धति से भिन्न कोटि का होता है। खण्डन-पद्धति दूसरे शब्दों में दोष-दर्शन की प्रणाली है। इसमें किसी आचार्य, कवि अथवा ग्रन्थ का दोष-दर्शन या खण्डन ही साध्य रहता है किन्तु आचार्य पद्धति एवं शास्त्रार्थ पद्धति में आलोचक साधन रूप में खण्डन को अपनाता है; अपने मतों की पुष्टि के लिए विरोधी मतों का खण्डन करता है। पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'चित्र मीमांसा खण्डन' में इसी पद्धति का अवलम्बन लिया गया है। हिन्दी में कृष्णानन्द गुप्त लिखित "प्रसादजी के दो नाटक" इसी प्रकार की रचना है। ईर्ष्या, द्वेष आदि पूर्वग्रहों से मुक्त होकर लिखी हुई दोषवाचक आलोचना भी दूषित एवं भ्रष्ट रचनाओं के प्रचार रोकने तथा साहित्यकारों को त्रुटियों एवं दोषों के प्रति सावधान करने के लिए साहित्य की एक महत्त्व पूर्ण आवश्यकता है, किन्तु केवल खण्डन या दोष-प्रदर्शन के लिए ही खण्डन

---

१ (क) केशवप्रसाद मिश्र एवं चन्द्रबली पाण्डेय के बीच...(मधुमती भूमिका पर)

(ख) पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र एवं रामदहिन मिश्र के बीच...(लक्षणा शक्ति पर)

पद्धति के अनुसार लिखी गई आलोचना साहित्य में भ्रम, ईर्ष्या, द्वेष आदि का ही प्रसार करेगी।

संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक समीक्षा का छठाँ प्रकार लोचन पद्धति के रूप में मिलता है। इस पद्धति के अनुसंधानक आचार्य अभिनवगुप्त हैं। इस पद्धति का अनुगमन उनकी प्रसिद्ध पुस्तक ध्वन्यालोकलोचन में दिखाई पड़ता है। इस पद्धति का आलोचक आलोच्य वस्तु पर प्रायः सभी अपेक्षित दृष्टियों से विचार करता है। इस पद्धति पर लिखी गई समीक्षा को पढ़कर जन साधारण भी समीक्ष्य कृति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस बात का प्रमाण अभिनव गुप्त के ही शब्दों में देखिए—यत्किञ्चिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्यालोकं स्वलोचन नियोजनया जनस्य। (ध्वन्यालोकलोचन)
अर्थात् अपने लोचन द्वारा न्यूनाधिक व्याख्या करता हुआ मैं काव्यालोक को जन साधारण के लिए स्पष्ट करता हूँ।

किसी कृति की टीका से उसकी आलोचना भिन्न वस्तु है। टीका से उस कृति का मुख्यतः अर्थ या तात्पर्य स्पष्ट हो सकता है, किन्तु आलोचना से उसके अन्तर्भाष्य तथा अवान्तरार्थ दोनों ही स्पष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि आलोचना टीका से विशद एवं व्यापक अर्थ रखती है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका रहते हुए भी उससे पाठकों की जिज्ञासातृप्ति होते न देखकर ध्वन्यालोकलोचन की रचना की:—

किं लोचनं विना लोको भाति चन्द्रिकयाऽपिहि।
तेन अभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात॥

तात्पर्य यह कि 'चन्द्रिका' (ध्वन्यालोक की टीका) के रहते हुए भी लोचन (ध्वन्यालोक लोचन) के बिना लोक (ध्वन्यालोक) का ज्ञान असम्भव है। इसीलिए प्रस्तुत रचना (ध्वन्यालोकलोचन) में अभिनवगुप्त ने पाठकों की आँखों को खोलने का प्रयत्न किया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि लोचन पद्धति में आलोचक भावक को किसी

आलोच्य कृति या कवि का इतना पूर्ण ज्ञान उपस्थित करता है कि जिससे वह उस आलोचना द्वारा लोचित रचना का उचित भावन कर सके। यह पद्धति आलोचना के उचित अर्थों में अपने कार्य का सम्पादन करती है। शैली की दृष्टि से इस समीक्षा प्रद्धति में मुख्यतः तीन रूप दिखाई पड़ते हैं। गवेषणात्मक, सौन्दर्यमूलक तथा तुलनात्मक। गवेषणात्मक रूप में साहित्यिक कृतियों एवं कृतिकारों पर अनुसन्धान होता है तथा कृतियों में निहित गूढ़ सिद्धान्तों एवं तथ्यों का अन्वेषण होता है। सौन्दर्यमूलक रूप में साहित्य-सौदर्य के परम्परागत तत्त्वों-रस, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के आधार पर कृति की परख की जाती है। तुलनात्मक रूप में दूसरी कृतियों अथवा कृतिकारों से तुलना की जाती है। पूर्व विवेचित व्यावहारिक समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों से यह स्पष्ट है कि भारत में काव्य को नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के सिद्धान्तों पर नापने का ऐकान्तिक दृष्टि से प्रयत्न नहीं हुआ है। यहाँ के आलोचक साहित्य को विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से देखने एवं मूल्याङ्कन करने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसीलिए यहाँ न तो ऐतिहासिक, सामाजिक राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि प्रकार के आलोचक हुए और न ऐतिहासिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि प्रकार की समीक्षा पद्धतियाँ ही विकसित हुईं। भारतीय आलोचक शास्त्र-विधि का नियन्त्रण मानते हुए भी कवि को स्वातंत्र्य देता है। यहाँ का आलोचक न तो परम्परावादी पश्चिमी आलोचकों के समान विधि-विधान के जटिल नियन्त्रण को मानता है और न प्रभाववादी आलोचकों के समान नियमों की नितान्त अवहेलना ही करता है। कवि-प्रतिभा को पूर्ण स्वतंत्रता देकर भी वह स्वच्छन्दता अपनाने वाले कवियों को "निरंकुशाःकवयः" कहकर उनकी निन्दा करता है। भारतीय आलोचक शास्त्रीय तत्त्वों, नियमों एवं सिद्धान्तों का अध्ययन शास्त्रज्ञ बनने का दम्भभरने के लिए नहीं करता, निर्णयात्मक सम्मति देने के लिए नहीं करता वरन् अपने मस्तिष्क को विस्तृत बनाने के लिए करता है, काव्य जगत के भावों एवं विचारों की

गहराई में प्रविष्ट होने के लिए करता है। राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में व्यावहारिक आलोचक के स्वभाव एवं वृत्तिवैशिष्ट्य के अनुसार उसके अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, तत्त्वाभिनिवेशी एवं मत्सरी भेद निरूपित किये हैं। किन्तु वे अन्त में तत्त्वाभिनिवेशी कोटि के आलोचक को ही वास्तविक कोटि का आलोचक मानते है। काव्य मीमांसा में एक स्थान पर कवि की उपमा, पारस से तथा आलोचक की, कसौटी से दी गई है। जैसे, कसौटी का पत्थर सोनेकी लकीर को अपने ऊपर धारण कर लेता है। तद्वत् आलोचक काव्यगत प्रतिष्ठित अलौकिक विभावों के अलौकिक प्रभाव को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर देता है[1]। इससे तात्पर्य यह निकला कि संस्कृत साहित्य का व्यावहारिक समालोचक स्वयं रसास्वाद करता है एवं अपने विवेचन से दूसरों के रसास्वाद में सहायक सिद्ध होता है। वह रसौचित्य की दृष्टि से काव्य को नापता है, स्थूल नैतिक दृष्टि से नहीं। वह अपनी आलोचना में नैतिकता का सम्मान करता है पर स्थूल उपयोगितावाद का नहीं। कसौटी से आलोचक की उपमा देने से दूसरा तात्पर्य यह भी निकलता है कि जैसे कसौटी नामक पत्थर साधारण पत्थर से भिन्न होता है तद्वत् आलोचक साधारण व्यक्ति से भिन्न होता है; उसकी योग्यता असाधारण कोटि की होती है। तभी तो वह किसी कृति के गूढ़ तत्त्वों में अभिनिविष्ट होने में समर्थ होता है, तभी तो वह काव्यगत प्रत्येक प्रकार के वर्णनीय विषय में तन्मय होने की क्षमता रखता है[2] और तभी तो वह रस निष्पत्ति में सहायक वैधानिक तत्त्वों को स्पष्ट करने में सफल होता है। भारतीय आलोचक की उपर्युक्त विशेषताओं के विवेचन से तात्पर्य यह निकला कि संस्कृत की यत्किञ्चित् प्राप्त व्यावहारिक समीक्षा भी कभी रूढ़िवादी नहीं रही। भारतीय व्यावहारिक समीक्षा

---

१ द्वित्रास्तु भावकमन शिलापट्टनिकुट्टिताः। (काव्यमीमांसा)

२ येषांकाव्यानुशीलनाभ्यासविशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता हृदयसंवादभाजाः सहृदयाः। (अभिनवगुप्त)

की धारणा में न तो परम्परा की ऐकान्तिक उपासना थी, और न नवीनता की नितान्त उपेक्षा। सैद्धान्तिक समीक्षा के समान ही इसमें भी सामंजस्यवाद की प्रतिष्ठा मानी गई थी; यह दूसरी बात है कि प्रत्यक्ष रूप से इसका विवेचन कहीं नहीं हुआ। राजशेखर तत्वाभिनिवेशी कोटि के आलोचक को ही वास्तविक कोटि का आलोचक मानते हैं—इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत की व्यावहारिक समीक्षा में कृति के तत्त्वानुशीलन को मुख्य स्थान दिया गया था। व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली उक्तियों में कृति के दोष से अधिक उसके गुण या विशेषताओं के अनुसन्धान या परिशीलन की ओर भारतीय समीक्षकों की दृष्टि अधिक दिखाई पड़ती है। इससे यह तात्पर्य निकला कि भारतीय व्यावहारिक समीक्षा की प्रवृत्ति मुख्यतः सर्जनात्मक रही है। व्यावहारिक आलोचक की 'वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता' नाम की विशेपता इस बात का संकेत करती है कि यहाँ की व्यावहारिक आलोचना की पद्धतियों में कवि के भावों, विचारों, गुणों एवं विशेषताओं के आस्वादन एवं अधिमूल्यन का सबसे अधिक महत्त्व था।

रुचि-वैचित्र्य के अनुसार होनेवाले आलोचकों के भेदों का ज्ञान भी संस्कृत आचार्यों को था। यह रुचि-वैचित्र्य का परिणाम है कि कोई आलोचक अपनी आलोचना में कला पक्ष पर अधिक ध्यान देता है तो कोई भाव पक्ष पर; कोई मत्सरी होता है तो कोई अरोचकी; कोई तत्त्वाभिनिवेशी होता है तो कोई सतृणाभ्यवहारी।[१]—किन्तु यह रुचि-वैचित्र्य क्यों होता है? इसके विवेचन की ओर संस्कृत समीक्षकों का ध्यान नहीं गया। काव्यमीमांसाकार ने आलोचक के जो विभिन्न सम्बन्ध कवि से निरूपित किए हैं उससे भी व्यावहारिक समीक्षा के स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड़ता है, अतः उस पर भी संक्षेप में विचार

१—वाग्भावको भवेत्कश्चित् कश्चिद्धृदय भावकः। (काव्यमीमांसा) तेन च द्विधाऽरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च। चतुर्धा इति यायावरीयः। मत्सरिणस्तत्वाभिनिवेशिनश्च। (वही)

ष्कार लेना आवश्यक है :—स्वामी मित्रं च मंत्री च शिष्यश्चाचार्य एव च। कवेर्भवति हि चित्रं किं हितद्यन्न भावकः। (राजेश्वर)

आलोचक अपनी आलोचना में कवि की अपूर्णता, दोष, अभाव आदि बताने के कारण उसका स्वामी; उसके गुण, वैशिष्ट्य आदि का बखान करने के कारण उसका मित्र; उसको मंगलकारी सुझाव, सम्मति आदि देने के कारण उसका मंत्री; उसकी रचना के विषय में अधिक से अधिक जानने की रुचि एवं जिज्ञासा रखने के कारण उसका शिष्य तथा उसके गुण एवं अवगुण दोनों बताने के कारण उसका आचार्य है। कवि के प्रति आलोचक के विभिन्न सम्बन्धों से व्यावहारिक समीक्षा के विषय में यह निष्कर्ष निकला कि भारतवासियों की व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी दृष्टि एकांगी नहीं थी। उसमें व्यापकता का पुट विशद मात्रा में था। किसी कृति को उसके गुण, दोष, अभाव, अपूर्णता आदि विविध दृष्टियों से देखने की धारणा से संस्कृत समीक्षक परिचित थे; यह दूसरी बात है कि वे किसी कारणवश उसे लेखबद्ध नहीं कर सके या व्यावहारिक रूप में नहीं ला सके। राजशेखरने अपनी काव्य-मीमांसा के चतुर्थ अध्याय में आदर्श व्यावहारिक आलोचकों के गुणों एवं विशेषताओं का उल्लेख विस्तार से किया है। उनमें से कुछ गुणों का उल्लेख यहाँ पर संस्कृत साहित्य में आदर्श व्यावहारिक समीक्षा की धारणा सैद्धान्तिक रूप में समझने के लिए किया जाता है। कृति के दोष एवं गुण के सार को व्यावहारिक समीक्षा में सम्यक् रूप से विवेचित करना आलोचक का महत्त्वपूर्ण आदर्श गुण है। आदर्श आलोचक को निर्मत्सरी होना आवश्यक है, यद्यपि निमत्सरता का गुण संयोग से किसी आलोचक को मिलता है।[१] सच्चे एवं आदर्श आलोचक में सत्कवि के गुण वर्तमान रहते हैं। आदर्श समीक्षक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति

१—यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं, स्वयं सत्कविः।
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्म्मत्सरः॥ (राजशेखर)

का होता है। वह कवि के अन्तर्पक्ष के विवेचन पर सबसे अधिक ध्यान रखता है। वह कवि की काव्य-सर्जना के श्रम को भली भाँति जानता है।[१] वह शब्द संगठन की विधि को विवेचित करने में निपुण होता है। वह सूक्तियों के भीतर निहित कवि की अपूर्व दृष्टि को पहचान लेता है। वह पद-विन्यास के तात्पर्य को भलीभाँति स्पष्ट कर देता है। वह इतनी सहृदयता एवं प्रत्यग्रता से भरा रहता है कि कवि के रसामृत को शीघ्र ही आस्वादित करने में समर्थ हो जाता है।[२] उपर्युक्त विवेचित आलोचक के विभिन्न भेदों, गुणों एवं विशेषताओं से विदित होता है कि प्राचीन काल में संस्कृत साहित्य के आचार्य व्यावहारिक आलोचना तथा आलोचक के भिन्न भिन्न स्वरूपों से परिचित थे। यह दूसरी बात है कि परिस्थिति विशेष अथवा कारण विशेष के उत्पन्न होने से सबको व्यवहार अथवा कार्य रूप में परिणत नहीं कर सके। राजशेखर रचित व्यावहारिक समीक्षा की परिभाषा भी इस बात को प्रमाणित कर रही है कि उस काल में संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप सैद्धान्तिक रूप में बहुत ही व्यापक माना जाता था। उसमें आलोच्य कृति या उसके समीक्ष्य अंश के मुख्य अर्थों के विवेचन के साथ उनसे अनुबन्धित गौण अर्थों का भी विश्लेषण आवश्यक समझा गया था।[३] अर्थात् व्यावहारिक समीक्षा में आदर्श रूप में किसी कृति का चतुरस्र सौन्दर्यान्वेषण आवश्यक माना जाता था।

१—पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां।
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥ (राजशेखर)

२—शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः।
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः॥ (वही)

३—अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थ विच्छेदश्च सा। (काव्यमीमांसा)

भारतीय समीक्षा

पूर्व विवेचित भारतीय समीक्षा के सम्प्रदायों से यह स्पष्ट है कि हम भारतीय समीक्षा के विकास काल को छः भागों में बाँट सकते हैं।

१—आरम्भ या निर्माण काल (उद्भव काल से लेकर भरत मुनि तक)

२—अन्वेषण काल (भामह से लेकर आनन्दवर्धन के पूर्व तक। इसमें अलंकार, रीति, गुण तथा दोष सम्प्रदायों का विकास हुआ। एवं इन सम्प्रदायों द्वारा काव्य के विभिन्न तत्त्वों, गुणों, सिद्धान्तों तथा पक्षों का अन्वेषण हुआ।

३—चरम विकास या प्रौढ़ काल (इसके प्रतिनिधि आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त हैं। इस काल में ध्वनि एवं रस सम्प्रदाय के विस्तृत विवेचन के साथ साथ काव्य के उत्कर्ष विधायक गुणों एवं तत्त्वों की स्पष्ट एवं वैज्ञानिक व्याख्या हुई।

४—प्रतिक्रिया काल (इसके प्रतिनिधि आचार्य कुन्तक एवं महिम-भट्ट हैं। इस काल में ध्वनि सम्प्रदाय के विरोधार्थ वक्रोक्ति एवं अनुमान सम्प्रदाय की स्थापना हुई।)

५—समन्वय काल (इसके प्रतिनिधि आचार्य क्षेमेन्द्र एवं मम्मट हैं। इस काल में काव्य के विभिन्न तत्त्वों, सिद्धान्तों, एवं गुणों का समन्वय किया गया तथा काव्य-वस्तु का व्यवस्थित निरूपण हुआ।)

६—टीका या व्याख्या काल :—(यह काल राजानक रुय्यक से आरम्भ होकर आज तक चल रहा है। क्योंकि इस युग में सैद्धान्तिक दृष्टि से काव्य के किसी नवीन सिद्धान्त या तत्त्व का आविष्कार नहीं हुआ। इस काल में टीकाकारों

तथा व्याख्याकारों की भीड़ दिखाई पड़ती है। इन टीकाकारों में मौलिकता की कमी होते हुए भी इनकी विश्लेषण-क्षमता, वर्गीकरण तथा उपवर्गीकरण की शक्ति तथा तर्कबल प्रशंसनीय है। इस युग के प्रतिनिधि आचार्य विश्वनाथ महापात्र तथा पण्डितराज जगन्नाथ हैं।)

भारतीय समीक्षा का आदि काल वैदिक काल से लेकर भरत मुनि तक फैला हुआ है। प्रागैतिहासिक काल में—वेदों, पुराणों[१] एवं उपनिषदों में उसकी कुछ अस्पष्ट तथा धुँधली छाया दिखाई पड़ती है[२]। वैदिक ऋषियों को काव्य के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों पक्षों का ज्ञान था। वे काव्य में आभ्यन्तर पक्ष की ही उत्कृष्टता मानते थे। भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में अपने जिन पूर्ववर्ती आचार्यों का उद्धरण दिया है वे भी रसवादी ही जान पड़ते हैं।[३] अग्निपुराणकार ने भी रसको स्पष्ट शब्दों में काव्य का प्राणभूत तत्त्व कहा है। भरत मुनि तक आते आते उसका स्पष्ट रूप झलक जाता है। इस युग में काव्य या नाटक से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं का नामकरण हुआ, काव्य के मुख्य-मुख्य तत्त्व खोज निकाले गये। काव्य एवं नाटक की उत्पत्ति पर धार्मिक ढङ्ग से प्रकाश डाला गया। काव्य की प्रकृति, कार्य तथा समाज में उसके स्थान आदि अनेक विषयों पर दार्शनिक ढङ्ग से विचार प्रगट किया गया। काव्य का सर्वाधिक मुख्य तत्त्व—रस खोज लिया गया। रस-विवेचन में कलाकार की अनुभूति, कल्पना, भाव के उन्नयन तथा विकास आदि पर चिन्तन हुआ। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त का विवेचन अत्यन्त व्यापक तथा गवेषणापूर्ण है। इसमें नाटक देखने के पश्चात् सहृदय में उत्पन्न होने वाले मानवीय अनुभव का मनोवैज्ञा-

---

१ वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रसएवात्र जीवितम् (अग्निपुराण)

२ उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्यु उशती सुवासः।

३ भरत मुनि 'द्रुंहिण' को अपना उपदेशक मानते हैं।

निक विश्लेषण है। नाट्यशास्त्र में रस के साधनों, अवयवों एवं तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या मिलती है। सहृदय की विशेषताओं का विस्तृत विवेचन भरत मुनि ने किया है। स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों की व्याख्या, रस-प्रक्रिया का सूत्रात्मक ढङ्ग से कथन एवं रस विशेष की निष्पत्ति का विवेचन प्रारम्भ में ही बहुत वैज्ञानिक कोटि का मिलता है नाट्यशास्त्र में रस-विवेचन के अतिरिक्त अलंकार, गुण, दोष, काव्य-लक्षण पर भी गौण रूप से कुछ संकेत मिलता है। इस प्रकार आदि काल में ही भारतीय समीक्षा के सर्वश्रेष्ठ सम्प्रदाय—रस सम्प्रदाय की स्थापना दिखाई पड़ती है। रस के आचार्यों द्वारा काव्य के आनन्द पक्ष पर इतने विस्तार से विवेचन हुआ है कि काव्य के अन्य पक्ष या तो बहुत ही गौण हो गये हैं अथवा उपेक्षित से जान पड़ते हैं। इस सम्प्रदाय ने स्पष्ट रूप से यह बतलाया कि काव्य का प्रभाव हमारे ऊपर रस के कारण ही पड़ता है। काव्य के अन्य सिद्धान्तों, तत्त्वों एवं गुणों के अनुसन्धान के लिए अन्य सम्प्रदायों की अवतारणा हुई। रस सम्प्रदाय के इस तथ्य को कि काव्य का प्रभाव हमारे ऊपर रस के कारण ही पड़ता है अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया; और वे बराबर इस चिन्तन में लगे रहे कि वस्तुतः काव्य का प्रभाव सहृदय के ऊपर किस प्रमुख तत्त्व के कारण पड़ता है? यथार्थतः काव्य की आत्मा किस तत्त्व में निहित है? इन्हीं चिन्तनों के फल-स्वरूप अलंकार, रीति, गुण, दोष, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सम्प्रदायों की स्थापना हुई। उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने काव्य की आत्मा को उसके विभिन्न तत्त्वों में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया? काव्य के विभिन्न तत्त्वों, सिद्धान्तों, उपादानों, पक्षों एवं गुणों का आविष्कार किया। फलस्वरूप काव्य के अन्तरङ्ग तथा वहिरङ्ग दोनों पक्षों पर बहुत ही सूक्ष्म तथा विस्तृत ढङ्ग से विचार हुआ। भारतीय समीक्षा के अन्वेषण काल में सर्वप्रथम अलङ्कारवाद की स्थापना हुई। अलङ्कारवादियों ने अलङ्कार की व्यापक व्याख्या करके उसके भीतर वक्रोक्ति, ध्वनि, रीति, गुण, रस, संधि, संध्यङ्ग आदि

का समावेश करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अलंकार में ही काव्य का समस्त सौन्दर्य बसता है। अतः वही काव्य की आत्मा है। इनके मत में अलंकार द्वारा ही काव्य में शक्ति की प्रतिष्ठा होती है, तथा अलंकार के ही माध्यम से साहित्य एवं जीवन का सत्य समझा जा सकता है। जीवन के सत्य सजीव बिम्बों के रूप में प्रगट होते हैं; और ये सजीव बिम्ब प्रायः उपमान रूप में अलंकार के भीतर प्रतिष्ठित होते हैं। अलंकारवादी वक्रोक्ति के अभाव में काव्य का अस्तित्व नहीं मानते। अलंकार सम्प्रदाय कला के अनुकरण या आदर्शीकरण के सिद्धान्त में नहीं वरन् आविष्करण के सिद्धान्त में विश्वास करता हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि अलंकार द्वारा काव्य में नये रूपों का आविष्कार होता है। अलंकार मत द्वारा काव्य के कल्पना पक्ष, सौंदर्य तत्त्व, असाधारण तत्त्व, चमत्कार पक्ष, अभिव्यंजना पक्ष एवं रूप-योजनाओं के प्रश्नों को समझने में आज भी पर्याप्त सहायता मिल सकती है। इस मत का सबसे बड़ा दोष यही था कि उसने अलंकार की व्याप्ति बहुत विस्तृत कर दी, काव्य में अलंकार-प्रयोग का बहुत दुराग्रह किया तथा अलंकार तत्त्व को काव्य का प्राण तत्त्व अभिहित किया।

इस युग के दूसरे वर्ग के आलोचकों ने रीति को काव्य की आत्मा कहा। इस मत में भी अलंकार मत के समान ही रीति की व्याप्ति बहुत व्यापक सिद्ध की गई और उसके भीतर गुण, रस, वस्तु, अनुभूति, अलंकार, ध्वनि, औचित्य आदि काव्य के सभी तत्त्वों का समावेश किया गया। रीतिसम्प्रदाय में रीति की व्यापक धारणा वाल्टरपेटर निरूपित शैली की धारणा से भी अधिक विस्तृत है। रीति के भेदों में काव्यात्मक अभिव्यंजना के प्रकार देखने को मिलते हैं। रीतिवादी आचार्यों द्वारा निरूपित रीति अपने व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण काव्यात्मक अभिव्यंजना की द्योतक है। संकुचित अर्थ में इसका प्रयोग अभिव्यंजना के प्रकार के लिए भी हुआ है। इस सम्प्रदाय द्वारा साहित्यिक अभिव्यंजना के अनेक मार्गों का केवल आविष्कार ही नहीं हुआ वरन् उनके उपयोगी

गुणों का भी अनुसंधान किया गया। ये गुण रीति के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इन गुणों के आधार पर साहित्य की श्रेष्ठता एवं हीनता ठहराने का निश्चय किया गया; श्रेष्ठ शैली के लक्षणों एवं तत्त्वों का निर्धारण हुआ। रीति-सम्प्रदाय काव्य में अभिव्यंजना-सौन्दर्य पर सबसे अधिक बल देता है, काव्य कौशल एवं रचनातत्त्वों की महत्ता का सबसे अधिक समर्थन करता है। रीतिवादियों द्वारा विशिष्ट प्रकार की रीति लेखक के विशिष्ट प्रकार के व्यक्तित्व की प्रतिनिधि मानी गई किन्तु उनके द्वारा लेखक के व्यक्तित्व का विवेचन सम्यक् प्रकार से न हो सका। कवि का चरित सम्बन्धी अध्ययन रीति-विवेचन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है—इसे रीतिवादी आचार्य नहीं पहचान सके। रीतिवादियों के रीति-विवेचन में काव्य का आत्मतत्त्व उचित स्थान नहीं पा सका; काव्य-गुणों का निरूपण भी वैज्ञानिक एवं विस्तृत ढङ्ग से नहीं हो सका; काव्य-रीतियों का सीमित संख्या में निरूपण एवं किसी रीति को श्रेष्ठ तथा किसी को निकृष्ट कहने का प्रयत्न भी अवैज्ञानिक ही सिद्ध हुआ। उपर्युक्त कतिपय दोषों के रहते हुए भी रीति सम्प्रदाय द्वारा काव्य के अभिव्यंजना पक्ष पर सुविस्तृत एवं सूक्ष्म विचार उपस्थित किया गया; और आज भी काव्य के अभिव्यक्ति-तत्त्व, रचना कौशल तथा अभिव्यंजना सौन्दर्य को समझने में रीतिसम्प्रदाय के अध्ययन द्वारा हमें पर्याप्त सहायता मिल सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकार एवं रीति सम्प्रदाय ने काव्य के बाह्याङ्ग तत्त्वों की विशेषता एवं महत्ता पर उस युग के आलोचकों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया[1] और साथ ही यह बलपूर्वक कहा कि काव्य के बहिरंग तत्त्व, उसके अन्तरंग तत्त्वों से ऐकान्तिक रूप में अलग नहीं किये जा सकते।

---

१ अलंकार, रीति और गुण का सम्बन्ध काव्य के शब्दार्थ अर्थात् शरीर से ही मुख्य रूप से है, किन्तु गौणरूपेण ये तत्त्व ध्वनि और रस से भी सम्बन्धित हैं।

इस युग के तीसरे एवं चौथे वर्ग के आलोचकों ने गुण एवं दोष सम्प्रदायों की स्थापना की। किन्तु गुण एवं दोष सम्प्रदायों के मूल में कोई सैद्धान्तिक प्रक्रिया नहीं दिखाई पड़ती, इसलिए अलग सम्प्रदाय के रूप में इनका विवेचन मैंने नहीं किया। इन सम्प्रदायों में काव्य के बहुसंख्यक गुणों एवं दोषों की व्याख्या की गई है। इनके विवेचन में मुख्य रूप से कलात्मक अभिव्यंजना तथा गौण रूप से काव्य प्रकृति एवं काव्यवस्तु से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न उठाये गये हैं तथा काव्य के व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। इन दोनों सम्प्रदायों के अध्ययन द्वारा आज भी काव्य के अनेक गुणों, दोषों तथा विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है तथा व्यावहारिक समीक्षा में इनसे पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। आधुनिक युग के कवियों, पाठकों तथा आलोचकों के पथ-प्रदर्शन में भी ये दोनों सम्प्रदाय बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। संस्कृत समीक्षा के विकास में यह काल अस्पष्ट, अव्यवस्थित, अनिश्चित, अप्रौढ़ एवं अतिरेकतावादी कहा जाता है। किन्तु इस काल के प्राथमिक, अप्रौढ़ एवं अतिरेकतावादी विवेचन ने ही भावी प्रौढ़ युग को उत्पन्न किया। इस युग में ही काव्य के मूल प्रश्नों, तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का अन्वेषण हुआ।

भारतीय समीक्षा का तीसरा युग चरम विकास या प्रौढ़काल के नाम से अभिहित है। इस युग के प्रतिनिधि आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त हैं। चरम विकास काल की विशेषताओं को समझने के लिए सर्वप्रथम उन कारणों पर विचार करना चाहिए जो इसे स्वर्णकाल की संज्ञा देते हैं। इस युग को चरमविकास काल कहने का प्रथम कारण यह है कि इसके पश्चात् भारतीय समीक्षा में किसी मौलिक सिद्धान्त का आविष्कार नहीं हुआ। वक्रोक्तिवाद के सिद्धान्त अलंकारवाद के सिद्धान्तों के ही परिवर्धित एवं परिष्कृत रूप हैं। वक्रोक्ति मत में अभिव्यंजना के सभी तत्त्वों को अपनाने के लिए अलंकार मत की व्याप्ति विस्तृत कर दी गई है। अनुमितिवाद रसमत का ही अनुयायी है, केवल रस-प्रक्रिया को अनुमिति-प्रक्रिया से सिद्ध

करता है। औचित्यवाद में काव्य के किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार न होकर उसके विभिन्न तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा हुई अथवा औचित्य तत्त्व निरपेक्ष रूप में काव्य का आत्म तत्त्व घोषित किया गया। इस युग को प्रौढ़काल कहने का दूसरा कारण यह है कि इस काल में काव्य के जिन तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन जिस रूप में हुआ वे आज तक प्रायः उसी रूप में मान्य हैं। रस, अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, औचित्य आदि काव्य के अनेक तत्त्वों का जो स्वरूप तथा स्थान आनन्द एवं अभिनवगुप्त द्वारा निश्चित हुआ वही आज तक प्रायः भारतीय समीक्षा में माना जा रहा है। रसवाद की स्थापना तो भरत मुनि के समय तक हो चुकी थी पर उसे व्यवस्थित करने का श्रेय आनन्द एवं अभिनवगुप्त को ही है। भरत के पूर्व तक रस के सब अंग बन चुके थे। उन अंगों का विवेचन भी हो चुका था। भरत के पश्चात् लोल्लट, शंकुक एवं भट्टनायक ने अलग-अलग ढंग से रसनिष्पत्ति-प्रक्रिया पर विचार भी किया था। आनन्दवर्धन ने रस की उस बहुमुखी विकासधारा को एक निश्चित दिशा प्रदान किया तथा रस का सम्बन्ध काव्य के विभिन्न तत्त्वों से स्थापित किया। इन सभी तत्त्वों को एक स्थान पर एकत्र कर आनन्द ने इनकी विशद, स्पष्ट एवं गंभीर व्याख्या की। इस युग को भारतीय समीक्षा का स्वर्णकाल कहने का तीसरा प्रसिद्ध कारण यह है कि यह काल सामान्यतया काव्य के सभी तत्त्वों के विकास की दृष्टि से स्वर्ण युग रहा। काव्य के विभिन्न तत्त्व, रस एवं ध्वनि मतों द्वारा विकास तथा सन्तुलन को प्राप्त हुए। रस का जो स्वरूप एवं प्रक्रिया आज मान्य है वह प्रायः आनन्द एवं अभिनवगुप्त द्वारा ही प्रतिपादित है। मम्मट, विश्वनाथ तथा पं०राज जगन्नाथ ने रस के जिस स्वरूप का गंभीर एवं विशद विवेचन किया है वह इसी काल में बन चुका था।

ध्वनिकार के मत में जो कुछ अव्यवस्था या अतिरेकता थी वह अभिनवगुप्त द्वारा परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित हो गई। इसके परिणाम स्वरूप काव्य के सभी तत्त्वों को उनका उचित स्थान मिल गया।

काव्य के आत्मतत्त्व एवं शरीर तत्त्व ठीक ठीक रूप में पहचान लिये गये। साहित्य की प्राचीन तथा नवीन विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित हो गया। आनन्द के विवेचन का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनके प्रतिपक्षी भी उनके सिद्धान्तों के समक्ष नतमस्तक हो गये; अर्थात् उन्हें किसी न किसी रूप में उनके सिद्धान्तों को अपना कर ही चलना पड़ा। महिमभट्ट ने आनन्द की रस-प्रक्रिया का खण्डन करते हुए भी रस को काव्य की आत्मा मान ही लिया। कुन्तक भी रस और ध्वनि की उपेक्षा नहीं कर सके। इस युग को भारतीय समीक्षा का चरम विकास काल मानने का चौथा प्रसिद्ध कारण यह है कि इस काल के प्रतिनिधि आचार्यद्वय का इतना व्यापक प्रभाव भविष्य के समीक्षकों पर पड़ा कि ये दोनों आचार्य संस्कृत साहित्य के सभी परवर्ती आचार्यों के लिए उपजीव्य बने रहे। आनन्द ने अपने सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों को आत्मसात करके काव्य का जैसा सूक्ष्म, प्रौढ़ एवं प्रामाणिक विवेचन उपस्थित किया है वैसा विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण आनन्द द्वारा निरूपित काव्यपुरुष का रूपक है जिसमें काव्य का कोई भी प्रधान तत्त्व उपेक्षित नहीं हुआ है। ध्वनि रूपी आत्मा से प्रकाशित; रस रूपी प्राण से अनुप्राणित, रीति रूपी अङ्गसंगठना से सुसंगठित; शब्दार्थरूपी पुष्ट शरीर से विमांसित; गुण रूप शौर्यादिगुणों से विभूषित, छन्द रूपी सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, औचित्य रूपी अङ्गों के समानुपातिक सम्बन्धों से सुव्यवस्थित, अलंकार रूपी आभूषणों से समलंकृत काव्य पुरुष की कल्पना बहुत ही सजीव तथा प्रौढ़ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य पुरुष की उपर्युक्त धारणा भारतीय समीक्षकों के साहित्य-चिन्तन की परिपक्वावस्था की द्योतक है क्योंकि इसमें किसी भी दृष्टि से काव्य-पुरुष विकलांग नहीं है। अलंकार, रीति, गुण आदि में काव्य के अहम् के दर्शन का प्रयत्न भ्रान्ति-मूलक था। निरन्तर चिन्तन के फल स्वरूप इस युग के आचार्यों ने काव्य के आत्मतत्त्व को वास्तविक रूप में पहचाना तथा काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ उसका उचित सम्बन्ध स्थापित किया। साहित्य-चिन्तन

की उपर्युक्त परिपक्वावस्था को प्रगट करने के कारण भी यह युग भारतीय समीक्षा का चरम विकास काल समझा जाता है।

भारतीयों का रस-सिद्धान्त विश्व के साहित्य-दर्शन को एक अनुपम देन है—इसकी ठीक व्यवस्था एवं विकास इस काल में हुआ। इसलिए भी यह काल भारतीय समीक्षा का स्वर्ण युग माना गया। ध्वनि या रस, काव्य का वह केन्द्र विन्दु है जिसके चारों ओर काव्य के अन्य तत्त्व घूमते हैं। साहित्य में रस की महत्ता के विवेचन के अवसर पर यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि किस प्रकार रस सिद्धान्त के भीतर अलंकार, गुण; रीति, औचित्य तथा ध्वनि; कल्पना, चिन्तन, तथा अनुभूति; सत्य, आदर्श एवं संगति; वास्तविकता, चिन्मयता, रमणीयता एवं विश्वात्मकता; नीति, न्याय; भव्यता तथा उदात्तता नामक सिद्धान्त अपने आप आ जाते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में काव्य-सौन्दर्य की उपमा रमणी के लावण्य से देकर इस बात को बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से सिद्ध किया है कि काव्य में अन्य तत्त्वों की सार्थकता एवं सुन्दरता रस के ही कारण सिद्ध होती है। जिस प्रकार रमणी के अंगों का समूह लावण्य नहीं वरन् लावण्य के कारण उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग सुन्दर लगते हैं तद्वत् अलंकार; रीति; गुण आदि काव्य के तत्त्वों में वास्तविक काव्य-सौन्दर्य नहीं बसता वरन् रस के कारण काव्य अथवा उसके तत्त्वों में सौन्दर्य बसता है। इसी रस तत्त्व के कारण काव्य के अन्य तत्त्व सुन्दर लगते हैं। जहाँ काव्य में रस का अधिष्ठान हुआ कि काव्य के अन्य तत्त्व या सिद्धान्त उसमें (काव्य में) स्वयमेव समाहित हो जाते हैं। इस युग को भारतीय समीक्षा का चरम विकास काल मानने के और भी कई कारण हैं जिनमें से कुछ प्रसिद्ध नीचे दिए जाते हैं:—श्रेष्ठ तथा निकृष्ट काव्य की परख के जो लक्षण इस काल में निरूपित किये गये वे सार्वकालिक तथा सार्वभौम कोटि के हैं। काव्य का सहज सौन्दर्य अनुभूति तत्त्व पर निर्भर है—इस तथ्य का अन्वेषण एवं विवेचन यथोचित रूप में इसी काल में हुआ। रस के मूल स्रोत—कवि; सामाजिक तथा काव्यगत पात्र इन तीनों का अनुसंधान

काव्य के आत्मतत्त्व एवं शरीर तत्त्व ठीक ठीक रूप में पहचान लिये गये। साहित्य की प्राचीन तथा नवीन विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित हो गया। आनन्द के विवेचन का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनके प्रतिपक्षी भी उनके सिद्धान्तों के समक्ष नतमस्तक हो गये; अर्थात् उन्हें किसी न किसी रूप में उनके सिद्धान्तों को अपना कर ही चलना पड़ा। महिमभट्ट ने आनन्द की रस-प्रक्रिया का खण्डन करते हुए भी रस को काव्य की आत्मा मान ही लिया। कुन्तक भी रस और ध्वनि की उपेक्षा नहीं कर सके। इस युग को भारतीय समीक्षा का चरम विकास काल मानने का चौथा प्रसिद्ध कारण यह है कि इस काल के प्रतिनिधि आचार्यद्वय का इतना व्यापक प्रभाव भविष्य के समीक्षकों पर पड़ा कि ये दोनों आचार्य संस्कृत साहित्य के सभी परवर्ती आचार्यों के लिए उपजीव्य बने रहे। आनन्द ने अपने सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों को आत्मसात करके काव्य का जैसा सूक्ष्म, प्रौढ़ एवं प्रामाणिक विवेचन उपस्थित किया है वैसा विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण आनन्द द्वारा निरूपित काव्यपुरुष का रूपक है जिसमें काव्य का कोई भी प्रधान तत्त्व उपेक्षित नहीं हुआ है। ध्वनि रूपी आत्मा से प्रकाशित; रस रूपी प्राण से अनुप्राणित, रीति रूपी अङ्गसंगठना से सुसंगठित; शब्दार्थरूपी पुष्ट शरीर से विभासित; गुण रूप शौर्यादिगुणों से विभूषित, छन्द रूपी सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, औचित्य रूपी अङ्गों के समानुपातिक सम्बन्धों से सुव्यवस्थित, अलंकार रूपी आभूषणों से समलंकृत काव्य पुरुष की कल्पना बहुत ही सजीव तथा प्रौढ़ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य पुरुष की उपर्युक्त धारणा भारतीय समीक्षकों के साहित्य-चिन्तन की परिपक्वावस्था की द्योतक है क्योंकि इसमें किसी भी दृष्टि से काव्य-पुरुष विकलांग नहीं है। अलंकार, रीति, गुण आदि में काव्य के अहम् के दर्शन का प्रयत्न भ्रान्तिमूलक था। निरन्तर चिन्तन के फल स्वरूप इस युग के आचार्यों ने काव्य के आत्मतत्त्व को वास्तविक रूप में पहचाना तथा काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ उसका उचित सम्बन्ध स्थापित किया। साहित्य-चिन्तन

की उपर्युक्त परिपक्वावस्था को प्रगट करने के कारण भी यह युग भारतीय समीक्षा का चरम विकास काल समझा जाता है।

भारतीयों का रस-सिद्धान्त विश्व के साहित्य-दर्शन को एक अनुपम देन है—इसकी ठीक व्यवस्था एवं विकास इस काल में हुआ। इसलिए भी यह काल भारतीय समीक्षा का स्वर्ण युग माना गया। ध्वनि या रस, काव्य का वह केन्द्र विन्दु है जिसके चारों ओर काव्य के अन्य तत्त्व घूमते हैं। साहित्य में रस की महत्ता के विवेचन के अवसर पर यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि किस प्रकार रस सिद्धान्त के भीतर अलंकार, गुण; रीति, औचित्य तथा ध्वनि; कल्पना, चिन्तन, तथा अनुभूति; सत्य, आदर्श एवं संगति; वास्तविकता, चिन्मयता, रमणीयता एवं विश्वात्मकता; नीति, न्याय; भव्यता तथा उदात्तता नामक सिद्धान्त अपने आप आ जाते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में काव्य-सौन्दर्य की उपमा रमणी के लावण्य से देकर इस बात को बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से सिद्ध किया है कि काव्य में अन्य तत्त्वों की सार्थकता एवं सुन्दरता रस के ही कारण सिद्ध होती हैं। जिस प्रकार रमणी के अंगों का समूह लावण्य नहीं वरन् लावण्य के कारण उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग सुन्दर लगते हैं तद्वत् अलंकार; रीति; गुण आदि काव्य के तत्त्वों में वास्तविक काव्य-सौन्दर्य नहीं बसता वरन् रस के कारण काव्य अथवा उसके तत्त्वों में सौन्दर्य बसता है। इसी रस तत्त्व के कारण काव्य के अन्य तत्त्व सुन्दर लगते हैं। जहाँ काव्य में रस का अधिष्ठान हुआ कि काव्य के अन्य तत्त्व या सिद्धान्त उसमें (काव्य में) स्वयमेव समाहित हो जाते हैं। इस युग को भारतीय समीक्षा का चरम विकास काल मानने के और भी कई कारण हैं जिनमें से कुछ प्रसिद्ध नीचे दिए जाते हैं:—श्रेष्ठ तथा निकृष्ट काव्य की परख के जो लक्षण इस काल में निरूपित किये गये वे सार्वकालिक तथा सार्वभौम कोटि के हैं। काव्य का सहज सौन्दर्य अनुभूति तत्त्व पर निर्भर है—इस तथ्य का अन्वेषण एवं विवेचन यथोचित रूप में इसी काल में हुआ। रस के मूल स्रोत—कवि; सामाजिक तथा काव्यगत पात्र इन तीनों का अनुसंधान

तथा विवेचन स्पष्ट रूप में इसी युग के आचार्यों द्वारा हुआ। इसके पूर्व रस के किसी एक या दो स्रोत का ही अनुसन्धान हुआ था। काव्य के सर्वोच्च आदर्श—'विशुद्ध आनन्द की सृष्टि' का विवेचन जितनी स्पष्टता एवं तार्किकता के साथ इस युग में हुआ उतना इसके पूर्ववर्ती युगों में नहीं हुआ था। काव्य के साध्य[१], इष्ट[२] एवं आधारभित्ति[३] का ठीक ठीक पता भी जितनी स्पष्टता के साथ इस युग में लगा उतना पहले कभी नहीं लगा था। इस युग के साहित्यचिन्तन ने ही यह बतलाया कि भारतीय समीक्षा का वास्तविक दर्शन समग्ररूपेण जीवन के सच्चे सौन्दर्य, सच्चे समन्वय एवं सच्ची संगति को पहचानना है। इस अमूल्य समीक्षा दृष्टि के भेंट के कारण भी यदि इस युग को भारतीय समीक्षा का चरमविकास काल मानें तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

ऐतिहासिक विकास का यह अनिवार्य सिद्धान्त है कि सभी क्षेत्रों में ऐतिहासिक विकास का चक्र निर्माण से पूर्णता या परिपक्वता की ओर, पूर्णता से प्रतिक्रिया की ओर, पुनः प्रतिक्रिया से समन्वय की ओर; अन्ततोगत्वा प्रतिक्रिया से विश्लेषण की ओर घूमता रहता है। व्याख्या काल में कुछ काल के लिए स्थिरता आ जाती है, विकास अवरुद्ध हो जाता है, तदनन्तर फिर क्रान्ति होती है, और क्रान्ति द्वारा नवनिर्माण की स्थापना होती है। यही सिद्धान्त भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा के विकास के विषय में भी प्रयुक्त होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रौढ़ काल के पश्चात् प्रतिक्रिया युग का आगमन अनिवार्य था। अतः

---

१ भारतीय काव्य का साध्य अलंकार, रीति, गुण, वृत्ति, भावना तथा परिस्थिति का चित्रण नहीं वरन् रससृष्टि है।

२ काव्य का इष्ट विषय का ज्ञान कराना नहीं वरन् भावों का अभिव्यंजन है।

३ साहित्य की आधारभित्ति-पर-प्रतीति है। इसी आधार को अपना कर साहित्य मनुष्यता के उच्च गुणों—न्याय, सन्तुलन, एकता शान्ति एवं सौन्दर्य की स्थापना में समर्थ हो सकता है।

यह युग कुन्तक के वक्रोक्तिवाद एवं महिमभट्ट के अनुमितिवाद के रूप में प्रगट हुआ। जब आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा युक्तियुक्त ढंग से हो गई और तत्कालीन आलंकारिकों द्वारा वह अधिमान्य भी हो गया तब प्राचीन आलंकारवादी आचार्यों के अनुयायियों को गहरा धक्का लगा और वे सोचने लगे कि क्या अलंकार सम्प्रदाय में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो काव्य का मूलभूत आधार माना जा सके। इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वक्रोक्तिवाद का उदय हुआ और इसका समस्त श्रेय कुन्तक को है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को अलंकार सामान्य ही नहीं माना वरन् उसके भीतर ध्वनि, गुण, रीति, रस, औचित्य, भाषा-तत्त्व, वस्तु-विधान, पात्र-योजना, वर्णन-तत्त्व आदि काव्य के सभी तत्त्वों को बड़े ही विदग्धतापूर्ण ढंग से समेटने का प्रयत्न किया। इस प्रकार इन्होंने अभिव्यंजना को बहुत व्यापक रूप दिया। किन्तु वक्रोक्ति के इस अतिविस्तार तथा उसके भीतर काव्य के सभी तत्त्वों को समेटने के प्रयत्न में प्रकारान्तर से काव्य के एक बहिरंग तत्त्व को सर्वातिशायी सिद्ध करने की चेष्टा दिखाई पड़ती है। कुन्तक निरूपित काव्य-विवेचन में चार मुख्य तत्त्व पाये जाते हैं।

(१) प्रतिभा तत्त्व।
(२) काव्य-व्यापार तत्त्व।
(३) वक्रता का तत्त्व।
(४) सहृदय आह्लाद का तत्त्व।

कुन्तक निरूपित उपर्युक्त काव्य तत्त्वों में कोई नवीनता या मौलिकता नहीं थी। वे पूर्ववर्ती आचार्यों से ही ग्रहण किये गये थे। और उनके द्वारा काव्य के बहिरंग पक्ष की महत्ता उसके अन्तरंग पक्ष (रस या ध्वनि) की अपेक्षा अधिक सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी। इसलिए कुन्तक को प्रतिक्रियावादी कहते हैं।

प्रतिक्रिया युग के दूसरे प्रतिनिधि आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनिमत के खण्डन के लिए अनुमितिवाद की स्थापना की। और उन्होंने लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ तथा तात्पर्यार्थ को अनुमेयार्थ के भीतर समाविष्ट करने

का प्रयत्न किया। किन्तु इन्हें भी रस को काव्यकी आत्मा के रूप में स्वीकार करना पड़ा; अर्थात् रस-सिद्धान्त को मानना पड़ा। रसप्रक्रिया को अनुमिति-प्रक्रिया सिद्ध करने के प्रयत्न में इन्हें अपनी सारी शक्ति लगा देनी पड़ी किन्तु वह भी परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य न हो सकी। औचित्य सम्प्रदायवादी, जिनका निरूपण अभिनवगुप्त ने यत्रतत्र करके उनके मत का खण्डन किया है वे भी एक प्रकार से प्रतिक्रियावादी ही थे क्योंकि उन्होंने ध्वनिमत का खण्डन करके उसके स्थान पर औचित्य-वाद की स्थापना का प्रयत्न किया है और औचित्य को निरपेक्ष रूप में काव्यात्मा सिद्ध करने का साहस किया है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अभिनवगुप्त के शिष्य आचार्य क्षेमेन्द्र उस प्रकार के औचित्यवादी नहीं थे जिन्होंने ध्वनि और रस मत के खण्डन के लिए औचित्य सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य एवं अभिनवगुप्त की समन्वय एवं औचित्य की सामग्री को अधिक व्यवस्थित, स्पष्ट एवं विस्तृत करने का प्रयत्न किया। क्षेमेन्द्र रस को काव्य की आत्मा एवं औचित्य को उसका प्राण मानते हैं। इस प्रकार वे रस या ध्वनिमत का कहीं विरोध करते हुए नहीं दिखाई पड़ते। औचित्य सिद्धान्त को इन्होंने इतना व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है कि उसमें काव्य के सभी तत्त्व समाहित हो जाते हैं पर रसमत या ध्वनिमत का विरोध करके नहीं वरन् उसे अपनाकर। काव्य के विभिन्न तत्त्वों का परस्पर उचित सम्बन्ध ही क्षेमेन्द्र के मत में औचित्य है। इस प्रकार अपनी गुरु-परम्परा; औचित्य परिभाषा तथा काव्यात्मा के प्रत्यभिज्ञान की दृष्टि से आचार्य क्षेमेन्द्र समन्वय युग के प्रतिनिधि सिद्ध होते हैं।

जैसा पहले बताया जा चुका है कि समन्वय का प्रयास बहुत पहले से ही आरंभ हो चुका था। आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यालोक में औचित्य के सभी अंगों पर विश्लेषण हो चुका था। इस समन्वय तत्त्व का विस्तृत विवेचन आचार्य क्षेमेन्द्र एवं मम्मट द्वारा हुआ। इन दोनों आचार्यों के पूर्व ही संस्कृत साहित्य-समीक्षा के सभी सम्प्रदाय निर्मित हो चुके थे; सभी विचारधाराएँ प्रौढ़ हो चुकी थीं। अतः इस काल में

काव्य सम्बन्धी विभिन्न विचारधाराओं, सम्प्रदायों एवं तत्त्वों का समन्वय हुआ। पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने अपने अपने सम्प्रदायों के भीतर रस, गुण, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य, दोष आदि काव्य के सभी तत्त्वों के ऊपर विचार करने का प्रयत्न किया है। वास्तविक मतभेद तो किसी एक तत्त्व को अन्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान करने में था और इसी से विवेचन में अतिरेकता आ जाती थी; काव्य के विभिन्न तत्त्वों में पारस्परिक संगतिपूर्ण सामंजस्य का अभाव हो जाता था। आचार्य क्षेमेन्द्र एवं मम्मट ने काव्य के इन विभिन्न तत्त्वों में तर्कसम्मत एवं विवेकपूर्ण सामंजस्य रखने का प्रयत्न किया। आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश में काव्य के विभिन्न तत्त्वों, पक्षों एवं सिद्धान्तों का जैसा व्यवस्थापूर्ण समन्वय मिलता है वैसा और किसी दूसरे आचार्य की कृति में दुर्लभ है, इसीलिए वे समन्वय काल के सर्वप्रमुख आचार्य माने जाते हैं। भोज[१] की काव्य-परिभाषा; दोष, गुण, अलंकार तथा भाषा के प्रसंग में की गई औचित्य-चर्चा तथा उनके द्वारा विवेचित काव्य-सर्वस्व का तत्त्व भी उन्हें समन्वयवादी ही सिद्ध करता है। अतः वे भी समन्वयकाल के ही आचार्य माने जायँगे। भारतीय समीक्षा के ऐतिहासिक विकास को देखने से यह विदित होता है कि काव्यात्मा के अन्वेषण के साथ साथ भारतीय आचार्यों की समीक्षा सम्बन्धी धारणा क्रमशः विकसित होती गई हैं। संस्कृत साहित्य के आचार्य काव्य के बाह्य एवं आभ्यन्तर पक्ष के सामंजस्य की ओर क्रमशः आगे बढ़ते गये हैं। काव्य के वास्तविक स्वरूप को जानने की जिज्ञासा तथा तज्जनित साहित्य-चिन्तन एवं दर्शन की विभिन्न अवस्थाओं में भारतीय साहित्याचार्यों ने अलंकार, रीति, गुण, दोष, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति, अनुमिति तथा औचित्य सम्प्रदायों की स्थापना की। इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदाय साहित्य-दर्शन की विभिन्न अवस्थाओं के प्रतीक हैं। जिस प्रकार चिन्तन के क्षणों में एक दार्शनिक चिन्तक की

---

१ कालक्रम की दृष्टि से भोज समन्वयकाल के प्रथम आचार्य सिद्ध होते हैं।

दृष्टि किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व कभी बहिरङ्ग पक्ष पर जाती है तो कभी अन्तरङ्ग पर। वह कभी बहिरंग तत्त्वों को प्रधान मानता है तो कभी अन्तरंग को। यही हालत भारतीय साहित्य समीक्षकों की भी थी। भारतीय साहित्य चिन्तन का काव्य के अन्तरंग पक्ष की ओर क्रमशः विकसित होना भारतीय काव्य शास्त्र के विकास का प्रमाण है। भारतीय काव्य-दर्शन के अनेक सम्प्रदाय अलंकार, रीति, गुण, दोष, वक्रोक्ति, अनुमिति तथा औचित्य काव्य के विभिन्न पक्षों को लेकर ही चले परन्तु उनमें सबसे बड़ी त्रुटि यह हुई कि काव्य का एक पक्ष या तत्त्व उसके सम्पूर्ण सिद्धान्त के रूप में विकसित हो गया और काव्य की समस्त व्याप्ति को घेरते हुए उसकी आत्मा भी बन बैठा। किन्तु इससे एक लाभ भी हुआ; वह यह कि किसी एक तत्त्व का इतना सूक्ष्म एवं विस्तृत विश्लेषण किसी एक सम्प्रदाय के भीतर हुआ कि वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रौढ़ काल में सबसे अच्छी बात यह हुई कि काव्य के एक ही उसके तत्त्व-रस के भीतर व्यापक विभिन्न तत्त्वों की सामंजस्यपूर्ण स्थापना हुई। इस प्रकार भारतीय समीक्षा-दर्शन रस-दर्शन के रूप में सर्वमान्य हुआ। रस-परिपाक ही काव्य की उत्तमता का मानदण्ड घोषित किया गया।

संस्कृत साहित्य समीक्षा का अन्तिम युग व्याख्या युग कहा जाता है। इसका प्रारम्भ राजानक रुय्यक के समय से मानना उचित जान पड़ता है। क्योंकि राजानक रुय्यक के पश्चात् साहित्य के शास्त्रीय ग्रन्थों की टीकाओं का क्रम कभी नहीं टूटा। वह अब तक चला जा रहा है। राजानक रुय्यक के पूर्व भी ध्वन्यालोक, नाट्यशास्त्र, काव्यालंकार आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों की टीकायें लिखी गईं किन्तु एक तो ऐसी टीकाओं की संख्या बहुत अल्प है, दूसरे रुय्यक के पूर्व उनकी गति भी अबाध रूप से नहीं चली। इसीलिए व्याख्या काल को राजानक रुय्यक के समय अर्थात् बारहवीं सदी से मानना समुचित है। इस काल में किसी मौलिक सिद्धान्त या सम्प्रदाय की स्थापना नहीं हुई। पूर्व विवेचित काव्य-सिद्धान्तों की ही व्याख्या भिन्न २ आचार्यों द्वारा होती रही।

इस युग में टीकाकारों की भीड़ दिखाई पड़ती है। इस व्याख्या काल में व्यक्तिविवेक, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, नाट्यशास्त्र, चन्द्रालोक, रसतरंगिणी, रसमंजरी, नाटक चन्द्रिका, अलंकारकौस्तुभ आदि ग्रन्थों की टीकायें निकलीं। इस युग के प्रतिनिधि आचार्य साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ माने जाते हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' नामक काव्य-परिभाषा से विश्वनाथ रसवादी सिद्ध होते हैं। तथा पण्डितराज जगन्नाथ की काव्य परिभाषा "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" भी उन्हें रस सिद्धान्त का अनुयायी घोषित करती है।

भारतीय समीक्षा के उपर्युक्त ऐतिहासिक विकास को दिखाने का मेरा अभिप्राय इस बात को सिद्ध करने के लिए था कि भारतीय समीक्षा-दर्शन का विकास क्रमशः गतिमान पृष्ठभूमि पर हुआ है। भारतीय समीक्षा में क्रमशः मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण विचार समाविष्ट होते गये हैं। अतिवादी दृष्टिकोण क्रमशः सन्तुलित होते गये हैं। भारतीय समीक्षक रूढ़िवादी नहीं रहे हैं। वे प्रायः अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों के विचारों एवं सिद्धान्तों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके अपने संस्कार, शिक्षा, युग आदि से उत्पन्न प्रभावों के आधार पर किसी सिद्धान्त को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे हैं। जैसे भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धान्त को शंकुक, भट्ट लोल्लट, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त ने क्रमशः विकसित करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों के विषय में समझिए। किसी सिद्धान्त विशेष को विकसित करने का अर्थ उसका अन्धानुकरण नहीं है; क्योंकि एक ही सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों के विचारों में भी कुछ न कुछ अन्तर बराबर रहा है। जैसे, अलंकार वादी आचार्यों में भामह और उद्भट को लीजिए। भामह रस को अलंकार का एक भेद मानकर उसे स्वतन्त्र स्थान काव्य में नहीं देते, किन्तु उद्भट काव्य में अलंकार की महत्ता स्वीकार करते हुए भी रस या भाव को स्वतन्त्र स्थान देते हैं। विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों के दृष्टिकोणों में तो बहुत अन्तर रहा है। इतना अन्तर होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक सम्प्रदाय

या आचार्य एक दूसरे से नितान्त भिन्न था, एक दूसरे के प्रभाव से नितान्तरूपेण मुक्त था। कोई भी सम्प्रदाय या आचार्य अपने प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदाय के सभी तत्त्वों या सिद्धान्तों का न तो पूर्णरूपेण खण्डन करता है और न एकान्तरूपेण मण्डन ही। परवर्ती आचार्य पूर्ववर्ती आचार्यों के समीचीन सिद्धान्तों एवं तत्त्वों को बराबर ग्रहण करते हुए दिखाई पड़ते हैं; यह दूसरी बात है कि काव्य में उनके स्थान-निरूपण में मतैक्य न रखते हों। भरत मुनि के प्रतिपादित काव्य तत्त्व-रस, गुण, अलंकार आदि को उनके परवर्ती प्रायः सभी आचार्य ग्रहण करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार भारतीय समीक्षा के विभिन्न सम्प्रदाय परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। सभी सम्प्रदाय मिलकर समग्र रूप में काव्य के चतुरस्र सौन्दर्य-दर्शन की दृष्टि प्रदान करते हैं[1]। भारतीय समीक्षा-दर्शन के सभी तत्त्वों से परिचित व्यक्ति भारतीय सौन्दर्य-दर्शन के ऊपर लगाये गये आरोपों को सहन नहीं कर सकता कि संस्कृत समीक्षक बहुत ही रूढ़िवादी दृष्टिकोण के थे, प्राचीन भारत में किसी प्रकार का सौन्दर्य-दर्शन नहीं था, प्राचीन भारतीय समीक्षक काव्य के बाहर ही बाहर चक्कर लगाते रहे; उनकी समीक्षा दृष्टि अधिकांश मात्रा में बहिरंगवादी थी। इन आरोपों का कारण भारतवर्ष की पराधीनता थी अथवा कुछ मात्रा में आरोप लगानेवालों की अनभिज्ञता भी थी। पराधीन देश की प्रत्येक बात को विदेशी शासक हेय दृष्टि से देखता है। पराधीन देश के निवासी भी पराधीनता के काल में हीनता की ग्रन्थि से भरे रहने के कारण अपने विचारों की श्रेष्ठता का ठीक मूल्याङ्कन करने में असमर्थ हो जाते हैं। इस बात के कहने में रंचमात्र भी अत्युक्ति नहीं कि भारतीय

---

१ अलंकार, रीति, गुण, दोष तथा अनुमिति सम्प्रदायों के दर्शन को पृथक पृथक निरपेक्ष रूप में काव्य-दर्शन मान लेने पर भारतीय समीक्षा दृष्टि एकांगी कही जा सकती है किन्तु सभी सम्प्रदायों को—विशेषतः रसदर्शन को विशद रूप में अपनाने पर भारतीय समीक्षा दर्शन एकांगी नहीं कहा जा सकता।

सौन्दर्य-दर्शन विश्व के सौन्दर्य-दर्शन को कई प्रकार की दृष्टि प्रदान कर सकता है। भारतीय समीक्षा की व्याप्ति समग्ररूपेण इतनी विस्तृत है कि उसके भीतर समग्र जीवन तथा मानव जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषय अनुबन्ध रूप में आ जाते हैं; इसीलिए राजशेखर ने साहित्य समीक्षा को सभी विद्याओं का सार माना[1]। भारतीय समीक्षा की धारणा समग्र रूपेण इतनी विस्तृत है कि उसके द्वारा किसी भी देश के साहित्य के किसी रूप अथवा कृति की परीक्षा हो सकती है। भारतीय समीक्षा के विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा काव्य के विभिन्न तत्त्वों—अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, दोष, ध्वनि, रस, औचित्य आदि का जितना सूक्ष्म तथा विस्तृत विश्लेषण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय चिन्तकों ने इन तत्त्वों के विवेचन में जिस असाधारण सूक्ष्मता, मौलिकता, विशदता, स्पष्टता एवं विश्लेषण-शक्ति का परिचय दिया है वह संसार के किसी भी साहित्य में प्राप्त नहीं है। अलंकार, रीति, गुण, दोष, ध्वनि, औचित्य में से किसी भी तत्त्व को लीजिए; यहाँ जैसा उसका सूक्ष्म वर्गीकरण तथा भेदोपभेद अनेक दृष्टियों से किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत के आचार्यों ने काव्यकला के विभिन्न तत्त्वों को ही कई दृष्टि से नहीं देखा वरन् विवेच्य विषय को भी कई दृष्टियों से देखा और उसका निरूपण किया। अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस, औचित्य—आदि सभी सम्प्रदायों में वर्ण्य विषय का किसी न किसी रूप में निरूपण मिलता है। अलंकारवाद में वस्तु के असाधारणत्व के ऊपर विशेष बल है। रीति सम्प्रदाय में विषयौचित्य रीति के नियामक तत्त्वों में एक प्रधान तत्त्व माना गया है। भामह के रीति-लक्षणों में—पुष्टार्थता, अर्थ्य तथा न्याय्य का सम्बन्ध विषय से प्रत्यक्ष रूप में है। दण्डी तथा वामन द्वारा निरूपित कई गुणों[2] में

---

१ साहित्यविद्याचतसृणामपि निस्यन्दः। (काव्यमीमांसा)

२—प्रसाद, माधुर्य, औदार्य, कान्ति तथा समाधि गुणों में विषय-तत्त्व स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

विषय-तत्त्व प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ता है। गुण सम्प्रदाय में अनेक गुणों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भावों से होने के कारण वर्ण्य विषय से उनका सम्बन्ध प्रकारान्तर से हो ही जाता है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय में प्रकरण वक्रता, प्रबन्ध वक्रता तथा वस्तु वक्रता का सम्बन्ध स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष रूप से विषय से दिखाई पड़ता है। ध्वनिवाद में ध्वनि का सम्बन्ध रस से अनिवार्य रूप में होने के कारण वर्ण्य विषय से भी हो जाता है—रस का तो अंग प्रत्यङ्ग, मुख्य रूप से विषय का ही निरूपण करता है। औचित्य के अनेक भेदों[1] में विषय-निरूपण का विचार है।

भारतीय काव्य शास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से ही पाठक या सहृदय की काव्य सम्बन्धी अनुभूति तथा आस्वादन का इतना सूक्ष्म और विशद विवेचन करता रहा है कि उसे देखकर चकित हो जाना पड़ता है। पश्चिमी काव्य शास्त्र में कवि के मानस-निर्माण में सहायक तत्त्वों एवं उसकी अनुभूति का बहुत ही विस्तृत तथा सूक्ष्म विवेचन मिलता है पर सहृदय की काव्यानुभूति एवं आस्वादन का सूक्ष्म विवेचन भारतीय समीक्षकों के समान नहीं मिलता।

भारतीय दृष्टि ने काव्य को कला से सदा पृथक रखा, इसीलिए यहाँ काव्य कभी केवल मनोरंजन का साधन नहीं माना गया। पश्चिम की तरह भारतीय काव्य बेकार समय काटने का साधन नहीं कहा गया; सांसारिक क्लेशों से शापित मानव की दुख-विस्मृति का केवल अवलम्बन नहीं समझा गया; अत्याचारों एवं शोषणों से पीड़ित मानव की विश्रान्ति का केवल स्थल नहीं कहा गया, वह नाना प्रकार की ग्रन्थियों एवं जटिलताओं से भरे अचेतन मन का केवल उद्गार नहीं माना गया, वह क्रूरता, भीषणता एवं ग्लानि भरे मानव का केवल चीत्कार नहीं घोषित किया गया। भारतीय काव्य, ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप चेतना

---

१ प्रबन्धौचित्य, गुणौचित्य, अलंकारौचित्य, रसौचित्य, नामौचित्य, वृत्तौचित्य, घटनौचित्य, स्वभावौचित्य, कालौचित्य, देशौचित्य इत्यादि।

की अखण्ड एवं वेद्यान्तरस्पर्शशून्य अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति कहा गया। यहाँ काव्योद्देश्य के नाम पर अनेक विवाद[1] पश्चिम के समान नहीं खड़े हुए क्योंकि भारतीय रसवाद में पश्चिम के काव्योद्देश्य सम्बन्धी प्रायः सभी वाद लय हो जाते हैं।

काव्य सामान्य अथवा उसके तत्त्वों के भेदों तथा उपभेदों की संख्या में वृद्धि करना भारतीय आचार्यों की एक ऐसी विशेषता है जो दूसरे देश के समीक्षकों में बहुत कम मात्रा में मिलती है। उदाहरण के लिए, काव्य सामान्य को लीजिए। संस्कृत साहित्य शास्त्र में काव्य-वर्गीकरण का विवेचन बहुत ही विशद कोटि का है। इन्द्रिय प्रयोग, शैली, अर्थ, बन्ध, छन्द, भाषा, ध्वनि, रस, रीति आदि अनेक आधारों पर काव्य के भेदोपभेदों का निरूपण किया गया है।

इन्द्रियों के आधार पर काव्य के श्रव्य तथा दृश्य दो प्रधान भेद माने गये हैं। शैली के आधार पर श्रव्य के तीन भेद निरूपित किए गये हैं—गद्य, पद्य, तथा चम्पू अथवा मिश्रित। काव्य के अनेक भेदोपभेदों के लिए नीचे का वर्गीकरण-चित्र देखिए।

१ कला कला के लिए, कला जीवन के लिए, कला आनन्द के लि कला जीवन से परे जाने के लिए, कला सौन्दर्य के लिए आदि।

संस्कृत के समीक्षकों ने काव्य के हेतु तथा प्रयोजनों पर विस्तृत विचार किया है। जहाँ तक काव्य-हेतु का सम्बन्ध है कुछ आचार्य प्रतिभा को ही सबसे अधिक महत्त्व देते हैं, जैसे, भामह, वामन, रुद्रट तथा पंडितराज; तथा कुछ आचार्य प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को समान महत्त्व देते हैं; जैसे—दण्डी, वाग्भट्ट एवं मम्मट। मम्मट का ही मत प्रायः संस्कृत साहित्य में सर्वमान्य है[१]। संस्कृत-समीक्षा में राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र ने कवि-व्यक्तित्व के निर्माणकारी तत्त्वों, साधनों, आवश्यकताओं, कवि के भेदों, उपभेदों, कविदिनचर्या आदि का जितना विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन किया है उतना विस्तृत तथा सूक्ष्म वर्णन कदाचित ही किसी साहित्य-समीक्षा में मिले।

भारतीय समीक्षा में काव्य के प्रयोजनों पर विचार, कवि तथा पाठक दोनों दृष्टियों से हुआ है। भामह निरूपित काव्य-प्रयोजन-चतुर्वर्गफल-प्राप्ति अथवा मम्मट द्वारा निरूपित काव्य-प्रयोजन—यशप्राप्ति, अर्थप्राप्ति, व्यवहार-विदता, शिवेतररक्षा, सद्यःपरनिर्वृत्ति, कान्तासम्मित उपदेश के भीतर काव्य के प्रायः सभी प्रयोजन आ जाते हैं। काव्य के प्रयोजनों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय समीक्षा पूरे जीवन पर दृष्टि रखकर चलती है।

यहाँ के आचार्यों ने कवि या साहित्यकार को मनीषी, ब्रह्मा[१], मंत्रद्रष्टा[२], तथा क्रान्तदर्शी[३] के रूप में अभिहित किया है। साहित्यकार को इतना उच्च गौरव या सम्मान कदाचित् ही किसी देश की समीक्षा ने दिया हो। कवि की तुलना मनीषी, ब्रह्मा, भविष्यद्रष्टा तथा ऋषि से कर के संस्कृत साहित्य के समीक्षकों ने कवि का ही नहीं वरन् काव्य का भी सम्मान बहुत अधिक बढ़ा दिया है।

१— शक्तिर्निपुणता लोकः काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास: इति हेतुः तदुद्भवे। मम्मट।

२—कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूः। (शुक्ल यजुर्वेद)

३ —कवयः मंत्रद्रष्टारः।

४- कवयः क्रान्तदर्शिनः।

आरंभ से ही भारतीय सौन्दर्य शास्त्र आध्यात्मिक भित्ति पर प्रतिष्ठित किया गया है, इसीलिए यहाँ विशुद्ध आनन्द काव्य की वास्तविकता का परम तत्त्व माना गया। शब्द शक्ति एवं रस सम्बन्धी अनेक मतों का सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से होने के कारण अनेक आचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के द्वारा काव्य-सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार भारतीय समीक्षा के दो प्रमुख सिद्धान्तों—ध्वनि और रस का सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से है। दार्शनिक सिद्धान्तों के पूर्वग्रहों से ग्रहीत आचार्यों द्वारा की गई समीक्षा-सिद्धान्तों की विवेचना अनेक स्थलों पर आध्यात्मिक आवरण से आवृत होकर गूढ़ हो गई है। काव्य-विवेचन में आध्यात्मिकता का सहारा लेने से एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि भारतीय आचार्य काव्यके परम तत्त्व-रसको आरंभ में ही पकड़ने में समर्थ हो गये, और फिर भविष्य के किसी आचार्य ने रस-तत्त्व को छोड़ा नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत समीक्षा के अनेक सम्प्रदायों में अतिवादी दृष्टिकोणों तथा असन्तुलित विचारों के रहते हुए भी काव्य की प्रकृति उनके विवेचन में कभी नष्ट नहीं होने पाई। दूसरा लाभ यह हुआ कि उनके विवेचित काव्य-प्रयोजनों में उच्चकोटि की गंभीरता एवं धार्मिकता प्रतिष्ठित हो गई। भारतीय समीक्षा में नियमों एवं सिद्धान्तों की भरमार है पर वे नियम कवि के पथ-प्रदर्शन के लिए ही बनाये गये हैं, उसकी प्रतिभा को सीमित या नियमाधीन बनाने के लिए नहीं।

भारतीय समीक्षा की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह व्यक्ति प्रधान न होकर विषय प्रधान है। इसीलिए यहाँ समीक्षा की कसौटी लोकरुचि मानी गई है। भारतीय रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत लोक-रुचि का समावेश दिखाई पड़ता है। संस्कृत समीक्षा में विषय प्रधानता की प्रवृत्ति होने के कारण ही परवर्ती आचार्य प्रायः अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की कमी अथवा भ्रान्ति या अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न करते हुए उस सिद्धान्त के औचित्यपूर्ण स्वरूप को

रखने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसी कारण संस्कृत समीक्षकों में व्यक्तिगत विज्ञापन की प्रवृत्ति बहुत ही कम मात्रा में दिखाई पड़ती है।

भारतीय समीक्षा की बहुत बड़ी विशेषता जीवन तथा साहित्य दोनों को पूर्णता प्रदान करने के प्रयत्न में है। इसीलिए यहाँ रसपद्धति की समीक्षा अन्ततोगत्वा अधिमान्य हुई; जिसमें जीवन तथा साहित्य दोनों को पूर्णता की दृष्टि से देखने का प्रयत्न रहता है। इसी कारण यहाँ की सर्वमान्य समीक्षा पद्धति में वस्तुतथ्य एवं कलातथ्य, आदर्श एवं यथार्थ, लौकिकता एवं आध्यात्मिकता दोनों को प्रस्थान मिला।

भारतीय समीक्षा 'जगत में क्या हो रहा है'—इस पर अधिक बल न देकर 'क्या होना चाहिए' इस पर अधिक बल देती है, इसी कारण संस्कृत साहित्य का समीक्षा-दर्शन यथार्थवादी न होकर आदर्शवादी अधिक हो गया है। भारतीय समीक्षा की यह विशेषता भारतीय दर्शन तथा भारतीय संस्कृति के प्रभाव से उत्पन्न हुई। पाश्चात्य समीक्षा काव्यकार की दृष्टि से अधिक की गई है किन्तु भारतीय समीक्षा रसिक की दृष्टि से अधिक; इसीलिए भारतीय समीक्षा में कृति विशेष की प्रशंसा प्रायः उसके भीतर व्याप्त सौन्दर्य, आनन्द, प्रभाव आदि के आधार पर की जाती है किन्तु पाश्चात्य समीक्षा अधिकांश मात्रा में कर्ता की व्यक्तिगत एवं परिस्थितिगत कठिनाइयों को ध्यान में रखकर की जाती है।

पाश्चात्य समीक्षा में साहित्य के अन्तर्गत ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा राजनीतिक तत्त्वों को स्वतन्त्र स्थान देकर वहाँ ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक समीक्षा-पद्धतियाँ स्वतन्त्र रूप में प्रचलित की गईं किन्तु भारतीय समीक्षा में प्रत्येक परिस्थिति के भीतर परिव्याप्त तत्त्व, सिद्धान्त तथा आदर्श को महत्त्व दिया गया; अतः उक्त प्रकार की समीक्षा पद्धतियाँ यहाँ के साहित्य में स्वतन्त्र रूप से प्रचलित नहीं हो सकीं। रसवादी समीक्षा अकेले ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय समीक्षा के मूल्यों की आधारभित्ति युग विशेष, देश विशेष, अथवा परिस्थिति विशेष के मूल्यों की स्वीकृति नहीं, समीक्षक के तात्कालिक प्रशंसात्मक

अथवा निन्दात्मक प्रभाव की अभिव्यक्ति नहीं, उसकी वैयक्तिक रुचि का कोरा प्रदर्शन नहीं, उसके केवल चेतन अथवा अचेतन मन का दिग्दर्शन नहीं वरन् उसका सम्पूर्ण जीवन है।

भारतीय समीक्षा की प्रवृत्ति सर्जनात्मक है, क्योंकि सहृदय काव्य पढ़ अथवा सुन कर जिन भावों अथवा विचारों को अपने हृदयसंवादी रूप में पाता है उन्हीं को आलोचना में अंकित करता है। इस प्रकार भारतीय समीक्षा में कोरा बुद्धि विलास नहीं वरन् अनुभूति की सचाई वर्तमान है। रसवादी समीक्षा के विवेचन के समय यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार भारतीय समीक्षा का सत्य विश्वात्मक रूप रखता है। भारतीय समीक्षा के रसवादी स्वरूप को व्यावहारिक समीक्षा में अपनाने से काव्य के नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, दार्शनिक तथा बहुत दूर तक मनोवैज्ञानिक पक्ष पर भी प्रकाश पड़ सकता है। रसवादी समीक्षा को अपनाकर व्यावहारिक समीक्षक काव्य की जितनी विशेषताओं, तत्त्वों, पक्षों एवं रूपों का विश्लेषण कर सकता है उतना विस्तृत विश्लेषण किसी अन्य समीक्षा पद्धति को अपना कर नहीं कर सकता। समुच्चय रूप से भारतीय समीक्षा में काव्य के जितने तत्त्वों अवयवों, आदर्शों, रूपों, प्रयोजनों, सिद्धान्तों, आधारों एवं पक्षों का प्रादुर्भाव हुआ उतना किसी अन्य देश की समीक्षा पद्धति में नहीं हुआ। यह समीक्षा अपने समुच्चय रूप में काव्य एवं जीवन दोनों को सर्वाङ्गीण रूप में देखने का प्रयत्न करती है, कवि एवं सहृदय दोनों के पथ-प्रदर्शन में समर्थ होती है। भारतीय समीक्षा के समुच्चय रूप द्वारा साहित्य क्या है और उसे आदर्श रूप में क्या होना चाहिए—दोनों पर प्रकाश डाला जा सकता है। भारतीय समीक्षा का रसवाद यह प्रमाणित करने में समर्थ है कि संस्कृत समीक्षा में प्रगतिशीलता का तत्त्व वर्तमान है। उसे वैज्ञानिक ढंग से अपना कर युग की नयी विचारधाराओं, नयी परिस्थितियों, नये विभावों, नयी अनुभूतियों एवं नये संचारी भावों पर भी प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय समीक्षा को अपना कर साहित्य एवं जीवन दोनों के गम्भीर से गम्भीरतर एवं गम्भीरतम प्रश्नों एवं

समस्याओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। साहित्य का प्राणतत्त्व क्या है ? उसके शरीर तत्त्व कौन कौन से हैं। साहित्य के प्राण तत्व एवं शरीर तत्त्व में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए—आदि बातों पर विस्तृत विचार भारतीय समीक्षा में मिलता है।

पश्चिमी दृष्टि से साहित्य के समीक्षा दर्शन के अन्तर्गत, काव्य की परिभाषा तथा उसका स्वरूप, काव्य की मूल प्रेरणा, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु तथा उसकी अनुभूति; काव्य के विभिन्न बहिरंग एवं अन्तरंग तत्त्व, उनका पारस्परिक सम्बन्ध, काव्य के विभिन्न गुण तथा दोष, विभिन्न दृष्टि से काव्य के विभिन्न रूप, काव्य-विवेचन सम्बन्धी विभिन्न वाद; रस की प्रकृति, स्थिति तथा स्वरूप; उसके विभिन्न आधार तथा मूल्य, काव्य-स्रष्टा की मनःस्थिति एवं काव्य-सर्जना-प्रक्रिया; भोक्ता की मनःस्थिति एवं भोग-प्रक्रिया आदि प्रश्न आते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त सभी प्रश्नों का एक व्यवस्थित तथा स्वस्थ उत्तर भारतीय समीक्षा में मिल जाता है। इसलिए भारतीय समीक्षा पद्धति के अधिमान्य स्वरूप में यदि एक स्वस्थ समीक्षा पद्धति का दर्शन किसी को दिखाई पड़े तो कोई अनुचित बात नहीं है। भारतीय समीक्षा के भावी विकास का मूलाधार रसवादी समीक्षा में प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन भारत का यह अमूल्य साहित्य-चिन्तन वर्तमान तथा भावी हिन्दी साहित्य की ही समीक्षा का नहीं वरन् सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों की समीक्षा का पथ-प्रदर्शन कर सकता है। विदेशी समीक्षा के जो भी तत्त्व इसके अनुकूल बनाकर ग्रहण किये जायँगे वे ही हमारी समीक्षा के अंग बन सकेंगे और उसके विकास में सहायक सिद्ध हो सकेंगे, शेष नहीं। कालक्रम की दृष्टि से भारतीय समीक्षा का यह काल क्रान्ति अथवा पुनरुत्थान का काल है। इस युग में काव्य के प्रत्येक पुराने सिद्धान्त, तत्त्व एवं वाद का मूल्य आज के जीवन एवं साहित्य की आवश्यकता की दृष्टि से परखा जा रहा है। मुझे आशा ही नहीं वरन् दृढ़ विश्वास है कि भारतीय समीक्षा के विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा निरूपित काव्य-तत्त्व—अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, रस तथा औचित्य अपने

वैज्ञानिक, स्वस्थ एवं सन्तुलित रूप में आज की हिन्दी समीक्षा में भी अपना लिए जायँगे और निश्चय ही ये तत्त्व हिन्दी समीक्षा के व्यक्तित्व के विशिष्ट अंश के नियामक होंगे तथा पश्चिमी समीक्षा के विभिन्न तत्त्व इन भारतीय समीक्षा-तत्त्वों की अनुकूलता के अनुसार ही हमारी समीक्षा में प्रविष्ट हो सकेंगे। यह रहा हमारी भावी हिन्दी समीक्षा के व्यक्तित्व का विशिष्ट अंश। किन्तु अपने सम्पूर्ण रूप में भावी हिन्दी समीक्षा का व्यक्तित्व कैसा होगा—इसके विषय में निश्चय पूर्वक मत देना अत्यन्त कठिन है।
